राजदर्शन के नव-रत्न

राजदर्शन के नव-रत्न

लेखक
श्रीमती सरला भार्गव एम० ए०
एवं
डा० राजेश्वर भगल
एम० ए०, पी० एच-डी०, डी० लिट्०

प्रकाशक
कैलाश पुस्तक सदन
ग्वालियर भोपाल

प्रकाशक
कैलाश प्रसाद अग्रवाल बी० कॉम०

संचालक
कैलाश पुस्तक सदन
पाटणकर बाजार ग्वालियर

प्रथम संस्करण १
मूल्य रु० ५)

प्रमुख विक्रय केन्द्र
१ गया प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
२ कैलाश पुस्तक सदन, हमीदिया रोड भोपाल
३ पापुलर बुक डिपो चौड़ा रास्ता जयपुर
४ ओरियन्टल पब्लिशर्स (प्रा०) लि० परेड, कानपुर
५. श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, गांधी रोड, अल्मोड़ा

मुद्रक
धर्म चन्द्र भार्गव बी० एस-सी०
अमृत इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा

विरक्त होते हुए भी जो स्नेह को मूर्तिमान करते हैं,

और

जिनका आशीर्वाद सर्वैव हमें प्राप्त रहा है

उन

बड़े कक्का जी

(श्री बंशीधर श्रीवास्तव)

को

सादर

प्राक्कथन

'राज्य दर्शन के नवरत्न' कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्य क्रम को ध्यान में रखकर लिखी गई है, पर इसकी उपयोगिता केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित न रहेगी ऐसा मेरा विश्वास है। प्लेटो और अरस्तू यूनानी दार्शनिक हैं कौटिल्य और महात्मा गांधी भारतीय मिल एवं ग्रीन इग्लैण्ड और मकियावली रूसो तथा मार्क्स क्रम से इटली फ्रांस और जर्मनी के दार्शनिक हैं। राजनीति की मूल समस्या कितनी सार्वभौमिक है यह इन लेखकों की विचारधाराओं को देखकर स्पष्ट हो जाता है। राज्य और व्यक्ति का लक्ष्य सर्वश्रेष्ठ जीवन है पर सर्वश्रेष्ठ जीवन क्या है, यह कैसे प्राप्त हो सकता है व्यक्ति और राज्य का संबंध क्या है इस पर विभिन्न दृष्टिकोण हमें इन दार्शनिकों में मिलते हैं। ये प्रश्न आज भी राजनीति की समस्या हैं इसलिये ये विभिन्न दृष्टिकोण यदि हमें कोई निश्चित उत्तर नहीं भी दे सकते तो भी ये प्रत्येक नागरिक के लिये नये विचारों के लिये सामग्री प्रदान करते हैं।

राजनीति और समस्त सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन का विषय मनुष्य और उसकी संस्थायें हैं। अपने विकास के लिये ही मनुष्य ने समाज और उसकी संस्थाओं का निर्माण किया है। चूंकि पूर्ण विकास या सर्वश्रेष्ठ जीवन नैतिकता से संबंधित है इसलिये राजनीति और नैतिकता का पारस्परिक संबंध राजनीति का मूल विषय है। नवरत्न हमें तीन स्पष्ट विचार देते हैं। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार चूंकि समस्त समुदायों का उद्देश्य उच्चतम जीवन है इसलिये राज्य में रहकर और राज्य द्वारा ही मनुष्य नैतिक जीवन प्राप्त कर सकता है। इसी कारण मनुष्य राजनैतिक प्राणी है। इसके विपरीत ग्रीन और महात्मा गांधी नैतिक व्यवस्था को राज्य से प्रथम मानते हैं क्योंकि नैतिक व्यवस्था का स्रोत मनुष्य का विवेक है। राज्य को अपना संगठन और कार्य इस नैतिक व्यवस्था या मनुष्य के विवेक के अनुसार करना चाहिये। इसलिये इनकी विचारधाराओं में राज्य नहीं व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। रूसो और मिल प्लेटो की विचारधारा को गांधी भी

के विचारों की ओर अग्रसर करते हैं क्योंकि इन दोनों दार्शनिकों में क्रम से राज्य और व्यक्ति नैतिकता के केन्द्र हैं। रूसो जहाँ राज्य को व्यक्ति की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के कारण नैतिक इकाई मानता है वहाँ उसके दर्शन में व्यक्ति की 'स्वतंत्र नैतिक इच्छा' भी केन्द्रीय विचार है। मिल व्यक्ति को ही नैतिकता का केन्द्र मानता है इसलिये वह उसे सर्वाधिक स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है। परन्तु मिल यह भूल जाता है कि मनुष्य की यह नैतिकता समाज के अन्य व्यक्तियों से संबंधित होने के कारण समाज में ही सम्भव है। वह व्यक्ति और समाज में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सका है। ग्रीन मिल की इस कमी को पूरा करता है और सामान्य हित की सामान्य चेतना' में ही व्यक्ति की नैतिकता देखता है। पर यदि राज्य इस सामान्य हित की सामान्य चेतना को व्यक्त नहीं करता तो इसका विरोध आवश्यक है। महात्मा गांधी इस विरोध को अपने दर्शन का विषय बनाते हैं।

मार्क्सवाद इन परम्परागत नैतिक विचारों से भिन्न है। वह समस्त नैतिक भावना समुदायों और संस्कृतियों को आर्थिक शक्तियों का परिणाम मानता है। ये आर्थिक शक्तियाँ विरोधी तत्वों को अपने अन्तर्गत रखने के कारण एक गत्यात्मक शक्ति उत्पन्न करती हैं जो पूरे समाज उसकी नैतिक भावना सहित में पूरे ऐतिहासिक परिवर्तनों की कर्ता होती है। पर यदि हम ध्यान से देखें तो यह शक्ति भी अन्त में हमें उस समाज की ओर ले जाती है जो पूर्ण नैतिक है—जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य करता है और अपनी आवश्यकतानुसार समाज के साधन प्राप्त करता है। इस तरह मार्क्स के अनुसार नैतिक समाज का व्यवस्थापन राज्य या मनुष्य स्वयं नहीं करता समाज की आर्थिक शक्तियाँ करती हैं।

इन सभी लेखकों के विचार राज्य के आन्तरिक जीवन से संबंधित हैं। इसके विपरीत कौटिल्य और मकियावली राज्य और व्यक्ति के आन्तरिक सम्बन्ध को नहीं वरन राज्यों के पारस्परिक राज्य के बाह्य संबंधों को देखते हैं। जो राज्य आन्तरिक जीवन में नैतिकता से संबंध रखता है उसके लिये बाह्य जीवन में नैतिकता की भावना ही नहीं रहती। राज्य के बाह्य संबंध नैतिकता अनैतिकता की भावना से परे दिखाई देते हैं। यह कैसी विडम्बना है। कौटिल्य तो स्पष्ट रूप से लिखता है कि जहाँ आन्तरिक जीवन में राज्य का लक्ष्य वर्णाश्रम धर्म में निहित नैतिकता स्थापित करना है वहाँ बाह्य कार्यों में राज्य नैतिक बन्धनों और भावनाओं से मुक्त है।

आधुनिक राजनीति के सामने ये दोनों ही समस्यायें हैं। आन्तरिक जीवन में किये गये राज्य के लोक कल्याणकारी कार्य मनुष्य का कहाँ तक विकास कर सकते हैं? और क्या इनसे मनुष्य का विकास हो सकता है? बाह्य सम्बन्धों में सन्देह और कूटनीति के स्थान पर क्या शांतिपूर्ण सह अस्तित्व को मान्यता नहीं मिल सकती? क्या राज्यों के बाह्य सम्बन्ध एक सार्वभौमिक नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत काम नहीं कर सकते? इसका उत्तर नवरत्न नहीं देते पर आधुनिक समस्याओं को समझने में अवश्य ही उनका योगदान है। इसलिये उनका अध्ययन केवल विद्यार्थियों के लिये ही नहीं वरन् प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिये आवश्यक है।

पुस्तक का लेखन कार्य मेरे द्वारा ही हुआ। डा० धर्मेश डा० केवल प्रेरक शक्ति ही न थे, उन्होंने प्रोत्साहन दिया इन लेखकों को समझने में मुझे सहायता दी मेरी कठिनाईयाँ दूर कीं और उनके द्वारा लिखी गई राजदर्शन के इतिहास का पूर्ण लाभ उठाने का मुझे अवसर दिया। उनका इस पुस्तक में इतना अधिक योगदान है कि मुझे उन्हें लेखक के रूप में स्थान देना आवश्यक था। रथ के पहिये अलग अलग भी तो नहीं चल सकते। इसलिये उनकी सह-लेखक बनने की अनुमति पाकर यह पुस्तक अकेली से दुकेली हो गई। पुस्तक की त्रुटियों के लिये मैं उत्तरदायी हूँ अच्छाइयों का श्रेय डाक्टर साहब को है।

नवरत्नों को लिखते समय मैंने केवल इन दार्शनिकों के विचारों को ही नहीं दिया है क्योंकि विचार धारा का भी स्रोत होता है प्रवाह होता है विस्तार होता है और वह आगे बढ़कर दूसरी धाराओं को योगदान देती है। प्रत्येक दार्शनिक मूल रूप से अपनी समकालीन परिस्थितियों को लेकर चलता है पर वह अतीत का ऋणी होता है और भविष्य का साहूकार। इसलिये मैंने नवरत्नों के अध्ययन में प्रत्येक रत्न की विचारधारा प्रारंभ करने के पूर्व उसके समय के प्राचीन दर्शन उसकी सम सामयिक परिस्थितियाँ बताना आवश्यक समझा है साथ ही विचार के क्षेत्र में उसका योग दान भी बताया है। इससे एक लाभ यह भी हुआ है कि हमें प्रायः पूरे राजदर्शन के इतिहास की एक धुंधली रूप रेखा मिल जाती है जिससे पाठकों को कोई भी रत्न दूसरे रत्न से असम्बद्ध नहीं मालूम पड़ेगा। पुस्तक की भाषा को मैंने अत्यधिक सरल रखने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक विषयांत पर मैंने मुख्य विचारों को

संक्षेप में निरूपण (capsing) कर दिया है ताकि एक बार पुस्तक या विषय पढ़ने के पश्चात् मुख्य विचारों को आसानी से दुहराया जा सके ।

श्री बी० डी० जोशी डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट नैनीताल की कृपा से हम दोनों को विभाग संबंधी वे सूचनायें मिल सकीं जिनके अभाव में किसी भी पुस्तक का लेखन कार्य असंभव था । पुस्तक में इस प्रकार उनका महत्वपूर्ण योग दान है और इस सहायता के लिये हम दोनों ही लेखक उनके आभारी हैं ।

भैरम सिंह तारका प्रसाद

नैनीताल

११-५-६२

विषय-सूची

	पृष्ठ
रत्न १ प्लेटो (४२८ ई० पू०—३४८ ई० पू०)	१-११
रत्न २ अरस्तू (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०)	१२-६४
रत्न ३ कौटिल्य	६५-९५
रत्न ४ मैकियावली (१४६९—१५२७)	९६-११९
रत्न ५ रूसो (१७१२—१७७८)	१२०-१४४
रत्न ६ मिल (१८०६—१८७३)	१४५-१७१
रत्न ७. मार्क्स (१८१८—१८८३)	१७२-१९७
रत्न ८. ग्रीन (१८३६—१८८२)	१९८-२१३
रत्न ९ गांधी (१८६९—१९४८)	२१४-२५४

प्लेटो

(४२८ ई० पू० — ३४८ ई० पू०)

(१) ग्रीक राजदर्शन।
(२) प्लेटो की समस्या।
(३) रिपब्लिक।
(४) आदर्श राज्य।
(५) धर्म का स्वरूप।
(६) शिक्षा और साम्यवादी व्यवस्था।
(७) लॉज।
(८) प्लेटो का राजदर्शन में स्थान।

---

(१)

ग्रीक दर्शन आधुनिक राज्य-दर्शन का जनक

विमर्न लिखता है कि राजनीति को जो पहली महत्वपूर्ण भेंट ग्रीस ने दी वह थी—राज-दर्शन का आविष्कार। इसी कारण राज-दर्शन की चर्चा हम ग्रीक राज-दर्शन से प्रारम्भ करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सभ्यता के प्रारम्भिक वर्षों से ही मनुष्य राज्य में रहता आया है, और ग्रीस के नगर राज्यों के पहिले ईजिप्ट सीरिया चीन व भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे परन्तु राजनीतिक चिन्तन का श्रेय ग्रीस के राजनीतिक दार्शनिकों को ही है।

ग्रीस पहाड़ियों और घाटियों का देश है। प्राचीन समय में यहाँ सबसे पहिले हैलास के वंशज आकर बसे, और उन्होंने जगह-जगह अपने नगर बसाये। भौगोलिक परिस्थिति और आवागमन के साधनों की कमी के कारण प्रत्येक नगर स्वतंत्र राज्य बन गया। यूनान के सभी निवासी सजातीय एक ही धर्म मानने वाले

रत्न १

प्लेटो

(४२८ ई० पू० — ३४८ ई० पू०)

(१) ग्रीक राजदर्शन।	(५) धर्म का स्वरूप।
(२) प्लैटो की समस्या।	(६) शिक्षा और साम्यवादी व्यवस्था।
(३) रिपब्लिक।	(७) लॉज़।
(४) आदर्श राज्य।	(८) प्लैटो का राजदर्शन में स्थान।

(१)

ग्रीक दर्शन आधुनिक राज्य-दर्शन का जनक

जिमर्न लिखता है कि राजनीति को जो पहली महत्त्वपूर्ण भेंट ग्रीस ने दी, वह थी—राज-दर्शन का आविष्कार। इसी कारण राज-दर्शन की चर्चा हम ग्रीक राज-दर्शन से आरम्भ करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सभ्यता के प्रारम्भिक वर्षों से ही मनुष्य राज्य में रहता आया है, और ग्रीस के नगर राज्यों के पहिले ईजिप्ट, सीरिया, चीन व भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे परन्तु राजनीतिक चिन्तन का श्रेय ग्रीस के राजनीतिक दार्शनिकों को ही है।

ग्रीस पहाड़ियों और घाटियों का देश है। प्राचीन समय में यहाँ सबसे पहिले हैलास के वंशज आकर बसे, और उन्होंने जगह-जगह अपने नगर बसाये। भौगोलिक परिस्थिति और आवागमन के साधनों की कमी के कारण प्रत्येक नगर स्वतन्त्र राज्य बन गया। यूनान के सभी निवासी सजातीय, एक ही धर्म मानने वाले

और एक ही भाषा-भाषी थे। डेल्फी के मन्दिर में ओलम्पिक खेलों और युद्धों के समय भिन्न-भिन्न राज्य सम्पर्क में आते थे परन्तु इनमें इतनी अधिक स्वच्छता भी दूसरे यूनानी राज्यों के प्रति इतनी ईर्ष्या थी कि वे कोई स्वार्थ-वश या कई नगर-राज्यों को मिलाकर एक बड़ा राज्य नहीं बना सके। यातायात साधनों का अभाव भी बड़े राज्यों की स्थापना में बाधक था। छोटे-छोटे नगर-राज्य स्वभारित अवश्य थे परन्तु आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए। इनकी आर्थिक व्यवस्था गुलामों के श्रम पर आश्रित थी। राज्य में शिल्पकार व व्यवसायी थे, परन्तु शासन का कार्य उन लोगों के हाथ में था जो आर्थिक चिन्ता से मुक्त थे। इसीलिए तो अरस्तू कहता है कि नागरिकता के लिये अवकाश आवश्यक है। इन राज्यों में जीवन बहुत सुखी न था। विदेशी राज्यों से आक्रमण की चिन्ता सदैव रहती थी और राज्य के आन्तरिक जीवन में वर्ग-संघर्ष का बोल बाला था। एथेंस और स्पार्टा अवश्य ऐसे राज्य थे जिन्होंने अन्य राज्यों की तुलना में काफी उन्नति करली थी। इसीलिए स्वाभाविक था कि दार्शनिक इन राज्यों के सामाजिक संगठनों की ओर आकर्षित हों।

प्रश्न यह उठता है कि इन छोटे-छोटे नगर-राज्यों में जिनमें वर्ग-संघर्ष हो रहे हों जिनका आर्थिक जीवन सरल न हो ऐसी कौन सी बात थी कि वे राजदर्शन के पिता बन सके ?

इन राज्यों की और इनमें रहने वाले निवासियों की कई विशेषतायें थीं—

(१) यूनान देश में पास ही पास कई नगर-राज्य थे और उनके सामाजिक संगठन तथा राजनैतिक जीवन में काफी भिन्नता थी जिसके कारण इनमें तुलनात्मक अध्ययन की वह सुविधा थी जो बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देशों में सम्भव नहीं हो सकती।

(२) फिर इन नगर-राज्यों ने काफी परिवर्तन भी देखे थे। इनमें निरंकुश शासन प्रजातन्त्र कुलीनतन्त्र धनिकतन्त्र और राजतन्त्र—सबकी बारी-बारी से स्थापना हुई थी। उनके गुण-दोषों से वह परिचित थे और उन कारणों को आसानी से समझ सकते थे जिनके कारण एक शासन दूसरे तन्त्र को स्थान देता है।

(३) उनके जीवन में राजनीति का बहुत अधिक महत्व था इसलिये यद्यपि उनका आर्थिक भौगोलिक व प्रासकीय क्षेत्र बड़े २ साम्राज्यों की अपेक्षा छोटा था फिर भी उनका राजनीतिक चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक व गहन था।

(४) इनमें इस बात की स्वाभाविक जिज्ञासा थी कि आदर्श राज्य क्या है और राजनैतिक व सामाजिक जीवन का संगठन किस प्रकार किया जावे कि समाज में संघर्ष न रहे। इसलिए उनका चिन्तन केवल समकालीन ऐतिहासिक व राजनैतिक परिस्थितियों तक ही सीमित नहीं रहा। उनके विचार समाज के स्वरूप मानव जीवन के लक्ष्य और उत्तम जीवन पर केन्द्रित होने के कारण सार्वभौमिक है। आज भी हमें उनके दर्शन की आवश्यकता है, और इस दर्शन की आवश्यकता सदा बनी रहेगी। इसी कारण ग्रीस का राजदर्शन प्रारम्भ से ही हमें प्रेरणा देता रहा है, और देता रहेगा।

ग्रीस में राजदर्शन विकसित होने के कारण

(१) ग्रीक नगर राज्यों का होना था जिससे तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा।

(२) नगर राज्यों का परिवर्तन-चक्र।

(३) राजनीतिक चिन्तन की ओर झुकाव।

प्लेटो ने समकालीन समस्याओं के जो हल बताये वे आज हमारे जीवन में महत्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु प्लेटो का यह कथन कि 'मनुष्य सुख और शांति का जीवन चाहता है, ज्ञान न होने के कारण वह इस सुख और शांति से वंचित रहता है' सदैव ही सत्य रहेगा। प्लेटो का कहना था कि यदि हम ठीक-ठीक चिन्तन के द्वारा जीवन के सत्य को समझ सकें व यह जीवन क्या है इसे जान सकें तो मनुष्य उस सत्य प्राप्त करने के साधनों को भी खोज सकता है। इस प्रकार ज्ञान द्वारा मनुष्य अपने समाज का पुन निर्माण कर अच्छा जीवन बिता सकता है। जीवन के लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों की विवेचना और चिन्तन राजनीति का आज भी प्रमुख विषय है और प्लेटो से लेकर महात्मा गांधी तक सभी राजनीतिक दार्शनिक इसी विषय का चिन्तन करते रहे हैं। सुखी और शान्त जीवन के स्वरूप और उसे प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद अवश्य पाया जाता है परन्तु ग्रीक लोगों ने अपनी विवेचना और चिन्तन की शक्ति द्वारा जो सामाजिक संस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने का मार्ग प्रस्तुत किया उसमें ग्रीस का महत्वपूर्ण योग रहा है। ग्रीक दार्शनिकों ने हमें बताया कि मनुष्य और समाज स-उद्देश्य हैं—किसी उद्देश्य के लिए हैं। हम आज तक मनुष्य और समाज के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिकोण रखते आये हैं। इस प्रकार मनुष्य का लक्ष्य उस प्राप्ति के साधन उसके सामाजिक सम्बन्धों के चिन्तन की आवश्यकता और रीति हमें ग्रीस से मिली है।

ग्रीक दार्शनिकों का दूसरा बड़ा योगदान राज्य-शास्त्र की शब्दावली है। उन्होंने हमें कई शब्द दिये, जिनका प्रयोग आज भी हम करते हैं। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि राज्य का स्वरूप ज्यों-ज्यों बदलता गया नई परिस्थितियाँ जैसे-जैसे आती गईं, वैसे-वैसे इन शब्दों के अर्थ भी बदलते गये। इसलिए हमें कभी-कभी ग्रीक लेखकों के विचारों को समझने में कठिनाई भी होती है। उदाहरण के लिये प्लेटो ने धर्म गुण संविधान आदि शब्दों का प्रयोग जिन अर्थों में किया है, वे आज भिन्न हैं। 'धर्म' का अर्थ प्लेटो कर्तव्य के रूप में लेता है, धार्मिक विश्वास या धार्मिक इच्छा के रूप में नहीं। इस दृष्टि से प्लेटो 'धर्म' शब्द का प्रयोग ठीक उसी रूप में करता है, जिस रूप में हम स्त्री-धर्म राजधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार गुण या सद्‌गुण शब्द में कोई नैतिक भावना का बोध नहीं है। प्लेटो जब कहता है कि आप ही गुण है तो इसमें कोई नैतिकता की भावना निहित नहीं है। उसके गुण शब्द का प्रयोग ठीक उसी रूप में हुआ है, जिस रूप में हम कहते हैं कि चाकू का गुण है काटना। इसलिए सद्‌गुण का अर्थ हुआ अपने काम में दक्ष होना। इस तरह सद्‌गुणी होना एक कला है, या कहना चाहिए कि एक उपयोगी कला है। म द या अच्छा मनुष्य वह है, जो अच्छे डाक्टर की भाँति अपनी कला में निपुण हो। इस तरह प्लेटो के शब्दों में अच्छा नागरिक नैतिक व्यक्ति नहीं वरन् वह मनुष्य है, जो इस कला में निपुण हो कि हम अच्छा जीवन—सुखी जीवन—किस प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार की कठिनाई हमें 'राज्य' 'संविधान' आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी हो सकती है। ग्रीक राज्य एक प्रकार से सहवासी समुदाय या वृहद कुटुम्ब थे। उनमें अपनत्व और सहकारिता की भावना थी। राज्य को निर्मित करने वाले व्यक्तियों का चरित्र सामूहिक जीवन में परिलक्षित होता था इसलिये उनके लिए यह कहना स्वाभाविक था कि राज्य व्यक्ति का वृहद रूप है। संविधान सरकार के विभिन्न अङ्गों का वर्णन या व्यवस्थापन नहीं वरन् समाज में रहने का ढङ्ग है, जीवन का ढङ्ग है। अरस्तू जब यह कहता है कि किसी राज्य का संविधान उस समय बदलता है, जब उसमें शासन

ग्रीक राजदर्शन का योग

(१) राजदर्शन की मूलभूत समस्याओं का अध्ययन—जीवन का लक्ष्य और प्राप्ति के साधन।
(२) अध्ययन की रीति।
(३) राजनीतिक शब्दावली।

करने वाला जब बदल जाता है, तो यह कथन हम आधुनिक परिस्थितियों में ठीक-ठीक नहीं समझ सकते ।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी हम ग्रीक दर्शन को राजनीति का पिता मानते हैं, क्योंकि ग्रीक दार्शनिकों ने हमें

(१) सामाजिक संस्थाओं का विवेचनात्मक चिंतन दिया ।

(२) समाज और व्यक्ति का जीवन अन्तरसम है, यह विचार दिया ।

(३) राजनैतिक शब्दावली दी ।

(४) तर्क के आधार पर विवेचना करने की पद्धति दी ।

ग्रीक राजदर्शन की मान्यतायें—

प्लेटो और अरस्तू के विचारों को समझने के लिये हमें ग्रीक दर्शन की कुछ विशेषताओं और मान्यताओं को जानना आवश्यक है ।

(१) व्यक्ति और समाज का समन्वय—

चूंकि नगर राज्य छोटे छोटे सहकारी समुदाय थे इसलिये कहना चाहिये थे एक वृहत् कुटुम्ब के समान थे । उनमें 'व्यक्ति बनाम समाज' की भावना कभी जाग्रत नहीं हुई । समाज व्यक्तियों का ही सामूहिक रूप था । और चूंकि यह माना जाता था कि सभ्य जीवन के लिये मनुष्य को दूसरों पर निर्भर होना पड़ता है, इसलिये मनुष्य एक दूसरे के सहयोग के साथ ही सुखी जीवन प्राप्त कर सकता है । जैसे व्यक्ति होंगे वैसा ही समाज होगा । समाज व्यक्ति के हित में है, और व्यक्ति समाज के लिये आवश्यक है । इसलिये ग्रीक राजदर्शन में व्यष्टि और समष्टि का सुन्दर समन्वय हुआ है ।

(२) मर्यादित जीवन—

ऐसे समाजों में सहकारिता तभी संभव है, जब गरीब अमीर के बीच बड़ी खाई न हो । प्रत्येक चीज की अति बुरी होती है, विशेष कर धन और दरिद्रता की । इसीलिये डेल्फी के मंदिर पर लिखा था कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा होनी चाहिये । इसी कारण ही प्लेटो व्यक्तियों का सबसे बड़ा धर्म यह मानता है कि हर एक मनुष्य वही कार्य करे, जिसके लिए वह उपयुक्त हो और उस कार्य के करने में ही उसे सन्तोष मिलना चाहिये । मर्यादित जीवन का सिद्धांत उनकी राजनीति कला धर्म आदि सभी क्षेत्रों में विद्यमान था । इसी मर्यादित जीवन को प्लेटो और अरस्तू संयम या आत्म नियंत्रण कहते हैं और अरस्तू इसी के आधार पर अपनी शासन व्यवस्था में मध्यम मार्ग अपनाता है ।

(३) विधि की महत्ता—

चूँकि ग्रीक समाज एक सहकारी समुदाय था इसलिये परंपराओं रीति रिवाजों और रूढ़ियों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इन्हें वे अपने प्राचीन युगों के संचित ज्ञान की निधि मानते थे। इसलिये नियम सर्वमान्य थे और नियमों के अनुसार शासन करना या 'नियमों का शासन सहकारी जीवन के लिये आवश्यक माना गया था।

(४) राज्य नैतिक संस्था है—

समाज में रहकर ही मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है, अपना विकास कर सकता है, सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है, मनुष्य बन सकता है, अपना प्राकृतिक रूप पा सकता है। इसलिये राज्य मानव को 'मानव' बनाने वाली नैतिक संस्था के रूप में देखा जाता था। बिना समाज के मनुष्य मनुष्य नहीं रह सकता। अरस्तू इस संदर्भ में ही यह कह सकता था कि मनुष्य 'राजनैतिक प्राणी है' जो मनुष्य समाज में नहीं रहता वह या तो देवता है या खूँखार जानवर।

(५) दास वर्ग—

सुखी जीवन का अर्थ केवल भौतिक समृद्धि का नहीं होता। ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार सुखी जीवन मनुष्योचित गुणों के विकास से ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये मनुष्य को आर्थिक कष्टों से मुक्त हो अवकाश की आवश्यकता है इसीलिये अवकाश को नागरिक जीवन के लिये आवश्यक माना गया था। परन्तु यह अवकाश युक्त जीवन तभी सम्भव हो सकता है, जब आर्थिक साधनों की पूर्ति दास वर्ग कर सके। इसलिये दास वर्ग का इन राज्यों में आवश्यक स्थान था। कहना चाहिये कि इस दास वर्ग ने ही अपने श्रम से नागरिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग को महत्ता प्रदान की है। परन्तु यूनानी राजदर्शन में श्रमिकों को कोई स्थान नहीं मिला जो कि उनका पूरा राजनैतिक जीवन इसी वर्ग पर अवलंबित था।

ग्रीक राजदर्शन की विशेषताएँ

(१) नगर राज्य सहकारी समुदाय इसलिये व्यष्टि-समष्टि का समन्वय।
(२) मर्यादा और आत्म-नियंत्रण में विश्वास।
(३) विधि का शासन।
(४) राज्य नैतिक संस्था।
(५) शारीरिक परिश्रम करने वाले दास नागरिक नहीं।

(२)

प्लेटो की समस्या

प्लेटो का जन्म ४२८ ई० पू० में एथेंस के कुलीन घराने में हुआ था। प्रारंभ से ही इसे राजनीति में भाग लेने की इच्छा थी। परन्तु उन दिनों एथेंस की राजनीति इतनी अधिक दूषित हो गई थी वर्ग-संघर्ष इतना बढ़ा हुआ था कि उसे राजनैतिक जीवन से घृणा हो गई। एथेंस के प्रजातन्त्र ने जब उसके गुरु महान दार्शनिक सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया तो उसके हृदय को बड़ी चोट पहुँची। अपने एक पत्र में वह लिखता है, 'जब मैंने इन बातों पर विचार किया कि किस प्रकार के लोग इस समय शासन कर रहे थे विधि तथा जन नैतिकता की क्या परिस्थिति थी और उम्र के साथ-साथ जितना मैंने इस पर विचार किया, उतना ही मुझे अच्छी सरकार की स्थापना का कार्य दुष्कर मालूम पड़ने लगा.......जब मैंने देखा कि राजनैतिक परिस्थिति में कितनी गड़बड़ी है, तो मैं बिलकुल चकरा गया..........अन्त में मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि बिना किसी अपवाद के प्रत्येक राज्य में बुरा शासन है और प्रत्येक राज्य की इतनी शोचनीय अवस्था है कि बिना सौभाग्य और पुनः निर्माण के कोई सुधार सम्भव नहीं है। इसलिये मैं सच्चे ज्ञान की प्रशंसा और यह घोषित करने पर बाध्य हुआ कि......मनुष्य जाति उस समय तक बुराई से छुटकारा नहीं पा सकती जब तक या तो सच्चे दार्शनिक शासक न हों या राजनीतिज्ञ ही सच्चे दार्शनिक न हो जाय।

इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति में भाग लेने का इच्छुक प्लेटो विरक्त दार्शनिक बन गया, और इस विषय पर चिन्तन करने लगा कि आदर्श राज्य क्या है, उसे किस प्रकार निर्मित किया जा सकता है।

प्लेटो ने अपने जीवन-काल में कई पुस्तकें लिखीं जिन्हें संवाद कहा जाता है। परन्तु राजनीति से संबध रखने वाली केवल तीन पुस्तकें ही प्रमुख हैं, रिपब्लिक स्टेट्समैन और लॉज। रिपब्लिक में उसने राज्य की जो व्यवस्था बताई है, उसमें राजसत्ता दार्शनिकों के हाथ में दीगई है, जो विशुद्ध ज्ञान रखते हैं। कहा जाता है कि सायराक्यूज में उसे रिपब्लिक के अनुरूप शासन-व्यवस्था बनाने का अवसर मिला था परन्तु वह विफल रहा। इसलिए अपने अनुभवों के आधार पर उसने रिपब्लिक की शासन-व्यवस्था में संशोधन कर दूसरी

पुस्तक स्टेट्समैन लिखी। उसकी इस पुस्तक में दी गई शासन व्यवस्था भी अव्यावहारिक थी इसलिये अपनी वृद्धावस्था में उसने लॉज को लिखना प्रारंभ किया जो अधिक व्यावहारिक है। इस पुस्तक में रिपब्लिक में दिये गये दार्शनिकों के शासन के स्थान पर विधि के शासन को मान्यता दी गई है। परन्तु प्लेटो रिपब्लिक के आदर्श को अपनी वृद्धावस्था में भी विशुद्ध आदर्श मानता रहा और उसे ही सर्वोत्तम राज्य के नाम से पुकारता रहा। चूंकि इस संसार में विशुद्ध ज्ञान रखने वाले दार्शनिक मिलना संभव नहीं इसलिये पूर्वों के संचित ज्ञान से ही जो विधि में मिलता है, हमें काम चलाना होगा; चूंकि दार्शनिकों का जीवित तथा ताजा ज्ञान हमें प्राप्त नहीं इसलिये रीति-रिवाजों में रखे गये ज्ञान के भरोसे से हमें अपना काम करना होगा। इसीलिये विधि का शासन द्वितीय श्रेणी का सर्वोत्तम शासन है। लॉज पुस्तक जब वह पूरी कर रहा था तब ३४८ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई।

प्लेटो के जीवन से हमें मालूम होता है कि प्लेटो समकालीन राज्यों के संगठनों से संतुष्ट न था। वह उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन व सुधार चाहता था। स्पार्टा और एथेंस के युद्ध के पश्चात् एथेंस की हालत बहुत बिगड़ गई थी वर्ग-संघर्ष बढ़ा हुआ था और ऐसा मालूम होता था कि एथेंस में एक नहीं दो राज्य हैं। धनिक-वर्ग गरीबों पर अत्याचार कर रहा था। प्रजातांत्रिक शासन ने दार्शनिक सुकरात को मृत्यु-दंड देकर अपनी अज्ञानता स्पष्ट कर दी थी सब अपना स्वार्थ देख रहे थे राज्य का हित किसी के ध्यान में न था। इसलिये प्लेटो के सामने समस्या थी—

प्लेटो की समस्या

(१) राज्यों में पाये जाने वाले अमीर गरीब के संघर्ष को हटाना।
(२) अज्ञानी शासकों के स्थान पर दार्शनिक राजाओं की नियुक्ति।
(३) स्वार्थ और व्यक्तिवाद के स्थान पर सहकारिता राज्य की एकता विधि का शासन स्थापित करना।

(१) आंतरिक वर्ग-संघर्ष को दूर करना और राज्य में उस एकता को स्थापित करना जिसमें सभी वर्ग मिलकर काम करें और वर्गों में सहकारिता रहे।

(२) राज्य की श्रेष्ठता विधि की श्रेष्ठता तथा सामूहिक जीवन को फिर से स्थापित करना जिसे उसके पूर्व दार्शनिक सोफिस्टों के विचारों ने नष्ट कर दिया था।

(४) राज्य में उस वर्ग को शासन सत्ता देना जो इस बात को जान गए हों कि अच्छाई क्या है और कैसे प्राप्त की जा सकती है।

(५) इस शासक वर्ग को आर्थिक प्रलोभनों से दूर रखना।

प्लेटो के विचारों का स्रोत—

प्लेटो अपनी समकालीन राज्यों की व्यवस्था सुधारने का लक्ष्य लेकर चला है। फिर भी उसके कुछ विचारों के स्रोत हमें उसके पूर्वकालीन दार्शनिकों में मिलते हैं। प्लेटो के राज्य के विकास-क्रम की झलक हमें पाइथागोरस में दिखाई देती है। पाइथागोरस ने ही इस विचार को स्पष्ट किया था कि राज्य एक शिक्षा-संस्था है। रिपब्लिक में जिन तीन वर्गों की चर्चा की गई है, उसी के अनुरूप पाइथागोरस ने राज्य के निवासियों को बुद्धि के प्रेमी सम्मान के प्रेमी और धन के प्रेमी तीन वर्गों में बाँटा था। पाइथागोरस ने एक आश्रम भी बनाया था जिसमें आश्रम की संपत्ति पर सबका समान अधिकार था। प्लेटो के दार्शनिकों का साम्यवादी जीवन इसी आश्रम के जीवन से प्रभावित मालूम होता है। परन्तु प्लेटो पर सबसे अधिक प्रभाव सुकरात का था जिसे वह अपना गुरु मानता है। सुकरात ने मनुष्य के व्यक्तित्व और विवेक पर बहुत अधिक जोर दिया है। उसका कहना था कि मनुष्य का मुख्य लक्ष्य अपनी आत्मा को अच्छी बनाना या चरित्र निर्माण करना है। इसलिये उसने नैतिक और बौद्धिक पक्ष को प्रधानता दी। मानव जीवन का लक्ष्य ही विवेक पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में अच्छा जीवन व्यतीत करना है। राज्य का लक्ष्य भी अच्छा जीवन देना है। इसलिये शासक वर्ग में बौद्धिक और नैतिक क्षमता आवश्यक है। विवेकशील प्राणी ही अच्छाई क्या है—इस विचार को तर्क के आधार पर जान सकता है, अच्छाई का ज्ञान होने पर ही मनुष्य अच्छा जीवन व्यतीत करेगा इसीलिये सुकरात का कहना था कि 'ज्ञान ही सद्गुण है। सुकरात का यह विचार ही प्लेटो की रिपब्लिक का केन्द्र-बिन्दु है। सुकरात

विचारों का स्रोत
पाइथागोरस—राज्य के तीन वर्ग : बुद्धि-प्रेमी सम्मान प्रेमी, धन-प्रेमी
राज्य-शिक्षा संस्था
आश्रम की साम्यवादी व्यवस्था।
सुकरात—ज्ञान ही सदाचार है
अध्ययन की रीति वार्तालाप।

उसमें स्वाभाविक क्षमता है, तो वह अच्छी और अधिक मात्रा में वस्तुएं उत्पन्न कर सकता है। इसलिये श्रम-विभाजन और पारस्परिक आदान-प्रदान प्रत्येक व्यक्ति और समाज के हित में है। यह श्रम-विभाजन प्राकृतिक है, क्योंकि सब मनुष्य समान नहीं हैं, इसलिये समाज भी प्राकृतिक है, क्योंकि उसी के द्वारा पारस्परिक आदान प्रदान होने से सबकी आवश्यकतायें पूरी होती हैं। समाज के इस प्रारम्भिक रूप में जब मनुष्य केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा है हम धर्म का मूलभूत स्वरूप पाते हैं—कि प्रत्येक मनुष्य वही कार्य करे, जिसके लिये वह उपयुक्त हो।

परन्तु केवल भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से मनुष्य संतुष्ट नहीं होता। वह संस्कृति और सभ्यता चाहता है, आराम और विलास की उन वस्तुओं को चाहता है जिन्हें उसका छोटा समाज पूरा नहीं कर पाता। इसीलिये बड़े क्षेत्रों के लिये युद्ध होते हैं, और देश की सुरक्षा के लिए हमें सैनिकों की आवश्यकता होती है। सैनिक-वर्ग में उत्साह, स्फूर्ति और सम्मान की भावना आवश्यक है, साथ ही उनमें शत्रु और मित्र को पहिचानने का विवेक भी होना चाहिये जिस से वे देश के शत्रु के प्रति कठोर और अपने नागरिकों के प्रति नम्र हो सकें। इस प्रकार राज्य में एक नया वर्ग—सैनिक वर्ग—प्रारंभ होता है, जो राज्य का संरक्षक है। सैनिक-वर्ग में स्वाभाविक रूप से दो गुण होने चाहिये उत्साह और विवेक। अपने कार्य में दक्ष होने के लिये इस वर्ग को अपना ध्यान केवल सैनिक कार्य में लगाना चाहिये और भौतिक साधनों के उत्पादन-कार्य या आर्थिक वर्ग से इसे अलग रहना चाहिये।

परन्तु सैनिक वर्ग में पूर्ण ज्ञान का अभाव है। वे तो केवल शत्रु और मित्र को पहिचान सकते हैं। उनमें यह ज्ञान नहीं कि राज्य को किस प्रकार संगठित किया जावे कि वह अच्छा बन सके। अच्छाई क्या है, इस बात के जानने की इनमें प्रतिभा नहीं होती। इसलिये समाज के संगठन और निर्देशन के लिये हमें उन ज्ञानियों की आवश्यकता होती है जिन्होंने अच्छाई के स्वरूप को देखा है, और पहिचाना है। इसे हम दार्शनिक वर्ग कह सकते हैं। यह दार्शनिक वर्ग राज्य का शासक और असली संरक्षक है, क्योंकि इसके शासन और निर्देशन के द्वारा ही सभी व्यक्ति अच्छे जीवन के अनुरूप अपना जीवन बना सकते हैं। सैनिक-वर्ग को इस दार्शनिक वर्ग का सहायक संरक्षक कहना उचित होगा क्योंकि इनमें विवेक और इच्छाओं पर नियन्त्रण होने के कारण दार्शनिक वर्ग के विशुद्ध ज्ञान का अभाव है। इस प्रकार हम आदर्श-राज्य में तीन वर्ग पाते हैं।

दार्शनिक-वर्ग (संरक्षक) सैनिक वर्ग (सहायक संरक्षक) और आर्थिक वर्ग (भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला)। प्लेटो का यह वर्ग-विभाजन भारतीय जाति व्यवस्था के अनुरूप नहीं है क्योंकि यह जन्म पर आधारित नहीं है। साथ ही आधुनिक वर्गों की भांति यह धन पर भी आधारित नहीं है। इसका आधार है—स्वाभाविक क्षमतायें और कार्यदक्षता। यदि एक वर्ग के बच्चों में दूसरे वर्ग के गुण मिलते हैं, तो पहिले वर्ग में उत्पन्न होते हुए भी वह दूसरे वर्ग का सदस्य बन जायेगा। प्लेटो लिखता है कि ईश्वर ने दार्शनिक वर्ग में सोना डाला है सैनिक वर्ग में चाँदी और आर्थिक वर्ग में पीतल या काँसा। यह हो सकता है कि किसी वर्ग में पैदा हुए बच्चों में चाँदी या सोना मिला हो। ऐसी हालत में उन्हें चाँदी या सोने वाले वर्ग में रखना चाहिये।

राज्य की उत्पत्ति

चूँकि मनुष्य स्वाश्रित नहीं उसे दूसरों की आवश्यकता है इसलिये भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज का उद्भव।

आर्थिक राज्य—प्रत्येक व्यक्ति वही आर्थिक कार्य करे, जिसमें वह दक्ष हो आर्थिक वर्ग।

सभ्य राज्य—सैनिक वर्ग की आवश्यकता;
सैनिकों में उत्साह और विवेक;
कार्यपालिका का कार्य।

नैतिक राज्य—दार्शनिक वर्ग की आवश्यकता
विशुद्ध ज्ञान का शासन
राज्य का निर्देशन।

दार्शनिक वर्ग जो एक प्रकार से राज्य की विधान-सभा बनायेंगे अच्छे *जीवन की धारणा को सामने रखकर राज्य का निर्देशन करेंगे।* ये लोग आश्रम में रहेंगे इनकी कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी और न कोई निजी स्वार्थ। इसलिये वे अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का प्रयोग अपने निजी या अपने वर्ग की स्वार्थ-सिद्धि में नहीं करेंगे। सैनिक वर्ग राज्य की कार्यपालिका होगी और वह दार्शनिक वर्ग या विधान सभा के आदेशानुसार कार्य करेगी। इस वर्ग में दार्शनिक वर्ग द्वारा बताये गये रास्तों को अनुसरण करने का ज्ञान तो होता है, पर स्वयं *राज्य की अच्छाई सोचने की क्षमता नहीं होती। आर्थिक वर्ग राज्य* की और संरक्षकों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। चूँकि अधिक बड़ा राज्य और अधिक गरीबी और अमीरी राज्य में पतन का कारण होती है इसलिये संरक्षक राज्य को और उसकी धन-सम्पत्ति को मर्यादित रखेंगे। संरक्षकों

के उत्तराधिकारी सदैव राज्य के शासक नहीं होंगे। अन्य वर्गों के बच्चों को, यदि उनमें स्वाभाविक क्षमता है, संरक्षकों का कार्य करने का अवसर मिलेगा।

(५)

राज्य में धर्म

इस आदर्श राज्य की रूपरेखा खींचने में प्लेटो का लक्ष्य मनुष्य के धर्म के उस वृहद रूप को बताना था जो राज्य में परिलक्षित होता है। यूनानियों के अनुसार सद्गुण में चार गुण निहित हैं—बुद्धि साहस संयम और धर्म। राज्य में ये गुण कहाँ हैं?

विवेक राज्य के कार्यों के निर्देशन में दिखाई देता है, और यह दार्शनिक वर्ग का गुण है। इन्हें पूरे समाज के हित का ज्ञान होता है, और ये अच्छाई के सभी पहलुओं को जानते हैं।

सहायक संरक्षकों के पास अपना निजी ज्ञान नहीं होता परन्तु वे दार्शनिक वर्ग के ज्ञान के अनुसार चलते हैं। इस सैनिक वर्ग में साहस होता है। प्लेटो के अनुसार साहस का अर्थ है, उन वस्तुओं का ज्ञान जिनसे हमें भय खाना अथवा न खाना चाहिये। इसलिये साहस उस ज्ञान का ही अंग है कि कौन चीज अच्छी है, अथवा बुरी। वास्तविक बुराई नैतिक बुराई है, इसलिये गरीबी तकलीफें और मृत्यु तक से हमें भयभीत नहीं होना चाहिये क्योंकि इनसे हमारा नैतिक पतन नहीं होता। वस्तु की अच्छाई और बुराई का ज्ञान दार्शनिकों में होता है, परन्तु सहायक संरक्षकों का साहस उन्हें अच्छाई पर डटे रहने को कहता है।

आत्म-नियंत्रण या संयम किसी एक विशेष वर्ग का गुण नहीं है। आत्म नियंत्रण का अर्थ होता है अपने निम्न तत्वों को उच्च तत्वों के आधीन रखना। लेकिन शासन शासितों की इच्छा से भी होना चाहिये। इसलिये संयम का अर्थ है कि सभी वर्ग इस बात में सर्वसम्मत हों कि कौन शासन करें और कौन शासित हों। संयम सब वर्गों में सामंजस्यता स्थापित कर राज्य की एकता बनाता है।

यदि संयम राज्य में एकता है, और विभिन्न अङ्गों में सामंजस्यता लाता है, तो धर्म विभिन्न वर्गों को अलग-अलग रख भिन्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित

करते हुए संयम का पूरक है। धर्म का सिद्धान्त हमने आर्थिक राज्य के श्रम विभाजन के सिद्धान्त में भी देखा है और आदर्श राज्य की वर्ग-व्यवस्था में भी। धर्म का इस प्रकार अर्थ लगभग वही है, जिसे तुलसीदास जी ने व्यक्त किया है, 'वर्णाश्रम निज-निज धर्म'। अपनी क्षमता के अनुसार अपने कार्य को करना और उसी कार्य पर एकनिष्ठ होना धर्म है। इसे हम न्याय या कर्तव्य भी कह सकते हैं कि प्रत्येक आदमी को वही मिले जिसका वह भागी है। इस प्रकार सामाजिक धर्म वह है, जिसमें प्रत्येक अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार इस प्रकार कार्य करे और दूसरे के कार्य में बाधा न पहुँचाते हुए वह पूरे समाज के कल्याण में अपना योग दे।

व्यक्ति में धर्म—

प्लेटो ने राज्य के स्वरूप की चर्चा इसलिये की थी कि वह व्यक्ति में पाये जाने वाले धर्म के बृहद् रूप को राज्य में आसानी से देख सके। इसलिए सामाजिक धर्म बतलाने के पश्चात् प्लेटो यह बताने की चेष्टा करता है कि यह धर्म वैयक्तिक धर्म का ही प्रतिरूप है, और आत्मा के गुण ही राज्य के गुणों में व्यक्त होते हैं। हम देख चुके हैं कि राज्य में धर्म का अर्थ है कि समाज के तीन कार्य—विचार विमर्श कार्यपालिका और आर्थिक—अलग-अलग रखे जाँय और उन्हें उपयुक्त क्षमता के लोग ही करें। चूँकि वर्गों के गुण उन वर्गों को निर्मित करने वाले व्यक्तियों के सामूहिक गुण हैं, इसलिए हमें वर्गों के अनुरूप तीन गुण व्यक्ति की आत्मा में भी मिलते हैं। परन्तु समाज का संगठन इस बात पर आधारित है कि कुछ व्यक्तियों में एक गुण का प्राधान्य होता है और कुछ में दूसरे गुणों का। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति में इन तीन तत्त्वों के होते हुए किसी एक तत्त्व की प्रधानता होती है।

धर्म

दार्शनिक वर्ग—विवेक
सैनिक वर्ग—उत्साह } संयम और धर्म
आर्थिक वर्ग—

संयम या आत्म-नियमन—उच्च तत्त्व निम्न तत्त्व को अधीन रखें

धर्म—(१) प्रत्येक वर्ग अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार काम करते हुए पूरे समाज का कल्याण करे।
(२) आत्मा का तत्त्व उत्साह और इच्छाओं को अपने अधीन रखें।

आत्मा में तीन गुण हैं विवेक उत्साह और इच्छा। हम अपने जीवन में इन तीन तत्वों का अनुभव करते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विवेक और इच्छा उत्साह और विवेक इच्छा और उत्साह के संघर्षों का अनुभव करता है। प्लेटो के अनुसार विवेक मस्तिष्क में होता है, उत्साह का निवास स्थान हृदय है, और इच्छाओं का पेट और गुप्तांग। इस प्रकार समाज के तीन वर्ग अपने सूक्ष्म रूप में व्यक्ति के तीन तत्वों में दिखाई देते हैं। जिस प्रकार धर्म युक्त समाज में दार्शनिक-वर्ग सैनिक वर्ग की सहायता से आर्थिक-वर्ग का शासन करता है, उसी प्रकार न्याय व्यक्ति में उत्साह की सहायता से विवेक अपनी इच्छाओं का दमन करेगा। संयम के द्वारा इन विभिन्न तत्वों में सामंजस्य रहेगा और हर एक तत्व अपना कार्य करने में सन्तोष पाएगा। इसलिए व्यक्ति में धर्म आत्मा का वह गुण है जिसके द्वारा मनुष्य ठीक और उचित कार्य करता है, और विवेक द्वारा अपने उत्साह और इच्छाओं का दमन करता है। जिसमें धर्म का अभाव है, उसमें आन्तरिक संघर्ष रहता है।

आलोचना—

(१) आत्मा के गुणों को राज्य में साक्षात्कार कर प्लेटो ने व्यक्ति और राज्य के धर्मों को स्पष्ट किया है। परन्तु ऐसा करने में उसने कुछ भूलें की हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि हम अपनी इच्छाओं और विवेक के बीच में संघर्ष देखते हैं जिससे मालूम होता है कि इच्छायें और विवेक भिन्न भिन्न हैं। फिर भी हमारा व्यक्तित्व एक है और इन तीन तत्वों के कारण हमारे तीन व्यक्तित्व नहीं हो जाते। प्लेटो ने व्यक्तित्व की इस एकता पर ध्यान नहीं दिया इसी कारण उसने राज्य में तीन वर्गों को अलग-अलग रखा है। जिसके कारण राज्य में एकता नहीं वरन् अत्यधिक असमता दिखाई देता है। प्रत्येक वर्ग अपना काम करता है उसे दूसरे वर्ग के कार्य से मतलब ही नहीं है। शासक वर्ग और सैनिक वर्ग की संस्थायें भी अलग-अलग हैं। एक के बीच साम्यवाद है और दूसरे के पास वैयक्तिक सम्पत्ति। राज्य में दो सिद्धान्त लागू हुए दिखाई देते हैं। अरस्तू का कहना ठीक ही है कि प्लेटो का आदर्श राज्य एक नहीं दो राज्य हैं।

(२) राज्य का प्रत्येक वर्ग केवल वही कार्य करेगा जिसके लिए उसके पास स्वाभाविक क्षमता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ग में रहकर मनुष्य आत्मा के केवल उस गुण के आधार पर कार्य करेगा जिसकी प्रधानता उसमें है। इस

इसप्रकार हम प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के केवल एक गुण से बांध देते हैं। मनुष्य तीन गुणों का सम्मिश्रण है, तीन गुणों का सामंजस्य ही उसके व्यक्तित्व को बनाता है। तब हम केवल एक गुण से उसके व्यक्तित्व को बांध कर और उसके केवल एक गुण को विकसित कर क्या उसके मानवीय व्यक्तित्व का हनन नहीं करते ?

(३) साथ ही आदर्श राज्य में उत्पादक वर्ग की पूर्ण अवहेलना की गई है। इसलिये इस बात की आशंका हो सकती है कि यह वर्ग शासक वर्ग से असन्तुष्ट रहे।

इन भूलों के होते हुए भी प्लेटो अपने उद्देश्य में सफल रहा है। समकालीन राज्यों में उसने वर्ग-संघर्ष, धन लोलुपता शासकों की अक्षमता व अमीर-गरीब के संघर्ष देखे थे। उसका आदर्श राज्य इन दोषों से मुक्त है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग समाज की भलाई के लिए अपना-अपना कार्य करता है, दूसरे के कार्य से उसे कोई मतलब नहीं है। इसलिये आदर्श राज्य में वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहकारिता है। जिसमें शासक वर्ग निरंकुश न हो जाये और शासन सत्ता किसी वर्ग-विशेष की बपौती न बन जाए, इसके लिए उसने प्राकृतिक क्षमता के आधार पर वर्ग बदलने का प्रावधान भी किया है। शासक वर्ग में साम्यवाद रख और शासक-वर्ग को आर्थिक-वर्ग से अलग रख उसने अमीर-गरीब के संघर्ष और शासक-वर्ग की धन-लोलुपता को समाप्त किया है।

आलोचना

प्रत्येक वर्ग को केवल एक ही कार्य से सम्बद्ध करने के कारण
(१) राज्य में दो समाज हो जायेंगे।
(२) व्यक्ति आत्मा के तीनों गुणों का विकास न कर सकेगा।
(३) आर्थिक वर्ग की अवहेलना की गई है।
पर इस आदर्श राज्य में वर्ग सहकारिता होगी और आर्थिक राजनैतिक शक्तियों को अलग अलग रखा गया है।

(६)

प्लेटो की शिक्षा और साम्यवादी व्यवस्था

व्यक्ति मे सद्गुण के विकास के लिए प्लेटो दो बातों की आवश्यकता मानता है।

(१) जन्मजात क्षमतायें या स्वाभाविक प्रवृत्ति और

(२) इस प्रवृत्ति को विकसित करने के लिये उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था।

इसलिए वह अपने समाज में साम्यवादी और विशेष प्रकार की शिक्षा का आयोजन करता है। शिक्षा और साम्यवाद एक दूसरे के पूरक हैं।

शिक्षा का स्वरूप सकारात्मक है और साम्यवाद का नकारात्मक क्योंकि शिक्षा के द्वारा आत्मा भिन्न-भिन्न विकास की अवस्थाओं में ऐसे वातावरण में लाई जाती है, जिससे आत्मा का विकास हो सके। शिक्षा वास्तव में एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, और उसकी आत्मा को अन्तिम सत्य के दर्शन होते हैं। इस प्रकार शिक्षा के दो पहलू हैं, सामाजिक नैतिकता विकसित करना और सत्य का दर्शन कराना। इस प्रकार शिक्षा आत्मा को सद्गुण की तरफ प्रेरित करती है।

साम्यवाद का नकारात्मक कार्य है। साम्यवादी व्यवस्था के द्वारा सामाजिक वातावरण से उन तत्वों को हटाया गया है, जो आत्मा के समुचित विकास में बाधक हैं। कौटुम्बिक साम्यवाद द्वारा मनुष्य की उचित जन्मजात क्षमताओं को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त—

रिपब्लिक में शिक्षा का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि रूसो इसे शिक्षा पर लिखा गया ग्रन्थ मानता है। अपनी शिक्षा व्यवस्था में प्लेटो एथेन्स का पाठ्यक्रम और स्पार्टा की व्यवस्था का मेल करता है। एथेन्स में शिक्षा-कार्य कुटुम्ब की जिम्मेवारी थी और शिक्षा का पाठ्यक्रम विविध विषयों से सम्बंधित था इसलिये मनुष्य जैसी शिक्षा चाहता था वैसी ले सकता था। इसमें विविधता तो थी परन्तु स्वतन्त्र विचार-धारा को जन्म देने के कारण यह अच्छे नागरिक को नहीं बरन् उच्छृङ्खल व्यक्तिवादियों को जन्म देती थी। स्पार्टा में सात वर्ष की आयु के पश्चात् बच्चे कुटुम्ब से ले लिये जाते थे और उन्हें मुख्यतया

सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। इससे उत्साह का विकास होता था मस्तिष्क का नहीं। ऐथेन्स की विशिष्टता अपना कर प्लेटो शिक्षा के द्वारा मनुष्य का पूर्ण विकास चाहता है, साथ ही वह इस पर स्पार्टा का सामाजिक नियन्त्रण रखता है, जिससे व्यक्ति उच्छृङ्खल न हों वरन् समाज में नागरिक बनकर अपने स्वाभानुसार काम कर सकें। शिक्षा-व्यवस्था द्वारा प्लेटो का उद्देश्य न केवल अच्छे सैनिक और दार्शनिक राजाओं का निर्माण करना है, वरन् मस्तिष्क का इस प्रकार विकास करना है कि वह सत्य के दर्शन कर सके।

प्लेटो के अनुसार आत्मा की अपने वातावरण के प्रति अनुक्रिया शिक्षा है, इसलिए शिक्षक को उचित वातावरण उपस्थित करना चाहिए, जिसमें आत्मा क्रियाशील हो तथा अच्छी वस्तुओं की ओर आकर्षित हो सके। आत्मा के अन्त'चक्षुओं को बाह्य-प्रकाश की ओर ले जाना शिक्षा का कार्य है, इसलिये शिक्षा जीवन-पर्यन्त चल सकती है। शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य आत्मा का ठीक विकास है। मस्तिष्क बुद्धि के कारण एक इकाई है, इसीलिये मस्तिष्क केवल एक अंतिम लक्ष्य—अच्छाई की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। अच्छाई की विशुद्ध धारणा प्राप्त करना ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

शिक्षा की अवस्थायें—

प्रारम्भिक वर्षों की शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं और संवेगों को संतुलित कर चरित्र-निर्माण करना है। इस काम में शिक्षा उत्साह को बढ़ाती है, जो सैनिकों का गुण होता है, और सैनिक कार्यों के लिये व्यक्ति को उपयुक्त बनाती है। इस समय शिक्षा के पाठ्यक्रम में दो प्रमुख विषय होंगे—(१) व्यायाम और (२) संगीत

परंतु व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरतें ही नहीं है। शरीर का पूर्ण विकास व्यायाम के अन्तर्गत आता है और इस दृष्टि से भोजन और चिकित्सा का ज्ञान व्यायाम के अन्तर्गत है। व्यायाम के द्वारा मनुष्य में सहन-शक्ति और साहस आता है, इससे शरीर अच्छा रहता है।

मन की शिक्षा के लिये संगीत आवश्यक है। संगीत भावनाओं को परिष्कृत करता है और बुद्धि की गुप्त शक्तियों को जाग्रत करता है। संगीत शब्द का उपयोग भी प्लेटो व्यापक अर्थ में करता है और नृत्य साहित्य तथा कविता पाठ संगीत के अन्तर्गत रखता है। कविता की लय बाजों की झंकार, चित्र व

शिल्प कला की रंगीनियाँ बच्चों के मन को आकर्षित करती हैं। इसलिये प्रचलित साहित्य में जो अनीतिकता है, उसे दूर करना आवश्यक है जिससे अधीत पाठकों का नैतिक विकास कर सके।

व्यायाम और संगीत की शिक्षा ६ वर्ष से आरंभ होकर १८ वर्ष की आयु तक चलेगी और राज्य इसका संचालन करेगा। १८ से २० वर्ष की आयु तक साहस आत्म-नियंत्रण और अनुशासन की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिये सैनिक शिक्षा होगी। २० वर्ष के बाद संरक्षक वर्ग का चुनाव होगा और जो परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे उन्हें उच्च शिक्षा दी जायेगी।

स्त्री और पुरुष दोनों ही उच्च शिक्षा में भाग ले सकेंगे। यह शिक्षा १५ वर्ष तक चलेगी। पहिले दस वर्ष में शिक्षा का विषय नैतिक शास्त्र और गणित होगा। तीस वर्ष की आयु में जो परीक्षा होगी उसमें विफल होने वाले राज्य के साधारण अफसर होंगे और सफल विद्यार्थियों को न्याय और गणित की ५ वर्ष तक शिक्षा दी जायेगी जिसके बाद वे राज्य के शासक बनेंगे। गणित और तर्कशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को इन्द्रिय-जगत से विचार-जगत में ले जाना है और इनके अध्ययन के पश्चात् ही व्यक्ति अच्छाई के विशुद्ध विचार को प्राप्त करने की क्षमता पा सकता है।

शिक्षा

उद्देश्य—सामाजिक नैतिकता; सत्य का दर्शन।

संगठन—एथेन्स की विशिष्टता और स्पार्टा का सामाजिक नियंत्रण।

पाठ्यक्रम—

- ६ वर्ष से १८ वर्ष आयु तक—भावनाओं और आत्मा के विकास के लिए संगीत और व्यायाम।
- १८ से २० वर्ष आयु तक—अनुशासन के लिए सैनिक शिक्षा; परीक्षा और संरक्षकों का चुनाव।
- ३० वर्ष आयु तक—गणित और नक्षत्र शास्त्र परीक्षा—असफल नागरिक साधारण अफसर, सफल नागरिक उच्च शिक्षा।
- ३५ वर्ष आयु तक—न्याय और गणित।
- ५० वर्ष आयु तक—शासक के रूप में व्यावहारिक अनुभव। इसके बाद सत्य का चिन्तन।

यह शासक-वर्ग दार्शनिक राजा नहीं है। शासक वर्ग १५ वर्ष तक समाज का अनुभव प्राप्त करेगा और उसके बाद चिन्तन में लगेगा। चिन्तन ही दार्शनिक

राजा बनाती है। शासन-कार्य के द्वारा व्यक्ति समाज के स्वरूप को समझ सकता है। उसमें काम करने की क्षमता आ सकती है और तभी दार्शनिक राजा बनने पर वह समाज का निर्देशन कर सकता है।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था—

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का नकारात्मक और पूरक भाग है। आध्यात्मिक सुधार के लिए हमें अनुकूल भौतिक और आर्थिक व्यवस्था चाहिये। इन्हीं के द्वारा हमारा सुधार स्थायी हो सकता है। इसलिये साम्यवादी व्यवस्था की आवश्यकता है। अरस्तू इस नई सामाजिक व्यवस्था की बड़ी तीव्र आलोचना करता है। उसका कहना है कि सामाजिक सुधार शिक्षा के द्वारा हो सकते हैं क्रांतिकारी भौतिक परिवर्तन द्वारा नहीं। प्लेटो शिक्षा के महत्व को मानता है और उसकी साम्यवादी व्यवस्था केवल शिक्षा की पूरक है।

साम्यवादी व्यवस्था का विचार प्लेटो का पूर्ण मौलिक विचार नहीं है। स्पार्टा में यद्यपि निजी संपत्ति की व्यवस्था थी परंतु उपभोग सामूहिक होता था और वहां के नागरिक सहभोज में भाग लेते थे। एथेंस में भी वैयक्तिक संपत्ति पर राज्य का नियन्त्रण काफी था। सिद्धान्त के रूप में भी साम्यवाद की धारणा प्लेटो के पूर्व प्रचलित थी। एथेन्स में कुछ लोग प्राकृतिक जीवन के पक्ष में थे जिसमें व्यक्ति कृत्रिम नियमों से स्वतन्त्र हो सकें। पाइथागोरस के आश्रम में भी साम्यवादी व्यवस्था थी।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था प्राकृतिक व्यवस्था की ओर ले जाने वाली व्यवस्था नहीं है, क्योंकि वह समाज को कृत्रिम नहीं समझता और न व्यक्तियों को सामाजिक बंधन से मुक्त करना चाहता है। उसका उद्देश्य नैतिक और मनोवैज्ञानिक है। चूंकि धर्म की भावना में संरक्षक वर्ग को आर्थिक वर्ग के काम में नहीं पड़ना चाहिए इसलिये विवेक और उत्साह के प्रतिनिधि संरक्षक वर्ग को आर्थिक पक्ष को तिलांजलि दे साम्यवादी व्यवस्था में रहना चाहिये। इस व्यवस्था के आयोजन में प्लेटो का व्यावहारिक और राजनैतिक दृष्टिकोण रहा है। क्योंकि राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का एक हाथ में होना राज्य के लिये घातक है। इसलिये बार्कर कहता है कि साम्यवाद का सिद्धान्त यदि व्यावहारिक है तो वह दार्शनिक भी है यदि वह अनुभव पर आधारित है, तो वह रिपब्लिक में आच्छादित विशिष्ट कार्य के सिद्धान्त पर भी आधारित है।

प्लेटो लिखता है कि यदि संरक्षकों को अपने गुण कायम रखने हैं तो, यह आवश्यक है कि उनके पास 'कोई निजी संपत्ति न होनी चाहिये निजी मकान या भंडारगृह न होना चाहिये—— उनके खाद्यान्न केवल उतने ही होना चाहिये, जो साहसी एवं संयमी युवक सिपाही के लिये आवश्यक हों।" संरक्षकों को वार्षिक खर्च के लिये एक निश्चित रकम दी जायेगी जिससे संरक्षक सरल जीवन व्यतीत कर सकें। संरक्षक वर्ग एक साथ भोजन करेगा एक साथ शिविरों में रहेगा। ईश्वर ने उनके अन्तर में सोना चाँदी दिया है, दैविक धातु उनके भीतर है, तब वे इन भौतिक धातुओं को लेकर क्यों आंतरिक दैवी धातु को गंदा करें? यदि उनके पास सम्पत्ति होगी, तो वे "अन्य नागरिकों के दोस्त न रहकर शत्रु बन जायेंगे वे घृणा करेंगे, घृणा के पात्र बनेंगे।" आंतरिक शत्रुओं से उन्हें चिंता लगी रहेगी।

साम्यवादी व्यवस्था

शिक्षा व्यवस्था की पूरक।

समकालीन सिद्धान्तों तथा प्रचलित संस्थाओं पर आधारित।

उसका उद्देश्य नैतिक तथा यह व्यवस्था 'धर्म' से सम्बन्धित।

जिनमें दैवीय सोना चाँदी है उन्हें भौतिक धातुओं की क्या आवश्यकता?

कौटुम्बिक साम्यवाद से स्त्रियों की सेवायें तथा अच्छी सन्तान राज्य को प्राप्त हो सकेंगी।

पर इससे राज्य में दो सामाजिक व्यवस्थायें बनती हैं।

उनका न तो निजी मकान होगा न कुटुम्ब। स्त्रियाँ अलग शिविरों में रहेंगी और वे समान रूप से सब संरक्षकों की स्त्रियाँ होंगी। अच्छी संतान के लिये समय-समय पर सहवास होंगे और एक समय में उत्पन्न बच्चे सबके बच्चे कहे जायेंगे। इस प्रकार संरक्षक दो चार बच्चों से नहीं वरन् सबसे बराबर प्रेम रखेंगे। तभी संरक्षक वर्ग को पूरे राज्य की भलाई सोचने का अभ्यास होगा।

कौटुम्बिक जीवन की साम्यवादी व्यवस्था बड़ी क्रांतिकारी है परन्तु यह संपत्ति की साम्यवादी व्यवस्था पर आधारित है। यदि निजी मकान और निजी संपत्ति नहीं रहेगी तो कुटुम्ब व्यवस्था कैसे रह सकती है? फिर कौटुम्बिक व्यवस्था संकुचित कौटुम्बिक प्रेम बढ़ाती है। तीसरे कौटुम्बिक व्यवस्था से स्त्रियों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता इस प्रकार राज्य को आधे नागरिकों की सेवा नहीं मिल पाती।

परन्तु, प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था का बड़ा विरोध करता है। उसका कहना है कि संरक्षक वर्ग में साम्यवादी व्यवस्था है, और आर्थिक वर्ग में निजी संपत्ति की व्यवस्था इसलिये दो सामाजिक व्यवस्थाओं के होने से राज्य दो भागों में बट जाता है और राज्य की एकता संभव नहीं हो सकती। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि यद्यपि आर्थिक वर्ग में साम्यवादी व्यवस्था न होगी फिर भी उनकी संपत्ति पर सामाजिक नियंत्रण रहेगा। आर्थिक वर्ग में प्रतियोगिता न हो सकेगी न कोई शोषण होगा और न कोई बहुत अमीर व बहुत गरीब होगा। पर यह सब आत्म नियंत्रण के गुण के कारण होगा, साम्यवाद के कारण नहीं।

प्लेटो का साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद—

प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद में बड़ा अन्तर है—

१ आधुनिक साम्यवाद आर्थिक और भौतिकवादी आधार शिला पर बना है, जबकि प्लेटो का साम्यवाद दार्शनिकता और धर्म की भावना के आधार पर है।

२ प्लेटो का साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग के लिये है। आर्थिक वर्ग में वैयक्तिक संपत्ति का अधिकार है। इस प्रकार प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग के लिये नहीं है और समाज का आर्थिक ढांचा वैयक्तिक है, साम्यवादी नहीं। आधुनिक साम्यवाद पूरे आर्थिक ढांचे को साम्यवादी बनाने के पक्ष में है।

३ प्लेटो का साम्यवाद उत्पादन के क्षेत्र में नहीं केवल संरक्षकों के उपभोग के क्षेत्र में है। इसका उद्देश्य है कि संरक्षक वर्ग भौतिक वस्तुओं की इच्छा न करे, सरल जीवन व्यतीत करे, जिसमें वे विवेक द्वारा निःस्वार्थी हो शासन कर सकें। आधुनिक साम्यवाद उत्पादन और उपभोग दोनों से संबन्धित है। इसका उद्देश्य है कि भौतिक वस्तुओं का न्यायोचित वितरण हो जिसमें सभी संपन्न हों और सभी वस्तुओं का उपभोग कर सकें। जहां प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य है कि प्रत्येक वर्ग अपना कार्य ठीक कर सके वहां आधुनिक साम्यवाद का उद्देश्य है कि प्रत्येक को उचित पुरस्कार मिले।

४ प्लेटो का साम्यवाद कुलीनतंत्रीय है। आधुनिक साम्यवाद प्रजातंत्रीय है। आधुनिक साम्यवाद प्राथमिक रूप से आर्थिक कार्यक्रम को सामने रखता है और राजनैतिक कार्यक्रम को द्वितीय स्थान देता है। प्लेटो का ध्येय प्राथमिक

रूप से राजनैतिक है, और अप्रत्यक्ष रूप से ही आर्थिक। इसका उद्देश्य है संपत्ति को सीमित करना न कि सम्पत्ति बढ़ाना।

६. आधुनिक साम्यवाद कौटुम्बिक साम्यवाद से संबन्धित नहीं है।

प्लेटो और आधुनिक साम्यवाद में इतना अधिक अंतर है कि कोई भी आधुनिक साम्यवादी प्लेटो के साम्यवादी जीवन को अपनाना नहीं चाहेगा। फिर भी दोनों में कुछ समानतायें हैं। प्लेटो न्याय की मांग करता है पर उस न्याय की जो कार्यों के विशिष्टीकरण में निहित है। आधुनिक साम्यवादी भी न्याय की मांग करता है, पर उस न्याय की जिसका अर्थ है उत्पादन के साधनों का समाजीकरण और वस्तुओं का समान वितरण। आधुनिक साम्यवाद और प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य एक ही है, सामाजिक एकता। दोनों ही स्वार्थ युक्त प्रतिद्वन्दता को समाप्त करना चाहते हैं।

प्लेटो के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद में अन्तर

प्लेटो का साम्यवाद	आधुनिक साम्यवाद
(१) नैतिक आधार।	(१) आर्थिक आधार।
(२) संरक्षक वर्ग के लिये।	(२) पूरे समाज के लिये।
(३) उपभोग क्षेत्र में।	(३) उत्पादन और उपभोग दोनों क्षेत्रों में।
(४) कुलीनतंत्रीय।	(४) प्रजातंत्रीय।
(५) प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक।	(५) प्रमुख उद्देश्य आर्थिक।
(६) कौटुम्बिक साम्यवाद।	×

दोनों का उद्देश्य सामाजिक न्याय और एकता।

(७)

प्लेटो की अरस्तू द्वारा आलोचना

प्लेटो की रिपब्लिक की सबसे सुन्दर आलोचना उसके शिष्य अरस्तू ने की है। वह लिखता है—

(१) प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में तीन वर्गों को बनाकर राज्य के संपूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन नहीं किया है। उसका ध्यान केवल संरक्षक वर्ग पर ही रहा है। इसलिये राज्य के स्थायित्व की आशा वह किस प्रकार कर

सकता है, जब उसने उन नियमों की चर्चा ही नहीं की है जिनके द्वारा भिन्न भिन्न वर्ग सामंजस्यता रखेंगे और आपस में मिलकर काम करेंगे।

(२) राज्य का आधार कुटुम्ब है और राज्य के लिये वैयक्तिक संपत्ति भी आवश्यक है। प्लेटो के साम्यवाद में कुटुम्ब और संपत्ति दोनों ही लुप्त कर दिये गये हैं, तब मनुष्य के जीवन में क्या आकर्षण है, वह किस बात के लिये कार्य करेगा? अरस्तू के अनुसार प्लेटो की रिपब्लिक में मनुष्य को कार्य करने की कोई प्रेरणा नहीं है।

(३) संरक्षक वर्ग को न तो कौटुम्बिक सुख है, न संपत्ति का सुख। यह वर्ग व्यक्तिगत सुख से वंचित रहेगा। यदि राज्य का एक वर्ग सुख से वंचित रहता है—और वह भी शासक वर्ग—तो राज्य सुख की प्राप्ति कैसे कर सकता है? पूर्णता अंशों से मिलकर बनती है और यदि एक भाग सुखी नहीं है, तो पूरा राज्य कैसे सुखी बन सकता है? अरस्तू इस बात को नहीं मानता कि संरक्षक वर्ग निःस्वार्थ भाव से राज्य की सेवा कर सकेगा।

रिपब्लिक और विधि का शासन

अरस्तू की इन आलोचनाओं के साथ हम एक और आलोचना जोड़ सकते हैं, कि प्लेटो के विचार पूर्ण रूप से क्रांतिकारी हैं। यूनान में नियमों का शासन सर्वश्रेष्ठ शासन माना जाता था परन्तु प्लेटो इस परंपरागत विचार को छोड़ देता है।

प्लेटो विशुद्ध ज्ञान द्वारा संचालित शासन में बड़ा विश्वास रखता था। क्योंकि यद्यपि विधि और रीति-रिवाज कई पीढ़ियों का संचित ज्ञान है, फिर भी इनके द्वारा जो शासन होता है, उसमें कई कठिनाइयाँ हैं—

(अ) विधि एक सामान्य व्यवस्था के लिये ही उपयुक्त है और वह सामान्य परिस्थितियों तथा औसत आदमियों का काम चला सकती है। पर जीवन अधिक जटिल है। एक परिस्थिति दूसरी परिस्थिति से भिन्न होती है और एक

आलोचना

(१) केवल संरक्षक वर्ग का अध्ययन।
(२) आर्थिक वर्ग की उपेक्षा।
(३) उन नियमों की उपेक्षा जिनसे विभिन्न वर्गों में सहयोग हो सके।
(४) कुटुम्ब और सम्पत्ति (व्यक्ति के दो मार्गदर्शन) का अभाव।
(५) यदि वर्ग सुखी नहीं है तो राज्य कैसे सुखी हो सकता है।
(६) विधि के शासन की उपेक्षा।

मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न। सामान्य परिस्थितियाँ और औसत मनुष्य इस कठिन संसार में कल्पना की वस्तु हैं। इसलिये प्रत्येक २ परिस्थितियों के उपयुक्त बनाने के लिये इन विधियों में संशोधन की आवश्यकता होती है। इसलिये विधियों के ज्ञान से परे मनुष्य का सीमित ज्ञान है। प्लेटो लिखता है कि "यदि कोई दक्ष शासक पैदा होता है, तो उसके लिये नियमों की जरूरत नहीं क्योंकि कोई भी नियम ज्ञान से अधिक शक्तिशाली नहीं है। विधि और ज्ञान का संबंध हम पेटैंट दवाई और डाक्टर की उपमा से स्पष्ट कर सकते हैं। पेटैंट दवाई की तुलना में डाक्टर सदैव अच्छा रहेगा।

(ब) विधियों का शासन इसलिये भी अच्छा नहीं क्योंकि हम विधियों को अन्धविश्वासी होकर मानते हैं, उनके वास्तविक अर्थ और हेतु की परवाह नहीं करते। वास्तविक ज्ञान किसी भी संस्था के 'क्यों' और 'कैसे' से संबंध रखता है। इसलिये यह ज्ञान विधियों में निहित ज्ञानतत्व को प्रकाश में लाता है। सत्तेप में दार्शनिकों का ज्ञान विधियों के ज्ञान से ऊँचा है। क्योंकि इनके द्वारा हम संस्थाओं का उद्देश्य समझ सकते हैं।

(स) विधियों में परिवर्तन केवल परिस्थितियों के अनुसार होता है, जीवन के अन्तिम लक्ष्य को सामने रखकर नहीं। यदि हमने अपने जीवन का लक्ष्य सदाचार-निष्ठ जीवन बनाया है, तो हमें इस लक्ष्य को सामने रखकर ही बुद्धि के सहारे अपने जीवन और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करना होगा।

(८)

लॉज में विधि की स्थापना

लॉज प्लेटो की वृद्धावस्था की कृति है। इसमें वह प्रचलित यूनानी विचार धारा को अपनाते हुए विधि के शासन की व्यवस्था करता है। कहते हैं कि प्लेटो ने अपने जीवन काल में स्वयं यह अनुभव किया था कि दार्शनिक राजाओं का होना इस संसार में संभव नहीं है। इसलिये वह लॉज में अधिक व्यावहारिक राज्य-व्यवस्था देता है, और यूनानी नगर-राज्यों में विधि और रीति रिवाजों को जो स्थान प्राप्त था वह स्थान विधियों को प्रदान करता है। 'यदि प्लेटो दार्शनिक शासक नहीं पा सका है जो बिना विधि के राज्य कर सकें तो कम से कम वह विधि का राज्य तो स्थापित कर सकता है और विधि का तो

दार्शनिक बना सकता है। यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन हमें नहीं हो सकता है—तो कम से कम विधि में उसकी छाया तो दिखाई दे सकती है।

लॉज और रिपब्लिक के विचारों में भिन्नता—

रिपब्लिक में जहाँ विशुद्ध ज्ञान को शासन-सत्ता दी गई है, लॉज में वह शासन-सत्ता विधि को दी गई है। प्लेटो इस काल में भी विशुद्ध ज्ञान की सत्ता वाले राज्य को आदर्श राज्य मानता है, परन्तु विधि का राज्य अधिक व्यावहारिक है। यह भी आदर्श के निकट है। इसलिये विधि के शासन को भी वह सर्वोत्तम मानता है और उसे द्वितीय स्थान देता है।

इस तरह लॉज में प्लेटो द्वितीय सर्वोत्तम राज्य की चर्चा करता है।

परन्तु इस परिवर्तन के कारण लॉज की पूरी व्यवस्था में परिवर्तन आ गया है—

(क) रिपब्लिक का मूल सिद्धान्त धर्म था लॉज का मूल सिद्धान्त आत्म-नियन्त्रण है।

लॉज की विशेषता

(१) विधि की स्थापना।
(२) व्यावहारिक आदर्श द्वितीय सर्वोत्तम।
(३) मूल-सिद्धांत—आत्म नियंत्रण।
(४) व्यक्तिगत सम्पत्ति कौटुम्बिक व्यवस्था का आयोजन, यद्यपि राज्य का नियंत्रण।
(५) मिश्रित राज्य-व्यवस्था (राजतन्त्र और प्रजातन्त्र)।
(६) सामंजस्यता द्वारा एकता।

(ख) रिपब्लिक के संरक्षक नियमों से स्वतंत्र थे लॉज के शासक नियमों के आधीन हैं।

(ग) रिपब्लिक में राजनैतिक और आर्थिक शक्तियां अलग-२ थीं। दार्शनिकों का सम्पत्ति और कुटुम्ब से संबंध नहीं था परंतु लॉज में आर्थिक और राजनैतिक शक्ति का मेल हुआ है और उचित मिश्रण से राज्य की एकता स्थापित की गई है।

(घ) रिपब्लिक में प्रत्येक वर्ग अपना ही कार्य करता है और एक वर्ग के लिये दूसरे वर्ग के कार्य में हाथ बँटाना उचित नहीं समझा गया था। लॉज में मिश्रित सरकार का आयोजन हुआ है जिसमें भिन्न २ वर्गों का समुचित मेल हुआ है। इस प्रकार—

(क) रिपब्लिक में जहाँ भिन्नता द्वारा एकता स्थापित हुई है, वहाँ लॉज में सामंजस्यता द्वारा एकता स्थापित हुई है।

मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न । सामान्य परिस्थितियाँ और औसत मनुष्य इस जटिल संसार में कल्पना की वस्तु है । इसलिये समय २ परिस्थितियों के उपयुक्त बनाने के लिये हम विधियों में संशोधन की आवश्यकता होती है । इसलिये विधियों के ज्ञान से परे मनुष्य का जीवित ज्ञान है । प्लेटो लिखता है कि 'यदि कोई दक्ष शासक पैदा होता है, तो उसके लिये नियमों की जरूरत नहीं क्योंकि कोई भी नियम ज्ञान से अधिक शक्तिशाली नहीं है । विधि और ज्ञान का संबंध हम पेटेंट दवाई और डाक्टर की उपमा से स्पष्ट कर सकते हैं । पेटेंट दवाई की तुलना में डाक्टर सदैव अच्छा रहेगा ।

(ब) विधियों का शासन इसलिये भी अच्छा नहीं, क्योंकि हम विधियों को अन्धविश्वासी होकर मानते हैं, उनके वास्तविक अर्थ और हेतु की परवाह नहीं करते । वास्तविक ज्ञान किसी भी संस्था के 'क्यों' और 'कैसे' से संबंध रखता है । इसलिये यह ज्ञान विधियों में निहित सत्यतत्त्व को प्रकाश में लाता है । संक्षेप में दार्शनिकों का ज्ञान विधियों के ज्ञान से ऊँचा है । क्योंकि इनके द्वारा हम संस्थाओं का उद्देश्य समझ सकते हैं ।

(स) विधियों में परिवर्तन केवल परिस्थितियों के अनुसार होता है, जीवन के अन्तिम लक्ष्य को सामने रखकर नहीं । यदि हमने अपने जीवन का लक्ष्य सदाचार-निष्ठ जीवन बनाया है, तो हमें इस लक्ष्य को सामने रखकर ही बुद्धि के सहारे अपने जीवन और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करना होगा ।

(८)

लॉज में विधि की स्थापना

लॉज प्लेटो की वृद्धावस्था की कृति है । इसमें वह प्रचलित यूनानी विचार धारा को अपनाते हुए विधि के शासन की व्यवस्था करता है । कहते हैं कि प्लेटो ने अपने जीवन काल में स्वयं यह अनुभव किया था कि दार्शनिक राजाओं का होना इस संसार में संभव नहीं है । इसलिये वह लॉज में अधिक व्यावहारिक राज्य-व्यवस्था देता है, और यूनानी नगर-राज्यों में विधि और रीति-रिवाजों को जो स्थान प्राप्त था वह स्थान विधियों को प्रदान करता है । 'यदि प्लेटो दार्शनिक शासक नहीं पा सका है जो बिना विधि के राज्य कर सकें तो कम से कम वह विधि का राज्य तो स्थापित कर सकता है और विधि का ही

दार्शनिक बना सकता है। यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन हमें नहीं हो सकता है— तो कम से कम विधि में उसकी छाया तो दिखाई दे सकती है।"

लॉज़ और रिपब्लिक के विचारों में भिन्नता—

रिपब्लिक में जहाँ विशुद्ध ज्ञान को शासन-सत्ता दी गई है, लॉज़ में यह शासन-सत्ता विधि को दी गई है। प्लेटो इस काल में भी विशुद्ध ज्ञान की सत्ता वाले राज्य को आदर्श राज्य मानता है, परन्तु विधि का राज्य अधिक व्यावहारिक है। यह भी आदर्श के निकट है। इसलिये विधि के शासन को भी वह सर्वोत्तम मानता है और उसे द्वितीय स्थान देता है।

इस तरह लॉज़ में प्लेटो द्वितीय सर्वोत्तम राज्य की चर्चा करता है।

परन्तु इस परिवर्तन के कारण लॉज़ की पूरी व्यवस्था में परिवर्तन आ गया है—

(क) रिपब्लिक का मूल सिद्धान्त धर्म था लॉज़ का मूल सिद्धान्त आत्म नियंत्रण है।

(ख) रिपब्लिक के संरक्षक नियमों से स्वतंत्र थे, लॉज़ के शासक नियमों के अधीन हैं।

(ग) रिपब्लिक में राजनैतिक और आर्थिक शक्तियाँ अलग-२ थीं। दार्शनिकों का संपत्ति और कुटुम्ब से सम्बन्ध नहीं था परन्तु लॉज़ में आर्थिक और राजनैतिक शक्ति का मेल हुआ है और उचित मिश्रण से राज्य की रचना स्थापित की गई है।

(घ) रिपब्लिक में प्रत्येक वर्ग अपना ही कार्य करता है और एक वर्ग के लिए दूसरे वर्ग के कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा जाता था। लॉज़ में मिश्रित शासन का आयोजन हुआ है, जिसमें भिन्न २ वर्गों का समुचित मेल हुआ है। इस प्रकार—

(ङ) रिपब्लिक में जहाँ विभाजन द्वारा एकता स्थापित हुई है, वहाँ लॉज़ में सामंजस्य द्वारा एकता स्थापित हुई है।

लॉज़ की विशेषता

(१) विधि की स्थापना।
(२) व्यावहारिक आदर्श, द्वितीय सर्वोत्तम।
(३) मूल-सिद्धांत—आत्म नियंत्रण।
(४) व्यक्तिगत सम्पत्ति, कौटुम्बिक व्यवस्था का आयोजन यद्यपि राज्य का नियंत्रण।
(५) मिश्रित राज्य-व्यवस्था (राजतन्त्र और प्रजातन्त्र)।
(६) सामंजस्यता द्वारा एकता।

(च) रिपब्लिक में शासकों के लिये साम्यवाद की व्यवस्था है और शासकों की न तो निजी संपत्ति है और न अपना कुटुम्ब। शासक शिविरों में रहेंगे और सहभोज करेंगे। लॉज में शासकों के लिये सहभोज की प्रथा तो रखी गई है, परन्तु शासक अपना कुटुम्ब व अपनी निजी संपत्ति रखेंगे। इसी तरह प्रजा को भी शासकों को चुनने में राजनैतिक अधिकार दिये गये हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लॉज की शासन-व्यवस्था विभिन्न तत्वों के पृथक्कीकरण से नहीं वरन् मिश्रण से बनी है। इस व्यवस्था का मूल मंत्र है सहानुभूति संयम और आत्म-नियंत्रण।

विधि का स्वरूप—

आधुनिक काल में हम विधान-मंडलों द्वारा पारित प्रस्तावों को विधि कहते हैं। प्लेटो विधि का यह अर्थ नहीं लेता। वह समाज के रीति रिवाजों को विधि कहता है। चूँकि रीति रिवाजों का मुख्य लक्ष्य समाज में अच्छे जीवन की प्रतिष्ठा करना है इसलिये विधियाँ नैतिक-सिद्धान्त हैं, जो हमारे जीवन को सदाचारी बनाती हैं। इनके मानने से मनुष्य नैतिक बन सकता है। विधि के द्वारा मनुष्य में आत्मनियंत्रण की भावना जागृत होती है, और वह बुद्धि के द्वारा अपनी वासनाओं को व्यवस्थित और नियंत्रित करता है। आत्म नियंत्रण की भावना जागृत होते ही मनुष्य स्वभाव से ऐसे कार्य करता है, जो मनुष्योचित होते हैं—जो उसे करना चाहिये—और ऐसी वस्तुओं से घृणा करने लगता है, जो बुरी हैं। इस प्रकार विधि के पालने से मनुष्य अपने को सदाचारी बना सकता है और अपनी निम्न इच्छाओं से अपने को स्वतन्त्र रख सकता है। चूँकि विधियाँ उचित ज्ञान हैं, इसलिये प्लेटो के अनुसार विधि की धारणा में 'ज्ञान' और 'स्वतन्त्रता' दोनों का समन्वय हुआ है। ध्यान में रखने की बात है कि रिपब्लिक में प्लेटो ने ज्ञान की निरंकुशता स्थापित की है, लॉज में वह प्रजा की स्वतंत्रता का भी ध्यान रखता है।

चूँकि विधियाँ अच्छे जीवन या सदाचार को व्यक्त करती हैं इसलिये वे हमारी सभ्यता की प्रतीक हैं। प्राकृतिक जीवन में जब मनुष्य चरागाह-पोषण में ही लगा था विधियों की आवश्यकता न थी। विधियाँ मनुष्य के अच्छे जीवन के लिये आवश्यक हैं, क्योंकि हमारी बुद्धि यह नहीं जानती कि अच्छा जीवन क्या है और यदि हम अच्छे जीवन को जान भी लें तो उस कठिन मार्ग पर चलना पसंद नहीं करते। विधि अच्छाई को व्यक्त करती है उस अच्छाई को भी उसके लिये आवश्यक है। इसलिये एक ओर तो वे नागरिकों

को इस भलाई की धारणा द्वारा एकता के सूत्र में बाँधती है, दूसरी ओर हमें अच्छे रास्ते पर चलने को बाध्य करती है। प्लेटो सिखाता है कि मनुष्य कठ-पुतली के समान है, जो भिन्न-२ इच्छाओं रूपी धागों के द्वारा विरोधी दिशाओं में खींचा जाता है। राज्य की विधियों का सुनहरी और पवित्र धागा ही हमें अच्छे पथ पर ले जाता है।

विधियां सब वर्गों सभी स्त्री-पुरुषों के साथ समानता का बर्ताव करती हैं, और सबके हितों को समान रूप से पूरा करती हैं। प्रजातन्त्र में शासक और शासित वर्गों में खिंचाव हो सकता है, दलगत स्वार्थ हो सकता है, परन्तु विधि के राज्य में किसी एक ही पक्ष का स्वार्थ साधन नहीं हो सकता।

विधियों का शासन तभी समय संभव है, जब विधियां बदली न जांय। यदि विशेष परिस्थितियों में विधियों में संशोधन करने की आवश्यकता पड़ ही जाय तो हमें विधि के अन्तर्निहित सिद्धान्तों में परिवर्तन न होने देना चाहिये।

लॉज की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था—

लॉज की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था अधिक व्यावहारिक है। प्लेटो के इस द्वितीय सर्वोत्तम आदर्श के अनुसार राज्य को समुद्र के किनारे से दूर पहाड़ियों के बीच बसाना चाहिये। इसकी जनसंख्या ५०४० होना चाहिये। राज्य में १२ वर्ग हों और राज्य परिषद में १२ कमेटियां। प्रत्येक कमेटी साल में एक बार शासन कार्य करे। चूंकि राज्य का आधार मिश्रण है, इसलिये भिन्न २ वर्गों और जातियों के बीच विवाह होंगे। चूंकि अधिक गरीबी और संपत्ति राज्य में संघर्ष उत्पन्न करती है, इसलिये भूमि को भी ५०४० भागों में विभक्त किया जायगा और प्रत्येक व्यक्ति को एक भाग मिलेगा। कोई व्यक्ति अधिक से अधिक चौगुनी संपत्ति का अधिकारी हो सकता है। इस प्रकार संपत्ति के अनुसार चार वर्ग होंगे। संपत्ति भी निजी और सामाजिक होगी और सामाजिक संपत्ति का उपभोग धनवान और गरीब समान रूप से करेंगे। लॉज में प्लेटो निजी संपत्ति और कौटुम्बिक व्यवस्था का भी प्रावधान करता है, परन्तु दोनों पर राज्य का नियंत्रण रहता है।

जिससे राजा की शक्ति और प्रजा की स्वतन्त्रता एक दूसरे को मर्यादा में रख सकें इसलिए राजतंत्र और प्रजातंत्र की मिश्रित सरकार राज्य को संघर्ष से बचा सकती है और राज्य में स्थायित्व ला सकती है। जनता कुछ व्यक्तियों को शासन के लिये चुनेगी परन्तु कानून द्वारा ही यह तय किया जायगा कि

इन व्यक्तियों में से कौन शासन करे। धनिक वर्ग को भी शासन में हाथ दिया गया है। इसके द्वारा निर्वाचित 'अभेद्य व्यक्तियों का मंडल' शासन की देखरेख करेगा और यह देखेगा कि विधियाँ पाली जाती हैं और उनमें आवश्यक परिवर्तन तो नहीं हो रहे हैं। इसके ऊपर एक 'रात्रि-मंडल' होगा जिसमें राज्य के वयोवृद्ध और बुद्धिमान व्यक्ति होंगे और उतनी ही संख्या के नवयुवक। रात्रिमंडल का मुख्य उद्देश्य विधियों में निहित सिद्धान्तों को स्पष्ट करना और राज्य के लक्ष्य को सामने रखना होगा। इस प्रकार लॉज की सारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था मिश्रण के सिद्धान्त को लेकर चली है।

लाज की आलोचना—

लॉज की सामाजिक और राजनतिक व्यवस्था अधिक व्यावहारिक है और यूनानी वास्तुओं के अनुकूल। परन्तु इसमें एक बात खटकती है। विधियों का शासन क्या सामाजिक व्यवस्था को कठित न बना देगा? यदि विधियों में संशोधन नहीं हो सकता नई विधियाँ नहीं बन सकती तो विधियाँ परिवर्तित समाज की आवश्यकताओं को कैसे पूरी कर सकती है? प्लेटो ने आधुनिक युग के समान विधियों के बनाने का कोई प्रावधान नहीं किया है।

डनिंग लिखता है कि लॉज में प्लेटो ने हमें ऐसा कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं बताया है जिसके आधार पर हम सामान्य और महत्वपूर्ण विधियों को तुच्छ और महत्वहीन विधियों से अलग कर सकें। यह कृति सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के संबंध में पाये जाने वाले साधारण विचारों का क्रम विहीन संग्रह मात्र है।

प्लेटो का राजनीति में स्थान—

प्लेटो राज दर्शन के इतिहास का प्रथम दार्शनिक है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक था कि किस प्रकार समकालीन राज्य अपने दोषों से मुक्त किये जा सकते हैं। अपने विचारों में भी वह बहुत अधिक समकालीन संस्थाओं से प्रभावित हुआ है। रिपब्लिक उस समय लिखी गई थी जब स्पार्टा ने एथेन्स पर विजय प्राप्त की थी और स्पार्टा के अनुशासन और शासन संगठन को स्वाभाविक रूप से सर्वप्रथम पाठ माना जा सकता था। इसलिये प्लेटो की रिपब्लिक स्पार्टा के सामाजिक संगठन पर आधारित है। स्पार्टा का अनुशासित शासक वर्ग जो केवल शासन कार्य से संबंधित था जिसने राज्य के लिये अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति और कुटुम्ब की अवहेलना करती थी प्लेटो के शासक वर्ग के समान

ही था। स्पार्टा में भी जन्मजात गुणों पर जोर दिया जाता था और कुरूप बच्चों को नष्ट कर दिया जाता था। स्पार्टा में न तो लिखित नियम थे और न मुद्रा का चलन। प्लेटो की रिपब्लिक इस प्रकार स्पार्टा की बहुत अधिक ऋणी है। परन्तु प्लेटो में स्पार्टा की कमजोरियों को भी देखने की क्षमता थी इसलिये प्लेटो अपनी रिपब्लिक में उचित शिक्षा व्यवस्था का प्राविधान करता है। प्लेटो जब ग्रन्थ लिख रहा था उस समय एथेन्स अपना पुराना वैभव प्राप्त कर चुका था और स्पार्टा के शासन संगठन की कमजोरियाँ स्पष्ट दिखाई देरही थीं इसलिये वह ग्रन्थ के काल्पनिक संगठन को एथेन्स के सामाजिक संगठन पर आधारित करता है।

परन्तु प्लेटो केवल समकालीन जगत का इतिहासकार नहीं है। समकालीन संस्थाओं पर विचार आधारित करते हुए भी उसने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया है और उसकी कृतियों में दिये गये समाज केवल अनुभव पर आधारित नहीं वरन् विवेक की कसौटी पर खरे उतरकर अमर हुए हैं। इसी लिये वे आदर्श समाज का चित्रण करते हैं वास्तविक समाजों का नहीं और

प्लेटो की देन

(१) प्रथम काल्पनिक जगत का स्रष्टा।
(२) विशुद्ध धारणा की रीति।
(३) दार्शनिक रीति।
(४) आदर्शवाद का प्रतिपादक।

प्लेटो प्रथम 'काल्पनिक जगत का स्रष्टा' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उसने राजनीति दर्शन में काल्पनिक आदर्श जगत (Utopias) चित्रण करने की परिपाटी चलाई। परन्तु प्लेटो केवल आदर्शवादी नहीं है, काल्पनिक नहीं है, वह राज्य का विशुद्ध विचार देता है। वह मैक्सी के शब्दों में idealist नहीं idealist है इसलिये उसके पश्चात लिखे गए 'यूटोपिया' प्लेटो की कृतियों की भद्दी नकल मात्र हैं।

प्लेटो ने राजनीति दर्शन में विशुद्ध धारणा की रीति चलाई। प्लेटो ने समकालीन राज्यों को समझने के लिये पहिले राज्य की विशुद्ध धारणा बनाई और फिर कौन राज्य इस धारणा के अधिक निकट या दूर है इस आधार पर वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन किया। इसी प्रकार प्लेटो ने दार्शनिक या आगम रीति भी राजदर्शन को दी जिसके अनुसार हम पहिले सार्वभौमिक सत्य को लेकर तब वास्तविक समाजों का अध्ययन करते हैं। प्लेटो का प्रभाव रूसो और जर्मन तथा ब्रिटिश आदर्शवादियों पर स्पष्ट दिखाई देता है।

रत्न २

अरस्तू

(३८४ ई० पू० — ३२२ ई० पू०)

(१) अरस्तू और प्लेटो।	(२) अध्ययन रीति।
(३) राज्य की प्रकृति।	(४) दासता सम्पत्ति और कुटुम्ब।
(५) नागरिकता और संविधान।	(६) राज्यों का वर्गीकरण।
(७) विधि की महत्ता।	(८) आदर्श राज्य।
(९) वास्तविक राज्य।	(१०) व्यावहारिक आदर्श राज्य।
(११) क्रांतियाँ।	(१२) अरस्तू की देन।

(१)
अरस्तू और प्लेटो

अरस्तू का जन्म ३८४ ई० पू० में स्टेगिरा में हुआ था। इसकी माँ मासीडोनिया नगर-राज्य की निवासी थी और पिता मैसीडोनिया के फिलिप्स का राजवैद्य था। मासीडोनिया में भौतिक जगत का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था इसलिये बचपन से ही अरस्तू की रुचि जीव-विज्ञान में थी। ३६७ ई० पू० में उसने प्लेटो की एकेडेमी में अध्ययन प्रारम्भ किया और प्लेटो के नीचे २० वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। ३४२ ई० पू० में वह सिकन्दर महान का गुरु नियुक्त हुआ और जब ३३४ में सिकन्दर विश्व विजय के लिये निकला तो अरस्तू फिर वापिस एथेन्स लौट आया जहाँ उसने लाइसियम के नाम से

स्कूल खोला। ३२२ ई० पू० में उसे एथेन्स छोड़कर भागना पड़ा और इसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई।

अरस्तू संसार का महान दार्शनिक है। उसे संसार का व्यापक अनुभव था और प्रत्येक वस्तु का वैज्ञानिक निरूपण करने की उसकी प्रवृत्ति थी। इसी कारण अरस्तू प्रथम वैज्ञानिक माना जाता है, और गणित शास्त्र को छोड़ अन्य सभी शास्त्रों के जन्मदाता होने का श्रेय उसी को है। अरस्तू के समय में सिकन्दर-महान् की विश्व विजय यात्रा प्रारंभ हो गई थी उसके समय में ही एक बड़ा साम्राज्य बन चुका था और नगर राज्यों का पतन होने लगा था। इसलिये यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है कि संसार का सूक्ष्म अवलोकन करने वाला अरस्तू अपने समकालीन राजनैतिक परिवर्तनों को नहीं समझ पाया और किस प्रकार उसकी विचार धारा समकालीन परिवर्तनों से अछूती रह गई। वह नगर-राज्यों का ही दार्शनिक है और फॉस्टर के शब्दों में 'जो युग उसके जन्म से पूर्व ही समाप्त हो चुका था अरस्तू ग्रीस के उस क्लासिकल युग की भावना ही व्यक्त करता है'। वह प्लेटो के समान ही नगर-राज्य का दार्शनिक है, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्लेटो विचार जगत को महत्वपूर्ण मानता है, वहाँ अरस्तू प्रत्यक्ष जगत का।

अरस्तू का प्लेटो से संबंध—

मैक्सी का कथन है कि या तो हम प्लेटो के अनुयायी होते हैं या अरस्तू के। वास्तव में दोनों की रीतियों में इतनी भिन्नता है कि हम सारे वैज्ञानिकों को 'प्लेटोवादी' और 'अरस्तूवादी' इन दो वर्गों में बाँट सकते हैं। प्लेटो गणित-शास्त्र से प्रभावित था और अरस्तू जीव-शास्त्र से। एक विशुद्ध विचार को प्रमुख मानता है और उसके अनुरूप आदर्श राज्य का निर्माण करता है भले ही वह व्यावहारिक न हो दूसरा व्यावहारिक जगत को नहीं छोड़ता और इसी को सुधार कर आदर्श का निर्माण करना चाहता है। इसी कारण अरस्तू अधिक मनोवैज्ञानिक अधिक व्यावहारिक और अधिक ऐतिहासिक है। प्लेटो की तीव्र आलोचना' अरस्तू ने ही की है। परन्तु इतने अन्तर होते हुए भी अरस्तू पूर्णतया प्लेटोवादी है और उसके विचार प्लेटो के दर्शन से अनुरंजित हैं।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि अरस्तू 'बीस वर्ष तक प्लेटो का शिष्य रहा। इसी काल में' प्लेटो अपनी पुस्तक 'दि लॉज' लिख रहा था। 'अरस्तू भी अपने आदर्श राज्य का' सिद्धान्त लॉज के विचारों पर आधारित

करता है। दोनों ही नगर राज्यों के दार्शनिक हैं, और श्रेष्ठतम जीवन को व्यक्ति और राज्य का लक्ष्य मानते हैं। दोनों की दृष्टि में शारीरिक परिश्रम करने वाले लोग नागरिक होने योग्य नहीं। दोनों ही दास प्रथा को प्राकृतिक मानते हैं, और नागरिक अधिकार कुछ चुने हुए लोगों को ही प्रदान करते हैं। प्लेटो राज्य की उत्पत्ति आर्थिक आवश्यकताओं के कारण मानता है, और उसके और पूर्ण विकसित राज्य का स्वरूप नैतिक मानता है। अरस्तू भी इसी विचार को इन शब्दों में व्यक्त करता है कि 'राज्य जीवन के अस्तित्व के लिये प्रारम्भ हुआ परन्तु वह श्रेष्ठतम जीवन के लिये बना हुआ है।' इसलिये प्लेटो और अरस्तू दोनों ही राज्य को नैतिक संस्था मानते हैं। प्लेटो के समान अरस्तू भी शासकों के लिये उचित शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता मानता है।

प्लेटो और अरस्तू

विभिन्नता—

(१) प्लेटो गणित शास्त्री।
अरस्तू जीव शास्त्री।

(२) प्लेटो में विचार की महत्ता।
अरस्तू में व्यवहार—अवलोकन इतिहास अनुभव मनोविज्ञान को महत्ता।

(३) प्लेटो काल्पनिक आगम रीति
अरस्तू वैज्ञानिक निगमन रीति।

समानता—

(१) नगर राज्य के दार्शनिक।
(२) श्रेष्ठतम जीवन।
(३) नागरिकता संबंधी विचार।
(४) पूर्ण विकसित राज्य नैतिक।
(५) शिक्षा की महत्ता।

(२)

अध्ययन रीति

प्लेटो और अरस्तू में सबसे बड़ा अन्तर उनकी अध्ययन रीतियों में है। जहां प्लेटो दार्शनिक या आगम (Deductive) पद्धति को अपनाता है, वहां अरस्तू ने सर्वप्रथम निगमन प्रणाली (Inductive method) का उपयोग किया। निगमन प्रणाली में हम विशिष्ट वस्तुओं को देखकर उनका विश्लेषण कर कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त निकालते हैं। इसलिये इस पद्धति में हम विशिष्ट (Particular) से सार्वभौमिक (Universal) की ओर जाते हैं, जब कि दार्शनिक पद्धति में हम सार्वभौमिक से विशिष्ट की ओर आते हैं।

अरस्तू ने यूनान के इतिहास तथा प्रचलित यूनानी विधियों का निरीक्षण कर सर्वश्रेष्ठ शासन व सिद्धान्त दिये हैं। ऐसा कहा जाता है कि उसने १५८ संविधानों का अध्ययन किया था और इनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राजनीति की पुस्तक लिखी थी। प्लेटो वास्तविक जगत की उपेक्षा करता है और विशुद्ध तार्किक ज्ञान पर अपने सिद्धान्तों को बनाता है। अरस्तू वास्तविक जगत को अध्ययन का आधार मानता है। इसी कारण अरस्तू प्लेटो का बड़ा भारी आलोचक था। उसका ऐतिहासिक और निगमन पद्धति में विश्वास इसी कथन से मालूम होता है कि "हमें राजनीति के अध्ययन में अपने अतीत को और अतीत काल से चली आने वाली संस्थाओं का ध्यान रखना चाहिये।

प्लेटो समन्वयवादी था अरस्तू विश्लेषक। उसका कहना था कि हमें किसी वस्तु का अध्ययन करने के पहिले उस वस्तु के घटकों का अध्ययन करना चाहिये। इस कारण वह राज्य की प्रकृति का अध्ययन राज्य बनाने वाले घटक—गांव और कुटुम्बों—की प्रकृति देखकर करता है, और संविधान का अध्ययन उसके घटक नागरिकों का अध्ययन कर।

प्लेटो गणित शास्त्री था और अरस्तू जीव-शास्त्री। इसलिये प्लेटो गणित शास्त्र के लिए उपयुक्त विशुद्ध विचार (Pure Idea) को महत्व देता है, और अरस्तू जीव शास्त्र के विकासवादी (Physis) सिद्धान्त को महत्ता देता है। उसका कहना था कि संसार की प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का विकास-सा हो रहा है और प्रत्येक मनुष्य (और प्रत्येक वस्तु) अपनी मूलभूत प्राकृतिक शक्तियों को धीरे २ परिवर्तित कर अपने पूर्ण या प्राकृतिक रूप की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये इस पूर्ण विकसित रूप को समझने के लिये विकासावस्था को देखना भी आवश्यक है। इस प्रकार की विचारधारा वाला व्यक्ति स्वभाव से ही ऐतिहासिक प्रवृत्ति वाला होगा और उसके लिये प्रारंभिक अर्द्धविकसित राज्य उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने पूर्ण विकसित सर्वश्रेष्ठ राज्य। ऐसे दृष्टिकोण वाले अनुसन्धान कर्त्ता के लिये कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है। इसलिये निरंकुश शासन-व्यवस्था भी अरस्तू के लिये उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी अन्य दूसरी शासन व्यवस्थायें।

प्लेटो केवल शुद्ध धारणा को महत्व देता है। उसके अनुसार वस्तु का विचार, वस्तु से अधिक महत्वपूर्ण है। अरस्तू के अनुसार विचार और वास्तविकता का अटूट संबंध है क्योंकि विचार विशिष्ट वस्तुओं के बिना नहीं रह

सकता। इसलिये प्लेटो का आदर्श राज्य वास्तविक जगत से दूर काल्पनिक जगत की वस्तु है। वह वास्तविक राज्यों से परे शुद्ध राज्य की धारणा का चित्र है। परन्तु अरस्तू का आदर्श राज्य वास्तविकता पर आधारित है। इसी बात को ध्यान में रखकर पोलक लिखता है कि 'पालिटिक्स' की पुस्तक का मुख्य प्रवर्तक गुण इस बात में है कि इसमें राजनीति के अध्ययन के लिये प्रकृति संबंधी अनुसन्धान की रीतियों का प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक रीति को देखकर ही सेबाइन अरस्तू को प्रथम वैज्ञानिक कहता है।

अध्ययन रीति

अन्तर

प्लेटो	अरस्तू
आगम पद्धति।	निगमन पद्धति तुलनात्मक अध्ययन।
वास्तविक जगत की उपेक्षा।	वास्तविक जगत आधार।
समन्वयवादी।	विश्लेषक।
गणित शास्त्र का विशुद्ध विचार।	जीव शास्त्र का विकास सिद्धान्त।
वस्तु और विचार भिन्न।	वस्तु और विचार अभिन्न।
काल्पनिक जगत का सृष्टा।	प्रथम वैज्ञानिक।

समानता

दोनों ही राज्य के नैतिक स्वरूप के आधार पर वास्तविक जगत का अध्ययन करते हैं इसलिये दोनों में ही Teleological रीति।

इसमें सन्देह नहीं कि तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण अरस्तू की विशेषता है, परन्तु अरस्तू प्लेटोवाद से भी प्रभावित था। इसलिये उसका विकासवादी सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धान्त से भिन्न है। वह नैतिकतावादी है। उसके लिये राज्य पूर्ण विकसित है, इसलिये प्राकृतिक संस्था है। पूर्ण विकसित संस्था होने के कारण राज्य नैतिक संस्था है। यदि अरस्तू विकास-क्रम में विभिन्न स्तरों की संस्थाओं का अध्ययन करता है, तो केवल इसलिये कि राज्य का पूर्ण-विकसित रूप इन विभिन्न स्तरों की संस्थाओं में अपने को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करता है। राज्य उसी समय पूर्ण विकास को पहुँचता है, जब वह नैतिक रूप पूर्ण रूप से व्यक्त होने लगता है। इसलिए अरस्तू भी प्लेटो की भाँति राज्य की पूर्ण धारणा बनाकर—उसके 'नैतिक स्वरूप का विचार बनाकर'—प्रचलित राज्यों को देखता है, अन्य

गम करता है, और यह समझने का प्रयत्न करता है कि इसमें किस सीमा तक वह रूप व्यक्त हुआ है। इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू की रीतियों में समानता भी है। दोनों ही अन्तिम लक्ष्य द्वारा वास्तविक जगत के अध्ययन कर्ता (Teleologists) हैं।

नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र का पृथक्करण—

अरस्तू ने नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र पर अलग २ पुस्तकें लिखी हैं। डनिंग का कहना है कि अरस्तू की मुख्य विशेषता इस बात में है कि उसने राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र बनाया। हम देख चुके हैं कि प्लेटो की रिपब्लिक राजनीति और नीति शास्त्र दोनों की पुस्तक है, क्योंकि प्लेटो के अनुसार राजनीति का भी उद्देश्य सदाचार की स्थापना है। परन्तु डनिंग इस बात को मानता है कि अरस्तू ने जानबूझ कर नीति और राजनीति शास्त्र को अलग २ शास्त्र नहीं बनाया है। चूंकि नीति शास्त्र में ऐतिहासिक अध्ययन और विश्लेषण की रीति काम में नहीं आ सकती इसलिये अरस्तू ने इस रीति के कारण ही नीति और राजनीति शास्त्र का पृथक्करण किया है। जहां तक विषय का प्रश्न है, अरस्तू राजनीति में उतना ही नैतिकतावादी है जितना प्लेटो। सदाचार युक्त जीवन की स्थापना करना अरस्तू का भी उद्देश्य है। टेलर का कहना ठीक ही है कि अरस्तू व्यक्ति की अच्छाई (नीतिशास्त्र) को समाज की भलाई (राजनीति) से अलग नहीं मानता। तुलनात्मक अध्ययन ही अरस्तू का उद्देश्य नहीं था वरन् इस तुलनात्मक विश्लेषण में उसका ध्यान राज्य के अंतिम लक्ष्य या उद्देश्य पर था। नैतिक-धारणाओं के आधार पर ही उसने वास्तविक संस्थाओं का विश्लेषण किया है। इसलिये विचारों में नहीं अध्ययन की रीति में अरस्तू ने नीति शास्त्र और राजनीति का पृथक्करण किया है।

अरस्तू द्वारा नीति और राजनीति का पृथक्करण केवल अध्ययन रीति में (विषय वस्तु में नहीं)।

(२)
राज्य की प्रकृति

अरस्तू के राजनैतिक विचार हमें उसकी पुस्तक पॉलिटिक्स में मिलते हैं। चूंकि राज्य का उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ जीवन की स्थापना करना है और राज्य में

रहकर ही व्यक्ति नैतिक बन सकता है, इसलिये नीति शास्त्र पर लिखी गई दूसरी पुस्तक में भी अरस्तू के कुछ राजनीतिक विचार मिलते हैं।

पॉलिटिक्स की पुस्तक जिस रूप में हमें प्राप्त है उसमें क्रमबद्धता का अभाव है। ऐसा मालूम होता है कि अरस्तू ने इसको सम्पादित नहीं किया और यह उसके समय-२ पर दिये गये भाषणों और एकत्रित की गई सामग्री का संग्रह मात्र है। इसके विषय विवेचन में हमें क्रमबद्धता नहीं मिलती। पुस्तक में आठ भाग हैं। ऐसा मालूम होता है कि दूसरा सातवां और आठवां भाग उसने उस समय लिखा होगा जब वह प्लेटो की एकेडेमी में विद्यार्थी था क्योंकि इन भागों में प्लेटो के ग्रन्थों की आलोचना है और अंत में दी गई शासन व्यवस्था के अनुरूप आदर्श राज्य व्यवस्था का चित्रण है। एकेडेमी छोड़ने के पश्चात् अरस्तू ने ऐतिहासिक तुलनात्मक और निगमन पद्धति को अपनाया होगा इसलिये तीसरी चौथी पाँचवी और छठवी पुस्तक प्रचलित राज्य व्यवस्थाओं का वर्णन करती है। पहिली पुस्तक भूमिका के स्वरूप सबसे बाद में लिखी गई होगी इसमें राज्य के स्वरूप की सैद्धान्तिक विवेचना है। इसलिये कुछ लोग पुस्तक के इन भागों के क्रम बदलने के पक्ष में भी हैं। परन्तु अधिकांश विद्वान भागों के क्रम बदलने में कोई विशेष लाभ नहीं समझते। पहिला भाग अरस्तू के राजनैतिक विचारों की कुंजी है, इसलिये हम यहां पर राज्य की प्रकृति के अध्ययन से ही उसके विचारों का अध्ययन प्रारंभ करेंगे।

पॉलिटिक्स का विषय क्रम

आदर्श राज्य—दूसरी सातवीं आठवीं पुस्तक।

वास्तविक राज्य—तीसरी से छठवी पुस्तक।

राज्य का स्वरूप—पहिली पुस्तक।

राज्य की प्रकृति और उसकी उत्पत्ति—

अरस्तू और प्लेटो के पूर्व यूनान में दो विचारधारायें थीं। एक राज्य को प्राकृतिक संस्था मानती थी दूसरी उसे कृत्रिम। सोफिस्ट विशेषकर उग्र विचार वाले सोफिस्ट राज्य को सामाजिक समझौते का परिणाम मानते थे और उनका कहना था कि राज्य नियम और नैतिकता मनुष्य द्वारा बनाई गई कृत्रिम संस्थायें हैं और वे सरल प्राकृतिक अवस्था को नष्ट कर रही हैं। सोफिस्ट प्राकृतिक अधिकार में विश्वास करने वाले व्यक्तिवादी थे जिनके दर्शन के कारण समाज और राज्य उपेक्षा से देखे जाने लगे थे। अरस्तू इसी विचार धारा का खंडन करने के लिये राज्य को प्राकृतिक और नैतिक बतलाता है।

अरस्तू का कहना है कि राज्य का विकास मनुष्य की सामाजिकता के फलस्वरूप है। सामाजिक जीवन अन्य पशुओं में भी पाया जाता है परन्तु मनुष्य विचारशील और विवेकशील प्राणी है, इसलिये उसकी सामाजिकता निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न है। यह सामाजिकता मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों पर नहीं, वरन् कुछ उद्देश्यों पर आधारित है। विवाह-पद्धति के द्वारा उसने सबसे पहिली सामाजिक संस्था कुटुम्ब की स्थापना की जिसमें पति, पत्नी संतान और दास एक साथ रहते हैं। कौटुम्बिक व्यवस्था में हमें राज्य का बीज दिखाई देता है, क्योंकि कुटुंब का स्वामी शासक के रूप में कार्य करता है। पर कुटुंब के स्वामी का शासन पत्नी संतान और दासों के ऊपर अलग २ प्रकार है। पत्नी के साथ वह बराबरी का व्यवहार करता है, संतान के ऊपर उसका शासन ठीक उसी प्रकार का होता है, जैसा किसी राजा का अपने प्रजा-जनों के प्रति दास के प्रति उसका शासन एक निरंकुश किन्तु समझदार शासक के समान है। इस तरह जहां राज्य में केवल एक ही तरह का शासन दिखाई देता है (जैसे पिता का संतान के प्रति) वहां कुटुंब में अलग २ प्रकार का शासन दिखाई देता है। कुटुम्ब स्वाभाविक समुदाय है, क्योंकि वह सन्तानोत्पत्ति और सुरक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

परन्तु मनुष्य केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता, उसकी और अधिक भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकतायें हैं। इसलिये वह गांव बनाता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दासों की आवश्यकता है, जो जीवन के लिये भौतिक साधन जुटाते हैं। तभी स्वामियों को सांस्कृतिक विकास का अवकाश की सुविधायें मिल सकती हैं, और वे अधिक श्रेष्ठ और नैतिक जीवन प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। अन्तिम समुदाय राज्य है जो मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ और नैतिक जीवन को पूरा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक समुदाय का जन्म किसी विशेष हित को पूरा करने के लिये होता है। कुटुम्ब के द्वारा केवल जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है राज्य के द्वारा सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि राज्य इस विकास क्रम में सबसे अन्त में आया है, और वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ (नैतिक) इच्छाओं की पूर्ति करने का साधन है, इसलिये राज्य एक प्राकृतिक और नैतिक संस्था है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अरस्तू द्वारा दिया गया राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त ऐतिहासिक नहीं है। यह राज्य के तत्त्वों का विश्लेषण

करने के लिये ही हुआ है। प्रथम पुस्तक में अरस्तु यह बताने की चेष्टा करता है कि राज्य वृहद कुटुम्ब नहीं है। कुटुम्ब हमारी केवल भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करता है, जब कि राज्य हमारी सारी इच्छाओं की पूर्ति करने के कारण—मानव का पूर्ण विकास करने के कारण—स्वमरित संस्था है। चूंकि इस राज्य के द्वारा ही मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वरूप को पा सकता है—इसलिये राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कुटुंबों का जन्म राज्य से पूर्व हुआ हो परन्तु विचार की दृष्टि से राज्य कुटुम्ब के पूर्व आता है, क्योंकि राज्य एक पूर्ण समुदाय है, कुटुम्ब केवल एक अंग। पूर्णता पहिले आती है—उसके बाद में अंग। इसलिये राज्य कुटुम्ब से पूर्ववर्ती है। राज्य अधिक विकसित है, वही जीवन के पूर्ण लक्ष्य को पूरा करता है। इसलिये इसकी प्रतिछाया ही हम अन्य समुदायों में पाते हैं। इसी कारण ही यद्यपि राज्य का जन्म जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये हुआ है—पर उसका अस्तित्व सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिये ही है।[1]

राज्य की प्रकृति

(१) कुटुम्ब गाँव और राज्य में राज्य पूर्ण विकसित संस्था है।
(२) मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कराने वाली संस्था के रूप में राज्य—
　(अ) प्राकृतिक है।
　(ब) स्वमरित है।
　(स) नैतिक है।
　(द) पूर्ववर्ती है।

ऊपर जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे हम राज्य के स्वरूप को समझ सकते हैं। राज्य प्राकृतिक है, पूर्ववर्ती है, स्वाभाविक है, और चूंकि विकास क्रम में पूर्ण विकसित संस्था है, इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ और नैतिक संस्था है।[2]

व्यक्ति और राज्य—

चूंकि राज्य में ही मनुष्य का पूर्णतम विकास संभव है और इसी में मनुष्य मनुष्य बन सकता है, इसलिये मनुष्य प्रकृति से ही राजनैतिक प्राणी है। जो मनुष्य किसी राज्य का नागरिक नहीं वह मनुष्य नहीं है। जो मनुष्य दूसरों के साथ न रह सकता है और न रहने की आवश्यकता समझता है, वह सर्व

1 "The state originated for the necessity of life it continues to exist for the best life."

2. The final cause and end of a thing, is the best."

श्रेष्ठ जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है? वह या तो ईश्वर है या जानवर। कुटुंब व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु अपने नैतिक और बौद्धिक विकास के लिये मनुष्य को राज्य पर निर्भर होना पड़ता है।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य में मनुष्य अपना व्यक्तित्व खो देता है। अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है, इसलिये वह संपत्ति और कुटुंब को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये आवश्यक समझता है। इसलिये राज्य लक्ष्य नहीं है वह श्रेष्ठतम जीवन प्राप्त करने का साधन है। उसका राज्य अच्छे मनुष्य बनाने के लिये है, न कि अच्छे मनुष्य राज्य के लिये हैं।[1]

व्यक्ति और राज्य

राज्य में श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकने के कारण मनुष्य राजनैतिक प्राणी है पर राज्य साधन है, साध्य नहीं।

दास श्रेष्ठ जीवन से वंचित।

नागरिकता एक श्रेष्ठ जीवन है, परन्तु जो रुपया कमाने में लगे हैं जो अपना सारा जीवन शारीरिक परिश्रम में लगाते हैं, वे श्रेष्ठ जीवन कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसीलिये दास और शिल्पकार वर्ग श्रेष्ठ जीवन प्राप्त नहीं कर सकते। दास राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं उनके द्वारा नागरिकों को अवकाश मिलता है परन्तु वे स्वयं नागरिक जीवन से वंचित हैं। इसलिये राज्य के लिये अरस्तू ने इस दास और शिल्पकार वर्ग का बलिदान किया है।

(४)

दासता, सम्पत्ति और कुटुम्ब

कुटुंब की चर्चा करते हुए अरस्तू दासता की न्यायोचितता ठहराने का प्रयत्न करता है। यूनानी सभ्यता दास प्रथा पर आधारित थी। जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति दास ही किया करते थे और उनकी सेवाओं के परिणाम स्वरूप ही यूनानियों को वह अवकाश मिल सकता था जिसका प्रयोग वे अपने सांस्कृतिक विकास और अपने बौद्धिक चिन्तन में करते थे। यूनानी दास

---

1 "Aristotle's state seems rather to be adjusted to the good man, than the good man to the state."

करने के लिये ही हुआ है। प्रथम पुस्तक में अरस्तू यह बताने की चेष्टा करता है कि राज्य वृहद कुटुम्ब नहीं है। कुटुम्ब हमारी केवल भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करता है, जब कि राज्य हमारी सारी इच्छाओं की पूर्ति करने के कारण—मानव का पूर्ण विकास करने के कारण—स्वयंरित संस्था है। चूंकि इस राज्य के द्वारा ही मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वरूप को पा सकता है—इसलिये राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कुटुम्बों का जन्म राज्य से पूर्व हुआ हो परन्तु विचार की दृष्टि से राज्य कुटुंब के पूर्व आता है, क्योंकि राज्य एक पूर्ण समुदाय है, कुटुंब केवल एक तत्व। पूर्णता पहिले आती है—उसके बाद में अंश। इसलिये राज्य कुटुम्ब से पूर्ववर्ती है। राज्य अधिक विकसित है, यही जीवन के पूर्ण लक्ष्य को पूरा करता है, इसलिये इसकी प्रतिछाया ही हम अन्य समुदायों में पाते हैं। इसी कारण ही यद्यपि राज्य का जन्म जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये हुआ है—पर उसका अस्तित्व सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिये ही है।[1]

राज्य की प्रकृति

(१) कुटुंब, ग्राम और राज्य में राज्य पूर्ण विकसित संस्था है।

(२) मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कराने वाली संस्था के रूप में राज्य—

(अ) प्राकृतिक है।

(ब) स्वयंरित है।

(स) नैतिक है।

(द) पूर्ववर्ती है।

ऊपर जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे हम राज्य के स्वरूप को समझ सकते हैं। राज्य प्राकृतिक है, पूर्ववर्ती है, स्वाभाविक है, और चूंकि विकास क्रम में पूर्ण विकसित संस्था है, इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ और नैतिक संस्था है।[2]

व्यक्ति और राज्य—

चूंकि राज्य में ही मनुष्य का पूर्णतम विकास सम्भव है और इसी में मनुष्य मनुष्य बन सकता है, इसलिये मनुष्य प्रकृति से ही राजनैतिक प्राणी है। जो मनुष्य किसी राज्य का नागरिक नहीं वह मनुष्य नहीं है। जो मनुष्य दूसरों के साथ न रह सकता है और न रहने की आवश्यकता समझता है, वह सर्व

---

1 "The state originated for the necessity of life, it continues to exist for the best life"

2. The final cause and end of a thing, is the best."

श्रेष्ठ जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है? वह या तो ईश्वर है या जानवर। कुटुंब व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु अपने नैतिक और बौद्धिक विकास के लिये मनुष्य को राज्य पर निर्भर होना पड़ता है।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य में मनुष्य अपना व्यक्तित्व खो देता है। अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है इसलिये वह संपत्ति और कुटुंब को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये आवश्यक समझता है। इसलिये राज्य लक्ष्य नहीं है, वह श्रेष्ठतम जीवन प्राप्त करने का साधन है। उसका राज्य अच्छे मनुष्य बनाने के लिये है, न कि अच्छे मनुष्य राज्य के लिये है।[1]

व्यक्ति और राज्य

राज्य में श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकने के कारण मनुष्य राजनीतिक प्राणी है। पर राज्य साधन है, साध्य नहीं।

दास श्रेष्ठ जीवन से वंचित।

नागरिकता एक श्रेष्ठ जीवन है, परन्तु जो रुपया कमाने में लगे हैं, जो अपना सारा जीवन शारीरिक परिश्रम में लगाते हैं, वे श्रेष्ठ जीवन कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसीलिये दास और शिल्पकार वर्ग श्रेष्ठ जीवन प्राप्त नहीं कर सकते। दास राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं उनके द्वारा नागरिकों को अवकाश मिलता है परन्तु वे स्वयं नागरिक जीवन से वंचित हैं। इसलिये राज्य के लिये अरस्तू ने इस दास और शिल्पकार वर्ग का बलिदान किया है।

(४)

दासता, सम्पत्ति और कुटुम्ब

कुटुंब की चर्चा करते हुए अरस्तू दासता को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न करता है। यूनानी सभ्यता दास प्रथा पर आधारित थी। जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति दास ही किया करते थे और उनकी सेवाओं के परिणाम स्वरूप ही यूनानियों को वह अवकाश मिल सकता था जिसका प्रयोग वे अपने सांस्कृतिक विकास और अपने बौद्धिक चिन्तन में करते थे। यूनानी दास

1 "Aristotle's state seems rather to be *adjusted to the good* man than the good man to the state."

विहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब सोफिस्टों ने इस मत का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और दास मनुष्य के रूप में नहीं वरन् दास नाम के कारण ही दूषित है, तो इस नई विचारधारा से यूनानियों की सामाजिक संस्थायें डगमगाने लगीं। यूनानी अपने को सभ्यता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और नेतृत्व के गुण हैं, इसलिये जब कुछ देशों में बर्बर जातियों के अलावा यूनानियों को भी दास बनाया जाने लगा तो दासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर अरस्तू के लिये कुछ लिखना आवश्यक था। परन्तु जैसा बार्कर ने लिखा है 'अरस्तू दासता को आवश्यक संस्था देखकर उसको उचित ठहराने का प्रयत्न करता है, एक तटस्थ वैज्ञानिक की भांति मनुष्यों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष नहीं निकालता।' अरस्तू के समय में दासता को उचित बतलाने के लिये व्याव हारिक और सैद्धान्तिक आवश्यकता थी। अरस्तू सैद्धान्तिक औचित्य बताने का प्रयत्न करता है, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे वह अपने प्रयत्नों में विफल रहता है।

दासता प्राकृतिक है:—

अरस्तू दासता को प्राकृतिक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है:—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी बौद्धिक क्षमताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च क्षमता के प्राणी होते हैं वे शासन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी उनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार व्यक्तियों को अपना काम करना चाहिये।

अरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्देशन करने और शासन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संचालित नहीं कर सकते हां दूसरों के दिये गये आदेश का पालन अवश्य कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग स्वामी होते हैं स्वतन्त्र नागरिक होते हैं, और दूसरी श्रेणी के लोग दास। यह स्वाभाविक है कि विवेक का शासन हो। विवेक द्वारा संचालित होने पर ही निम्न श्रेणी

के लोग समाज में व्यवस्था बनाये रखते हैं, और राज्य के जीवन में एकता रख सकते हैं इसलिए अरस्तू दासों को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का 'प्राणयुक्त औजार' शब्दों से संबोधित करता है।

दासता उचित और आवश्यक है:—

दासता स्वामी और दास दोनों के हित में है। स्वामी को इससे भौतिक आवश्यकताओं और निम्न कार्यों की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती है, जिससे वे अपना पूर्णतम विकास कर सकते हैं। दासता दासों के भी हित में है, क्योंकि दासों में स्वयं अपना विकास करने की क्षमता नहीं होती। वे अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते पर स्वामी के आदेश को पालन कर, विवेक के संपर्क में आकर अपना कुछ विकास कर सकते हैं। यदि दास स्वामी से अलग हो जाता है, तो उसकी ठीक वही दशा होती है, जो कटी हुई अंगुली की।

नैतिकता की दृष्टि से भी दासता उचित है, क्योंकि यह बात उचित मालूम होती है कि उच्च क्षमता वाले शासन करें और क्षमताहीन शासित हों।

दासता का व्यावहारिक रूप:—

यदि हम अरस्तू के सैद्धान्तिक पक्ष को स्वीकार भी कर लें तो इसको व्यावहारिक रूप देना कठिन मालूम होता है क्योंकि व्यवहार में यह संभव है कि जो दास हैं, उनके पास स्वामियों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक क्षमता हो। तब स्वामियों को कैसे दास बनाया जाय और दासों को कैसे स्वतंत्र किया जाय? अरस्तू इस विषय पर मौन है। परन्तु अरस्तू को आत्माभिमान अधिक था इसलिये वह यूनानियों को दास बनाना बिलकुल अनुचित मानता है और कहता है कि यूनानी प्रकृति से ही शासन करने योग्य होते हैं। अरस्तू के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं। सोचता कि चूंकि यूनानी लोग ही विजयी होते हैं इसलिये हारे हुए लोगों को दास बनाना प्राकृतिक है। यदि शक्ति प्रयोग के द्वारा किसी को दास बनाया जाता है और शक्तिशालीनता तथा नैतिकता एक समझी जाती है, तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत ही नैतिक समझी जाना चाहिये। पर यह बात किसी भी संदर्भ में ठीक नहीं।

अरस्तू ने दासता के संबंध में जो विचार रखे हैं, वे समकालीन दार्शनिकों की तुलना में दासों के प्रति काफी सहानुभूति पूर्ण हैं। कम से कम उसने इस बात पर तो जोर दिया कि दास प्रथा स्वामी और दास दोनों के हित में है और दोनों को अपना जीवन पारस्परिक सहायता और मित्रता के आधार पर

विहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब सोफिस्टों ने इस मत का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और दास मनुष्य के रूप में नहीं वरन् दास नाम के कारण ही घृणित है, तो इस नई विचारधारा से यूनानियों की सामाजिक संस्थायें डगमगाने लगीं। यूनानी अपने को सभ्यता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और नेतृत्व के गुण हैं, इसलिये जब कुछ देशों में बर्बर जातियों के अलावा यूनानियों को भी दास बनाया जाने लगा तो दासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर अरस्तू के लिये कुछ लिखना आवश्यक था। परन्तु जैसा बार्कर ने लिखा है 'अरस्तू दासता को आवश्यक संस्था देखकर उसको उचित ठहराने का प्रयत्न करता है, एक तटस्थ वैज्ञानिक की भांति मनुष्यों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष नहीं निकालता। *अरस्तू के समय में दासता को उचित बतलाने के लिये व्याव*हारिक और सैद्धान्तिक आवश्यकता थी। अरस्तू सैद्धान्तिक औचित्य बताने का प्रयत्न करता है, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे वह अपने प्रयत्नों में विफल रहता है।

दासता प्राकृतिक है—

अरस्तू दासता को प्राकृतिक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है :—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी बौद्धिक क्षमताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च क्षमता के प्राणी होते हैं वे शासन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी उनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार प्राणियों को अपना काम करना चाहिये।

अरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्देशन करने और शासन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संचालित नहीं कर सकते हां दूसरों के दिये गये आदेश का पालन अवश्य कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग स्वामी होते हैं स्वतंत्र नागरिक होते हैं, और दूसरी श्रेणी के लोग दास। यह स्वाभाविक है कि विवेक का शासन हो। विवेक द्वारा संचालित होने पर ही निम्न श्रेणी

के लोग समाज में व्यवस्था बनाते रहते हैं
सकते हैं इसलिये अरस्तू दासों को
औजार' शब्दों से संबोधित करता है।

दासता उचित और आवश्यक है—

दासता स्वामी और दास दोनों के हित में है।
आवश्यकताओं और निम्न बातों को
अपना पूर्णतम विकास कर सके हैं।
दासों में स्वयं अपना विकास करने की
नहीं हो सकते, पर स्वामी के
अपना पूर्ण विकास कर सकते हैं।
उनकी ठीक नहीं दशा होती है, जो

नैतिकता की दृष्टि से भी दासता
होती है कि उच्च क्षमता वाले शासन

दासता का व्यावहारिक रूप—

यदि हम अरस्तू के सैद्धान्तिक
व्यावहारिक रूप देना कठिन मालूम होता है
कि जो दास हैं, उनके पास स्वामियों की
तब स्वामियों को कैसे दास बनाया
जाय ? अरस्तू इस विषय पर मौन है।
था इसलिये वह यूनानियों को दास बनाना
कहता है कि यूनानी प्रकृति से ही
तर्क में कोई तथ्य नहीं दीखता कि
लिये हारे हुए लोगों को दास बनाना चाहिये।
किसी को दास बनाया जाता है और
जाती है, तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'
चाहिये। पर यह बात किसी भी संदर्भ में ठीक

अरस्तू ने दासता के संबंध में जो विचार
की तुलना में दासों के प्रति काफी सहानुभूति
बात पर तो जोर दिया कि दास प्रथा
और दोनों को अपना जीवन पारस्परिक सहयोग

व्यवस्था दोनों के
के विकास के
संपत्ति के मनुष्य में
नहीं हो सकता।
मनुष्य का व्यक्तित्व
के द्वारा ही व्यक्ति
सकता है। संपत्ति
कारण ही अनाक्रम
करने का अवसर

दित होना चाहिये।
इसमें वह परंपरागत
किया हुआ था कि
यकता पूर्ति के लिये
आवश्यक साधन है,
का पतन करते हैं।
होते हैं इसी कारण

और सार्वजनिक दो
व्यवस्था की आलोचना
कहता है कि संपत्ति का
नमित्त और उसका
ग ठीक नहीं। अरस्तू
मिल्क 'निजी' हो और
सामूहिक। सामूहिक
ति की कोई परवाह
कि मनुष्य उसी इच्छा
करता है, जब
सामूहिक

विहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब सोफिस्टों ने इस मत का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और दास मनुष्य के रूप में नहीं बरन् दास नाम के कारण ही घृणित है, तो इस नई विचारधारा से यूनानियों की सामाजिक संस्थायें डगमगाने लगीं। यूनानी अपने को सभ्यता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और नेतृत्व के गुण हैं, इसलिये जब कुछ देशों में बर्बर जातियों के अलावा यूनानियों को भी दास बनाया जाने लगा तो दासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर अरस्तू के लिये कुछ लिखना आवश्यक था। परन्तु जैसा बार्कर ने लिखा है "अरस्तू दासता को आवश्यक संस्था देखकर उसको उचित ठहराने का प्रयत्न करता है एक तटस्थ वैज्ञानिक की भांति मनुष्यों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष नहीं निकालता। अरस्तू के समय में दासता को उचित बतलाने के लिये व्यावहारिक और सैद्धान्तिक आवश्यकता थी। अरस्तू सैद्धान्तिक औचित्य बताने का प्रयत्न करता है, परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे वह अपने प्रयत्नों में विफल रहता है।

दासता प्राकृतिक है—

अरस्तू दासता को प्राकृतिक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है :—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी बौद्धिक क्षमताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च क्षमता के प्राणी होते हैं वे शासन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी उनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार प्राणियों को अपना काम करना चाहिये।

अरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्देशन करने और शासन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संचालित नहीं कर सकते हां दूसरों के दिये गये आदेश का पालन अवश्य कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग स्वामी होते हैं, स्वतंत्र नागरिक होते हैं, और दूसरी श्रेणी के लोग दास। यह स्वाभाविक है कि विवेक का शासन हो। विवेक द्वारा संचालित होने पर ही निम्न श्रेणी

कि प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिये निजी संपत्ति और कौटुम्बिक व्यवस्था दोनों के समाप्त करने के पक्ष में है। परन्तु अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये इन दोनों को आवश्यक मानता है। बिना निजी संपत्ति के मनुष्य में उदारता दानशीलता आतिथ्य सत्कार आदि गुणों का विकास नहीं हो सकता। निजी संपत्ति आत्म-सम्मान के लिये आवश्यक है और उससे मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक स्थिति मालूम होती है। निजी संपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति राज्य-कार्यों में भाग लेकर अपनी नागरिकता का परिचय दे सकता है। संपत्ति का समान वितरण आवश्यक नहीं। असमान धन-वितरण के कारण ही धनाढ्य लोगों को लोक सुविधाओं की संस्थायें बनाकर जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है।

परन्तु निजी संपत्ति और इसका असमान वितरण मर्यादित होना चाहिये। मर्यादा का सिद्धान्त अरस्तू के विचारों की कुंजी है और इसमें वह परम्परागत यूनानी विचारों को ही मानता है। डेल्फी के मंदिर पर ही लिखा हुआ था कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा हो। इसलिये संपत्ति केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये हो न अधिक न कम। चूंकि धन नैतिक जीवन के लिये आवश्यक साधन है, इसलिये कम और अधिक धन दोनों ही इस नैतिकता का पतन करते हैं। व्यापार और उद्योग धंधे अधिक धन कमाने के लिये होते हैं इसी कारण अरस्तू शिल्पकार वर्ग को अच्छा नहीं समझता।

अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में संपत्ति निजी और सार्वजनिक दो भागों में बँटना चाहिये। रिपब्लिक की साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करते हुए वह कहता है कि संपत्ति का सामाजिक स्वामित्व और उसका सामूहिक उपभोग ठीक नहीं। अच्छा हो यदि स्वामित्व 'निजी हो' और उसका उपभोग सामूहिक। सामूहिक स्वामित्व में संपत्ति की कोई परवाह नहीं करेगा, क्योंकि मनुष्य तभी इच्छा और उत्साह से काम करता है, जब वस्तु उसकी होती है। दूसरे सामूहिक स्वामित्व में आपसी झगड़ों के जन्म की संभावना होती है जिससे साम्यवादी व्यवस्था में एकता का उदय नहीं हो सकता।

सम्पत्ति

(१) मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक।

(२) सम्पत्ति मर्यादित हो।

(३) निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति।

(४) स्वामित्व निजी उपभोग सामूहिक।

दिखाना चाहिए। वह लिखता है कि स्वामी का दासों पर शासन गड़रिये का भेड़ बकरियों पर शासन के समान नहीं है।

परन्तु दासता का औचित्य बताने में अरस्तु जैसा प्रसिद्ध तर्कशास्त्री और वैज्ञानिक पूर्ण रूप से तर्क हीन और अवैज्ञानिक हो गया है। यदि दास मनुष्य है, तो जैसा अरस्तु कहता है, वह राजनैतिक प्राणी भी है। उसे भी अपनी क्षमताओं के विकास करने का अवसर मिलना चाहिये। यदि मनुष्य को मनुष्य बनने का अवसर प्रदान नहीं होता या उसमें मनुष्य बनने की क्षमता नहीं है, तो ऐसा मनुष्य तो अप्राकृतिक होगा प्राकृतिक नहीं।

दासता

जिनमें बौद्धिक क्षमता नहीं वे दास हुंपि इसलिये दासता प्राकृतिक।

दासता स्वामी और दास दोनों के हित में।

दासता का सिद्धान्त व्यवहार में लागू करना असम्भव।

तर्कहीन और अवैज्ञानिक।

समकालीन विचारों से प्रभावित फिर भी सहानुभूतिपूर्ण।

तर्क के आधार पर अरस्तु को दास प्रथा को अप्राकृतिक बताना चाहिये प्राकृतिक नहीं।

शिल्पकार—

अरस्तु शिल्पकारों को दासों की श्रेणी में ही रखता है, क्योंकि शिल्पकार भी शारीरिक श्रम करने वाले मनुष्य हैं जिन्हें उच्च जीवन प्राप्त करने के लिये अवकाश नहीं है। शिल्पकारों की परिस्थिति तो दासों से भी बुरी है, क्योंकि उन्हें अपने स्वामी के जीवन और आदेशों से लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं मिलता। यह आश्चर्य की बात है कि शिल्पकार और दास नागरिकों को अवकाश देने के लिये आवश्यक माने गये हैं, पर स्वयं अवकाश से वंचित होने के कारण अरस्तु इन्हें नागरिकता और उच्च जीवन से वंचित रखता है। कितना अच्छा होता कि अरस्तु ऐसी सामाजिक व्यवस्था बनाता जिसमें सबको अवकाश मिल सकता। वैज्ञानिक होते हुए भी अरस्तु अपने युग के संकुचित विचारों से मुक्ति नहीं पा सका है। उन्हीं के अनुरूप वह इस बात में विश्वास करता है कि शारीरिक श्रम और किसी काम में दक्ष होने से ही मनुष्य का पतन होता है।

सम्पत्ति और कुटुम्ब—

अरस्तु के कुटुम्ब और संपत्ति सम्बंधी विचार हम उसके द्वारा की गई प्लेटो की आलोचना और आदर्श राज्य के चित्रण में मिलते हैं। हम देख चुके हैं।

कि प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिये निजी संपत्ति और कौटुम्बिक व्यवस्था दोनों के समाप्त करने के पक्ष में है। परन्तु अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए इन दोनों को आवश्यक मानता है। बिना निजी संपत्ति के मनुष्य में उदारता दानशीलता आतिथ्य सत्कार आदि गुणों का विकास नहीं हो सकता। निजी संपत्ति आत्म-सम्मान के लिये आवश्यक है और उससे मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक स्थिति मालूम होती है। निजी संपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति राज्य-कार्यों में भाग लेकर अपनी नागरिकता का परिचय दे सकता है। संपत्ति का समान वितरण आवश्यक नहीं। असमान धन-वितरण के कारण ही धनाढ्य लोगों को लोक सुविधाओं की संस्थायें बनाकर जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है।

परन्तु निजी संपत्ति और इसका असमान वितरण मर्यादित होना चाहिये। मर्यादा का सिद्धान्त अरस्तु के विचारों की कुंजी है और इसमें वह परम्परागत यूनानी विचारों को ही मानता है। डेल्फी के मंदिर पर ही लिखा हुआ था कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा हो। इसलिये संपत्ति केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये हो न अधिक न कम। चूंकि धन नैतिक जीवन के लिये आवश्यक साधन है, इसलिये कम और अधिक धन दोनों ही इस नैतिकता का पतन करते हैं। व्यापार और उद्योग धंधे अधिक धन कमाने के लिए होते हैं इसी कारण अरस्तू शिल्पकार वर्ग को अच्छा नहीं समझता।

अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में संपत्ति निजी और सार्वजनिक दो भागों में बँटना चाहिये। रिपब्लिक की साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करते हुए वह कहता है कि संपत्ति का सामाजिक स्वामित्व और उसका सामूहिक उपभोग ठीक नहीं। अच्छा हो यदि स्वामित्व निजी हो और उसका उपभोग सामूहिक। सामूहिक स्वामित्व में संपत्ति की कोई परवाह नहीं करेगा, क्योंकि मनुष्य तभी इच्छा और दक्षता से काम करता है, जब वस्तु उसकी होती है। दूसरे सामूहिक स्वामित्व में आपसी झगड़ों के जन्म की संभावना होती है जिससे साम्यवादी व्यवस्था में एकता का जन्म नहीं हो सकता।

सम्पत्ति

(१) मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक।
(२) सम्पत्ति मर्यादित हो।
(३) निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति।
(४) स्वामित्व निजी उपभोग सामूहिक।

प्लेटो की आलोचना करते समय संपत्ति के संबंध में अरस्तू ने निम्नलिखित बातों पर भी प्रकाश डाला है। प्लेटो निजी संपत्ति को राज्य की बुराई की जड़ समझता है। अरस्तू का कहना है कि झगड़े की जड़ सम्पत्ति नहीं मनुष्य का नैतिक पतन है। बुराई को हटाने के लिये आर्थिक साम्यवाद की नहीं शिक्षा की आवश्यकता है। साम्यवादी व्यवस्था किसी भी युग में प्रचलित नहीं रही जिससे स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति का अधिकार अधिक लाभदायक है।

प्लेटो कौटुम्बिक व्यवस्था को राज्य की एकता के लिये बाधक समझता है, और ऐसा प्रावधान करता है कि जिसमें एक समय के उत्पन्न बच्चे सब संरक्षकों की संतान मानी जाय जिससे संरक्षकों का प्रेम अधिक व्यापक हो सके और केवल कुछ ही व्यक्तियों में केन्द्रित न हो। अरस्तू का कहना है कि व्यापक प्रेम अधिक क्षीण होता है। प्रेम विकसित करने के लिये सीमित होना आवश्यक है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विवाह और संतान से सम्बन्धित होता है। कुटुम्ब नागरिक जीवन की सर्वोच्च पाठशाला है कुटुम्ब प्राकृतिक है और राज्य का बीज स्वरूप। इसलिये इसे नष्ट करना अप्राकृतिक कार्य होगा।

(५)

नागरिकता और संविधान

पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में अरस्तू नागरिकता और संविधान पर विचार करता है। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि पहिली पुस्तक में जहां वह कुटुम्ब को राज्य का सबसे छोटा घटक मानता है, वहां तीसरी पुस्तक में वह लिखता है कि राज्य नागरिकों का समूह है। इस तरह नागरिकों को राज्य का घटक मानकर वह नागरिकता के सिद्धान्तों की चर्चा करता है।

प्रचलित धारणाओं को आलोचना करते हुए अरस्तू यह प्रश्न उठाता है कि नागरिक कौन है ?

१ केवल निवास से ही कोई व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकता क्योंकि विदेशी और दास भी राज्य में रहते हैं।

२. मुकदमा चलाने का अधिकार भी नागरिकता प्रदान नहीं करता क्योंकि संधियों द्वारा विदेशियों को भी यह अधिकार प्राप्त है। वे केवल

आंशिक रूप में ही नागरिक हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह बालक और वृद्ध पूर्ण नागरिक नहीं।

३ जिनकी नागरिकता छीनी गई है या जिन्हें देश निकाला मिल चुका है, वे भी नागरिक नहीं है।

४ जन्म से भी कोई नागरिक नहीं है, क्योंकि यदि जन्म नागरिकता का गुण हो तो प्रथम नागरिक का प्रश्न कैसे हल किया जाता ?

अरस्तू के अनुसार न्यायिक कार्यों और सार्वजनिक पदों और सेवाओं में भाग लेना या कहना चाहिये कि विचार परिषदों और न्यायालयों में सदस्यों की हैसियत से बैठना ही नागरिकता के गुण हैं। अरस्तू की यह परिभाषा केवल प्रजातन्त्रों में ही ठीक हो सकती है। जो प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्थायें नहीं हैं या जिनमें नियत रूप से लोक-सभायें नहीं बैठतीं या जिन का न्याय संबंधी कार्य कुछ विशिष्ट आयोगों के हाथ में होता है, वहाँ नागरिकता की यह परिभाषा सीमित दृष्टि से ही लागू हो सकेगी

अरस्तू की परिभाषा की विशेषता यह है कि वह सक्रियता को महत्त्व देता है। नागरिकता केवल जन्म निवास-स्थान या वैधिक अधिकारों से ही नहीं मिल जाती। नागरिकता राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने से और सार्वजनिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने पर ही प्राप्त हो सकती है।

अरस्तू दूसरा प्रश्न भी उठाता है। क्या अच्छे आदमी के गुण और अच्छे नागरिक के गुण एक हैं या भिन्न भिन्न ? नागरिक राज्य का सदस्य है और प्रत्येक समाज का अपना एक विशिष्ट उद्देश्य होता है इसलिये अच्छा नागरिक वह है, जो उस विशिष्ट समाज के उद्देश्यों को पूरा करे। इस तरह नागरिकों का सदाचार विशिष्ट शासन व्यवस्था से संबंधित है। चूंकि संसार में भिन्न २ शासन व्यवस्थायें हैं, इसलिये नागरिकों के गुण सब काल और देश में एक नहीं हो सकते।

परन्तु अच्छे मनुष्य के गुण सब देश काल में एक ही होंगे। इसलिये जहाँ अच्छे नागरिक के गुण राज्य से सम्बन्धित या सापेक्ष होते हैं, वहाँ अच्छे मनुष्य के गुण निरपेक्ष होते हैं।

फिर राज्य में सभी नागरिकों के गुण एक से नहीं होते क्योंकि प्रत्येक राज्य असमान सदस्यों द्वारा बनता है। इनमें कुछ शासित होते हैं और कुछ शासक। इसलिए पद के अनुरूप राज्य के भीतर रहने वाले नागरिकों के गुण भी एक से नहीं होते।

परन्तु क्या कोई ऐसी परिस्थिति है, जब अच्छे मनुष्य और अच्छे नागरिक दोनों के गुण एक हों ? अच्छे मनुष्य में सदाचार और बुद्धिमानी ये दो गुण आवश्यक हैं। शासित वर्ग में सदाचार मिलता है, और शासक वर्ग में बुद्धिमानी। इसलिये निरंकुश शासकों में अच्छे मनुष्य और अच्छे नागरिकों के गुण एक से नहीं हो सकते। परन्तु वैधानिक राज्यों में जहाँ प्रजा शासक वर्ग बन सकती है, वहाँ प्रत्येक नागरिक को शासन करने और शासित होने का अवसर प्राप्त होगा। शासित होते समय बुद्धिमत्ता का गुण अवश्य लुप्त रहेगा परन्तु चूँकि उसे शासक भी बनना है इसलिये उसमें बुद्धिमत्ता का गुण भी होना चाहिए।

नागरिकता

लक्षण—न्यायिक कार्यों और सार्वजनिक सेवाओं में भाग लेना।

इसलिए नागरिकता के गुण संविधान के सापेक्ष।

केवल उस राज्य में जहाँ व्यक्ति बारी-बारी से शासक (बुद्धिमत्ता) व शासित (सदाचार) होता है अच्छे नागरिक व अच्छे मनुष्य में अन्तर नहीं होता।

संविधान :—

संविधान राज्य के शासन-पदों विशेषकर सबसे उच्च पदों का संगठन है। इसलिये इन शासन-पदों पर जिस प्रकृति के लोग आसीन होंगे उसी के अनुसार राज्य का जीवन संचालित होगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शासक-वर्ग अपने उद्देश्य के अनुसार राज्य का निर्माण करेंगे। इसलिये जैसा शासक वर्ग होगा वैसा ही राज्य होगा। शासक वर्ग ही राज्य का संविधान बनाता है।

आधुनिक काल में हमें संविधान का यह अर्थ कुछ विचित्र सा मालूम होता है, क्योंकि आज हम सरकार के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध और शक्तियों की चर्चा का निरूपण संविधान के अन्तर्गत करते हैं। परन्तु अरस्तू के विचार समकालीन यूनानी घटनाओं से प्रभावित हैं। वहाँ जब एक वर्ग दूसरे वर्ग को हटाकर शासन अधिकार पा लेता था तो पहिले वर्ग को पूर्ण रूप से समाप्त कर देता था और अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुसार राज्य के जीवन को व्यवस्थित करता था। इसलिये अरस्तू शासक वर्गों की प्रकृति को संविधान की प्रकृति बताता है। वास्तव में संविधान जीवन का ढंग था।

प्रीमिज कहता है कि संविधान एक विशिष्ट जीवन को व्यक्त करता है। प्रत्येक संविधान इस जीवन की व्यवस्था के अनुकूल शासित वर्ग बनाया करता

था। समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के भिन्न-भिन्न जीवन सिद्धान्त होते थे। इसलिये जब कोई नया सिद्धान्त अपनाया जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि नये वर्ग के हाथ में सत्ता आ गई है। इस प्रकार संविधान के परिवर्तन का अर्थ होता है, सिद्धान्त का परिवर्तन जीवन व्यवस्था का परिवर्तन। इसी कारण शासक वर्ग ही संविधान है। अब हम अरस्तू के इस कथन को समझ सकेंगे कि संविधान राज्य के स्वरूप को निश्चित करता है और शासक वर्गों की प्रकृति संविधान की प्रकृति को।

संविधान

संविधान राज्य के जीवन को व्यक्त करता है।

शासक वर्ग की प्रकृति संविधान को निर्मित करती है।

राज्य का प्रमुख तत्व वर्गों की प्रकृति है इसी कारण अरस्तू राज्यों का वर्गीकरण वर्गों की प्रकृति के आधार पर करता है।

(६)
राज्यों का वर्गीकरण

अरस्तू राज्यों का वर्गीकरण दो आधारों पर करता है

(१) सर्वोच्च शक्ति जिस वर्ग के पास है, उसकी संख्या के आधार पर और

(२) उद्देश्य के आधार पर (जिसके अनुसार शासक वर्ग राज्य चलाता है)। चूंकि राज्य का उद्देश्य अच्छे जीवन की प्रतिष्ठा करना है, इसलिये जो राज्य सबकी भलाई देखते हैं और समान रूप से सबके लिए अच्छे जीवन की व्यवस्था करते हैं, वे प्रकृत राज्य हैं। जहाँ शासक सबका हित न देखकर केवल अपना हित देखते हैं, वे विकृत राज्य हैं। इन आधारों पर अरस्तू के राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा।

संख्या	प्रकृत (सबका हित)	विकृत (शासकों का हित)
एक का शासन	राजतन्त्र	निरंकुश तन्त्र
अल्पवर्ग का शासन	कुलीनतन्त्र	धनिकतन्त्र
बहुसंख्यक लोगों का शासन	नगर-व्यवस्था (Polity)	जनतन्त्र

संविधानों के वर्गीकरण में अरस्तू ने वास्तविक महत्व शासकों की संख्या को नहीं दिया शासक वर्ग की प्रकृति और उसके उद्देश्य को दिया है क्योंकि यदि किसी राज्य मे समृद्धिशाली व्यक्तियों की संख्या अधिक हो जाय तो वह जनतन्त्र नहीं होगा और न अल्प-संख्यक गरीबों का शासन धनिकतन्त्र कहलायेगा। "राज्य के सर्वोच्च वर्ग का बहुसंख्यक या अल्प संख्यक होना धनिकतन्त्र और प्रजातन्त्र की एक आकस्मिक घटना है, क्योंकि संसार भर में धनी लोग कम और गरीब अधिक हैं। प्रजातन्त्र और धनिकतन्त्र में विभेद लाने वाला वास्तविक लक्षण गरीबी और अमीरी है।"

साथ ही अरस्तू यह भी बताता है कि बहुसंख्यक और अल्प-संख्यक वर्ग की सरकारों म ऐसी सरकारें कम ही हैं, जो राज्य के वास्तविक उद्देश्य को पूरा करती हैं। इस प्रकार कुलीनतन्त्र और नगर व्यवस्था व्यवहार में पाये जाने वाले तन्त्र नहीं हैं।

वर्गीकरण का आधार

(१) शासक वर्ग की संख्या।
(२) शासक वर्ग का उद्देश्य—स्वार्थ (विकृत) या सर्वहित (प्रकृत)।
(३) शासक वर्ग की प्रकृति—गरीबी अमीरी।
(४) शासन-पद वितरण का सिद्धांत।

——— ———

राजतंत्र — सर्वश्रेष्ठ (श्रेष्ठ व्यक्ति)
कुलीनतंत्र — „ (सदाचार)
नगर-व्यवस्था (व्यावहारिक आदर्श)
जनतंत्र (समानता)
धनिकतंत्र (धन)
निरंकुश (धोखेबाजी)

संविधानों में अन्तर केवल शासक वर्ग की प्रकृति के कारण ही नहीं होता उनमें जिस सिद्धान्त पर पदों और अधिकारों का वितरण होता है, उन सिद्धान्तों के कारण भी अन्तर होता है। कुलीनतन्त्र मे सदाचार के आधार पर लोगों को शासन-पद मिलता है, धनिकतन्त्र मे धन के आधार पर और जनतन्त्र में स्वतन्त्र जन या समानता के आधार पर।

राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का शासन है। कुलीनतन्त्र कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का। ये दोनों तन्त्र प्लेटो के दार्शनिक राजाओं के समान हैं, जिनका होना असम्भव सा ही है, क्योंकि इस संसार में ऐसे व्यक्तियों का अभाव है। नगर व्यवस्थातन्त्र ही ऐसा आदर्श है जो वास्तविकता का रूप ले सकता है, और यदि लोकतन्त्रात्मक राज्यों का ठीक से संचालन हो तो वे इस आदर्श के अनुरूप बन सकते हैं। नगर व्यवस्था में मर्यादा का सिद्धान्त अपनाया जाता है, और इसमें पदों का विभाजन सैनिक गुणों के आधार पर होता है।

विकृत तन्त्रों में जनतन्त्र सबसे अच्छा है, क्योंकि इसमें समानता के सिद्धान्त को अपनाया जाता है, उसके बाद धनिकतन्त्र का स्थान आता है, क्योंकि इसमें राज्य के लिये आवश्यक धन के आधार पर पदों का वितरण होता है। निरंकुश शासकों का गुण धोखेबाजी और जालसाजी है, इसलिये यह सबसे खराब शासन है। उत्तमता के क्रम में राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ है और निरंकुश शासन सबसे बुरा। सर्वश्रेष्ठता में दूसरा स्थान कुलीनतन्त्र का है, जिसका विकृत रूप धनिकतन्त्र है, जो निरंकुश शासन से अच्छा और प्रजातन्त्र से बुरा है। मध्य व्यवस्था व्यावहारिक आदर्श है, इसलिये श्रेष्ठ शासनों में इसका स्थान तीसरा है। इसका विकृत रूप प्रजातन्त्र है, जो विकृत शासन तन्त्रों में सबसे अच्छा शासन है।

आलोचना—

अरस्तू के वर्गीकरण की हम निम्नलिखित आलोचना कर सकते हैं—

१ अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक काल के लिये उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आधुनिक काल के संसदात्मक और अध्यक्षात्मक तथा एकात्मक और संघात्मक शासनों को इस वर्गीकरण में स्थान नहीं दिया जा सकता।

२ अरस्तू का वर्गीकरण कुछ कठोर है। प्रजातंत्र और धनिकतंत्र के अरस्तू ने ही स्वयं कई रूप माने हैं, जिन्हें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना कुछ कठिन हो जाता है। अरस्तू स्वयं मिश्रित राज्य के पक्ष में था। इस राज्य के लिये भी इस वर्गीकरण में स्थान नहीं है।

फिर भी अरस्तू के वर्गीकरण में कुछ नवीनतायें हैं—

१ उसने वर्गीकरण का ढाँचा प्लेटो से अवश्य लिया है परन्तु प्लेटो की भाँति इस वर्गीकरण को केवल संख्या पर आधारित न कर शासक वर्ग की प्रकृति पर भी आधारित किया है। वर्ग की प्रकृति का ध्यान में रखते हुए हम आज भी राज्यों का वर्गीकरण पूँजीवादी और साम्यवादी लोकतंत्र और धनिकतंत्र में करते हैं।

२ उसकी नगर-व्यवस्था भी अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है। इस प्रकार की कल्पना हमें प्लेटो में नहीं मिलती।

३ अरस्तू ने राज्य के उद्देश्य को भी वर्गीकरण में स्थान दिया है। आधुनिक काल में हम भी राज्य के उद्देश्य को देखकर राज्यों का पुलिस राज्य और कल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवादी (पूँजीवादी) और समाजवादी राज्यों में

वर्गीकरण करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अरस्तू राज्य के नैतिक उद्देश्य को ही सामने रखता है, आधुनिक युग में हम राज्यों के कार्यों को देखते हैं।

(७)
विधि की महत्ता

राजतंत्र की चर्चा करते हुए अरस्तू इस बात को मानता है कि यदि किसी समाज में ऐसा व्यक्ति मिल सके जिसके वैयक्तिक गुण सर्वश्रेष्ठ हों और सबके सामूहिक गुणों से अधिक हों तो उसे शासक बनाना अच्छा होगा क्योंकि वह मनुष्यों में देवता है। परन्तु बर्बर जातियों को छोड़कर अन्य राज्यों में ऐसे व्यक्ति का मिलना कठिन है, क्योंकि सभ्य राज्यों के नागरिकों में राजनैतिक चेतना होती है, और वे राजनैतिक असमानता को स्वीकार नहीं करते। इसलिये अधिकतर राज्यों में ऐसे व्यक्ति को देश निकाला मिल जाता है। यदि देश निकाला न भी मिले तो भी यह बात विचारणीय है कि क्या सभ्य समाजों के नागरिकों के सामूहिक गुण इस एक व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों से हलके पड़ेंगे ? यदि नहीं तो जनता को ही अधिकार देना उत्तम होगा। फिर ऐसा राजा आनुवंशिक नहीं हो सकता क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि पिता के गुण पुत्र में भी मौजूद हों। सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नियमों के बंधन से मुक्त रखा जा सकता है, परन्तु यदि उसमें दुष्ट प्रवृत्ति जाग्रत हो गई तो विधि के बंधन से मुक्त राजतंत्र निरंकुशतंत्र में परिवर्तित हो जाते हैं, जो सबसे गिरा हुआ तंत्र है।

इसलिये सर्वशक्तिशाली सर्वश्रेष्ठ राज्य की अपेक्षा अरस्तू वैधानिक या नियमों के बंधन से बंधे हुए राजतंत्र को अच्छा समझता है। इसी संबंध में वह विधि की महत्ता की चर्चा करता है, और विधि के शासन को किसी एक व्यक्ति के शासन से अच्छा समझता है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में विधि-बंधन मुक्त दार्शनिक राजाओं के शासन को सर्वश्रेष्ठ माना है, और लॉज में लिखित विधि के शासन को द्वितीय सर्वोत्तम। अरस्तू लॉज की विचारधारा से प्रभावित है और प्लेटो के द्वितीय सर्वोत्तम को ही सर्वोत्तम राज्य घोषित करता है। उसकी कल्पना में जैसा हम देख चुके हैं विधि बंधन मुक्त राजतंत्र न केवल अव्यावहारिक है, वरन् उसकी निरंकुश तंत्र

में बदलने की प्रवृति भी होती है। इसलिये ऐसे शासन को वह सर्वोत्तम राज्य के लिये उपयुक्त नहीं समझता।

विधि की विवेचना करते हुए वह लिखता है कि समाज के रीतिरिवाज हमारी संचित बुद्धि है। रीतिरिवाजों का प्रादुर्भाव ही अच्छे जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये होता है, इसलिये विधि विवेक और नैतिकता के पर्यायवाची हैं। जिस समाज में विधियों की महत्ता रहती है, वह समाज अपने सर्वोत्कृष्ट उद्देश्यों को पूरा करते हैं। विधि के शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विधियाँ सबके साथ समान व्यवहार करती हैं और निष्पक्ष रहती हैं जबकि व्यक्ति का शासन पक्षपात पूर्ण हो सकता है। विधि में भावनाओं का सम्मिश्रण नहीं हो सकता।

विधि की महत्ता

- दार्शनिक राजा की कल्पना अव्यावहारिक है।
- विधि-बंधन-मुक्त राजा निरंकुश होता है।
- विधि का राज्य सर्वोत्तम
- क्योंकि विधियाँ पूर्वजों का ज्ञान है
- राज्य के उद्देश्य को पूरा करती है,
- निष्पक्ष होती हैं, भावना रहित होती हैं।
- विधि में परिवर्तन समूह द्वारा होना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि परिवर्तित समाजों के लिये विधि का शासन ठीक नहीं रह सकता क्योंकि विधि का शासन परिस्थिति के अनुकूल नहीं बदल सकता इसलिये कानून की दुर्बलताओं को मिटाने का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति को न देकर कुछ या अनेक व्यक्तियों को दिया जाना चाहिये। अनेक व्यक्तियों की सामूहिक बुद्धि एक व्यक्ति की बुद्धि से श्रेष्ठतर होती है। अनेक व्यक्ति आसानी से पथभ्रष्ट भी नहीं हो सकते और न उन पर पक्षपात का दोष लगाया जा सकता है। इस प्रकार अरस्तू कानून की प्रभुता का समर्थक है, व्यक्ति की प्रभुता का नहीं।

(८)

आदर्श राज्य

अरस्तू की रीति की चर्चा करते समय हम बता आये हैं कि अरस्तू अनुभववादी था और वह कल्पना की अपेक्षा व्यवहार को अधिक महत्ता देता

है। अरस्तू की वैज्ञानिक प्रवृत्ति समकालीन राज्यों को ही आदर्श राज्य बनाने की ओर झुकी हुई थी। इसीलिये वह आदर्श राज्य की चर्चा करते हुए इस बात पर जोर देता है कि आदर्श राज्य वही ठीक कहा जा सकता है, जो इस संसार में संभव हो सके।

आदर्श राज्य की रूपरेखा खींचना तुलनात्मक अध्ययन में दिलचस्पी लेने वाले अरस्तू के मनोनुकूल न था। इसलिये पुस्तक के दूसरे भाग में प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना कर तीसरे भाग में उसने आदर्श राज्य की चर्चा प्रारंभ नहीं की है। तीसरे से छठवें भाग तक उसने वास्तविक राज्यों की समीक्षा की है। सातवें और आठवें भाग में ही वह आदर्श राज्य के विषय पर आता है परन्तु यहां भी वह एक आदर्श की नहीं वरन् राज्य के आदर्शों की चर्चा करता है। इन भागों में वह आदर्श राज्यों की शिक्षा व्यवस्था इनके लिये उपयुक्त भूमि जनसंख्या नगर योजना पर ही लिखता है, शासन के संगठन या संविधान पर नहीं। मालूम ऐसा होता है कि आदर्श राज्य का विषय उसकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल था इसलिये उसने इस प्रकार की चेष्टा ही छोड़ दी।

सातवें और आठवें भाग में वह जिस सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करता है, वह उसकी नगर व्यवस्था तंत्र की पूरक है। जैसा हम बता आये हैं नगर व्यवस्था तंत्र व्यावहारिक है। इसलिये अरस्तू की दृष्टि से नगर व्यवस्था तंत्र व्यावहारिक आदर्श तंत्र बनाता है। परन्तु इस तंत्र की चर्चा उसने वास्तविक राज्यों की समीक्षा के साथ की है। इसलिये यहां हम केवल सातवें और आठवें भाग में दिये गये विचारों को ही बतायेंगे और नगर व्यवस्था के संबंध में आगे चर्चा करेंगे।

अरस्तू यूनानी परंपरा का समर्थक था, इसलिये उसके आदर्श राज्य में हमें तीन सिद्धान्त स्पष्ट रूप में दिखाई देते हैं:

१ राज्य का लक्ष्य व्यक्ति की नैतिक उन्नति करना है

२ मर्यादा का सिद्धान्त और

३ विधि की सम्प्रभुता।

अरस्तू के अनुसार प्रत्येक समुदाय का एक गुण है। गुण बुद्धि और सदाचार के द्वारा मिलता है भौतिक साधनों के द्वारा नहीं। पर भौतिक साधन भी राज्य के लिये आवश्यक हैं। इसलिये एक सीमा में इनका होना आवश्यक है, इनकी अति व्यक्ति और राज्य दोनों के लिये बुरी है।

आदर्श राज्य के आर्थिक उपादान—

राज्य की भूमि न तो बहुत अधिक हो न बहुत कम। इसकी जनसंख्या भी एक मर्यादा में हो। कम भूमि और कम जनसंख्या होने से राज्य स्वरक्षित नहीं हो सकता और न अपनी सुरक्षा कर सकता है। मर्यादा से अधिक होने पर इसमें एकता का अभाव होगा। भूमि और जनसंख्या तभी आदर्श कही जा सकेगी जब वह निवासियों के भौतिक साधनों को पूरा कर सके और उसके निवासी एक दूसरे से जानकारी रख सकें। नागरिकों में बुद्धि और उत्साह दोनों का गुण हो और दासों की संख्या इतनी हो कि नागरिक वर्ग सांस्कृतिक कार्यक्रम और सदाचारी जीवन में भाग ले सकें। इसकी स्थिति ऐसी हो कि वह आक्रमणों से सुरक्षित रहे। चूंकि अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुण उसी समय एक होते हैं जब नागरिकों को शासित होने और शासन कार्य करने के अवसर समान हों इसलिये सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि नव युवक वर्ग सेना का कार्य करें और वृद्ध जनों द्वारा शासन हो। नवयुवक वर्ग को आयु प्राप्त करने पर आप से आप शासन अधिकार मिल जायेगा। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में शासक और शासितों के बीच कोई संघर्ष न होगा। दूसरे शासित वर्ग जब शासक वर्ग बनेगा तो वह शासितों के हितों को अच्छी तरह जानने के कारण उन्हें ही पूरा करेगा। नागरिकों के पास व्यक्तिगत संपत्ति भी होगी परन्तु कुछ संपत्ति सार्वजनिक उपभोग के लिये भी रखी जायेगी। संपत्ति के इस वितरण में अरस्तू का यह मिश्रित सिद्धान्त स्पष्ट दिखाई देता है।

आदर्श राज्य की विशेषता—

प्लेटो ने रिपब्लिक में तीन प्रमुख कार्य बताये थे—आर्थिक, सैनिक और राज्य संचालन। इन्हीं के अनुरूप उसने तीन वर्गों की व्यवस्था की थी और प्रत्येक वर्ग को आजीवन एक ही कार्य करने को कहा था। अरस्तू ने राज्य के छै प्रकार के काम बताये—खाद्य सामग्री का प्रबन्ध, दस्तकारी की व्यवस्था, सुरक्षा कार्य, संपत्ति की वृद्धि, शासन कार्य और पूजा पाठ। प्रथम दो कार्य तो दास और शिल्पकार वर्ग द्वारा होंगे परन्तु अन्य सब कार्य नागरिकों द्वारा होंगे इसलिये प्रत्येक नागरिक सभी कार्य करने का अधिकारी है। युवावस्था में वह सैनिक कार्य करेगा, परिपक्व अवस्था में शासन का और वृद्धावस्था में पुजारी का। इस प्रकार राज्य में शासक और शासित वर्गों के बीच संघर्ष की संभावना नहीं है। राज्य की एकता बनाये रखने के लिये वह उचित शिक्षा की व्यवस्था भी करता है। राज्य का संचालन बयोवृद्ध और अनुभवी लोगों के हाथ में होने

के कारण यह सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सरकार होगी। पर इसका स्वरूप जनतंत्रात्मक है, क्योंकि शासन का द्वार सबके लिये खुला है। इस प्रकार आदर्श राज्य में अरस्तू ने कुलीन तंत्र और जनतंत्र का मिश्रण किया है।

अरस्तू का यह आदर्श राज्य व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है। इसी कारण जनसंख्या और भूमि के संबंध में जो सुझाव रखे गये हैं, वे अधिक व्यावहारिक हैं।

अरस्तू संपत्ति और कुटुम्ब को मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक मानता है, इसलिये इनको समाप्त नहीं करता। उसके अनुसार राज्य की एकता विभिन्नता पर आधारित है।

आदर्श राज्य

आदर्श का विकास अरस्तू की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं।

यह व्यावहारिक आदर्श राज्य देता है।

राज्य की भौतिक वस्तु का मर्यादा और विधि की सम्प्रभुता अपनाना चाहिये।

भूमि और जनसंख्या की मर्यादा हो।

शासित वर्ग शासक बन सके।

दास—कृषि और दस्तकारी।

नागरिक—यौवन काल में सैनिक
प्रौढ़ावस्था में शासक
वृद्धावस्था में पुजारी

सम्पत्ति—निजी और सार्वजनिक।

इस तरह राज्य का सामूहिक जीवन और व्यक्ति का विकास दोनों ही एक साथ चल सकते हैं।

(६)

वास्तविक राज्यों की समीक्षा

वास्तविक राज्यों की समीक्षा करने में अरस्तू ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि अवलोकन और अनुभव का परिचय दिया है। इस कार्य के लिये उसने १५८ संविधानों को एकत्रित किया था। वास्तविक राज्यों की समीक्षा उसकी नई अध्ययन रीति का परिचय देती है। वास्तविक राज्यों की समीक्षा में वह राज्यों के परिवर्तन चक्र को देखता है, इन परिवर्तनों के कारण खोजता है और यह सुझाव देता है कि किस प्रकार लोगों की परिस्थितियों के अनुसार राज्यों के स्वरूप को परिवर्तित किया जा सकता है। उसके अनुसार शासन तंत्र को देश काल का ध्यान रखना चाहिये। शासन तंत्र सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

इन शासन-तंत्रों को क्रांतियों से बचाने के वह उपाय भी बताता है। इन साधनों को बताने में नैतिकतावादी अरस्तू अपने नीतिशास्त्र को एक किनारे रख देता है क्योंकि यदि निरंकुश तंत्र एक शासन है, भले ही वह बुरा हो तो एक वैज्ञानिक के लिये उसे भी सुरक्षित करने के उपाय जानना आवश्यक है, चाहे वे साधन अनैतिक ही क्यों न हों।

वास्तविक शासन-व्यवस्थायें अरस्तू के वर्गीकरण के विकृत तंत्र ही हैं। इसलिये इनमें वह जनतंत्र धनिक तंत्र और निरंकुश-तंत्र की चर्चा करता है। उसके समकालीन नगर राज्यों में जनतंत्र और धनिकतंत्र का ही बोलबाला था।

जनतंत्र—

जनतंत्र वह शासन है, जिसमें बहु संख्यक गरीब शासन करते हैं। लोकतंत्र का मूल आधार स्वतन्त्रता और समानता है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग लेने का समान अधिकार रहता है और प्रत्येक अपनी इच्छानुसार जीवन यापन करने के लिये स्वतंत्र होता है। जिससे एक व्यक्ति दूसरे को आदेश न दे सके इसलिये नागरिक बारी बारी से शासक और शासित वर्ग बनाते हैं। अपने अधिकारी चुनने का सबको समान अधिकार होता है, और निर्वाचकों के लिये संपत्ति की योग्यता नहीं रखी जाती। जिसमें सबको शासन करने का अवसर मिल सके, इसलिये शासकों की पद-अवधि अल्पकालीन होती है।

वास्तविक राज्य

संविधान देश काल के अनुरूप सापेक्ष होते हैं।

परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन होते हैं इसलिये इन्हें स्थायी बनाने के साधन भी जानना आवश्यक।

जनतंत्र—गरीब बहुसंख्यक का शासन।

गुण—स्वतंत्रता और समानता।

धनिक तंत्र—सम्पत्ति की योग्यता।

गुण—कम वर्ग संघर्ष।

निरंकुश तंत्र—शासक का स्वार्थ।

गुण—बल।

प्रजातंत्र के ये लक्षण भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न अंशों में मिलते हैं। इस कारण लोकतंत्र कई रूप ले सकता है। अरस्तू पांच प्रकार के लोकतंत्र बताता है। कृषकों का लोकतंत्र सर्वोत्तम होता है और उस लोकतंत्र सबसे निम्न। उस लोकतंत्र में श्रम जीवियों तथा दस्तकारियों में लगे लोगों की प्रधानता होती है जो बिना सोच विचारे नागरिकता के नियमों को और शासक वर्ग को इच्छानुसार बदलते रहते हैं। ऐसे प्रजातंत्र का जीवन अल्पकालिक होता है।

धनिक-तंत्र—

धनिक-तंत्र में नागरिकता की योग्यता सम्पत्ति पर आधारित होती है, इसलिये इस तंत्र में गरीब नागरिक भाग नहीं ले सकते। सामंत तंत्र के भी चार भेद हैं, परन्तु इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है। १—जिसमें धन की प्रधानता हो। २—जिसमें आनुवंशिकता को प्रधानता दी जाती हो। अरस्तू ने धनिक तंत्र के गुण दोषों पर भी प्रकाश डाला है। धनिकतंत्र राज्य की सेवा न केवल धन देकर वरन् अश्वारोही सेना बनाकर करते हैं। परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें गरीब और अमीरों के वर्ग संघर्ष प्रारंभ हो जाते हैं।

निरंकुश तंत्र—

यह शासन का सबसे बिगड़ा रूप है। इसके तीन रूप हो सकते हैं। प्रथम दो रूप तो राजतंत्र से मिलते हैं परन्तु अंतिम रूप स्वेच्छाचारिता का रूप ले लेता है। यह बल पर आधारित होता है और इसमें शासक केवल अपना ही हित देखता है।

(१०)
नगर-व्यवस्था या मिश्रित राज्य

वास्तविक राज्यों की चर्चा करते हुए अरस्तू इस विषय पर आता है कि वह कौन सा राज्य है, जो अधिक व्यावहारिक है और साथ ही सर्वश्रेष्ठ है ? नगर व्यवस्था इस प्रकार का राज्य है, जो प्रचलित शासन पद्धतियों में थोड़ा बहुत सुधार करके प्राप्त किया जा सकता है। धनिक तंत्र और जन तंत्र दोनों में ही दोष हैं दोनों में ही वर्ग संघर्ष की संभावना होती है। इसलिये राज्य की एकता बनाने में वही तंत्र सफल हो सकता है जिसमें लोकतंत्र और सामंत तंत्र का मिश्रण हो। यदि धनिक तंत्र अल्प संख्यक धनिकों का राज्य है और जन तंत्र बहुसंख्यक गरीबों का तो नगर व्यवस्था वह शासन है जिसमें मध्यम वर्ग के पास सत्ता होती है, जो न अधिक धनी होता है और न अधिक गरीब।

मिश्रित राज्य में मध्यम वर्ग का प्राधान्य होना चाहिये अर्थात् इनकी संख्या गरीबों और अमीरों की सम्मिलित संख्या से अधिक रहे।

नगर-व्यवस्था जनतंत्र और धनिकतंत्र का मेल है। पर व्यवहार में मध्यम वर्ग के बाहुल्य के कारण, जिसमें प्रजातंत्र का भाग अधिक होता है, इसे नगर

व्यवस्था का नाम दिया जाता है। जिसमें धनिकतंत्र की महत्ता रहती है, वह कुलीन तन्त्र कहलाता है। इसलिये नगर-व्यवस्था जनतन्त्र और कुलीन तन्त्र के भेद को स्पष्ट करना आवश्यक है। राज्य में हमें अमीर और गरीब के दो वर्ग नहीं मिलते। उसमें हमें तीन तत्त्व मिलते हैं

१ स्वतन्त्र गरीब नागरिक
२ धनिक वर्ग
३ श्रेष्ठ व्यक्तियों का वर्ग

इसलिये कुलीनतन्त्र वह है, जिसमें श्रेष्ठ व्यक्तियों को स्थान मिलता है और नगर व्यवस्था उस संविधान को कहेंगे जो स्वतन्त्रता और धन इन दो तत्त्वों को ही मान्यता देता है।

स्वतंत्रता और धन के इन तत्त्वों को तीन प्रकार से मिलाया जा सकता है इसलिये नगर व्यवस्था के तीन रूप हैं। पहिला रूप वह है, जिसमें हम पूरे जनतन्त्र को पूरे धनिक तंत्र से मिलाते हैं दूसरे में हम जनतंत्र और धनिक तंत्र के बीच का मार्ग अपनाते हैं और तीसरे में जनतन्त्र के कुछ तत्त्वों का धनिक तंत्र के तत्त्वों से मिश्रण करते हैं। इस तरह नगर व्यवस्था मिश्रित संविधान है। अरस्तु के अनुसार स्पार्टा का संविधान इसका उदाहरण है।

अरस्तू लिखता है 'स्वयं सदाचार मध्यम मार्ग है, मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यम मार्ग ही ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है।'[1] इसलिये मिश्रित संविधान पूर्ण व्यावहारिक संविधान है, जो अधिकतर राज्यों और मनुष्यों द्वारा अपनाया जाता है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करने के कारण यह सर्वोत्तम भी है।

राज्यों में मध्यम वर्ग धनवानों और गरीबों के बीच का वर्ग है। मध्यम श्रेणी के लोगों में न तो धनवानों की अभिलाषायें होती हैं और न गरीबों की संकुचित प्रवृत्ति। धनवान केवल शासन करना जानते हैं, गरीब शासित होना। इसलिये धनिक तंत्र और जन तन्त्र स्वामियों या दासों के राज्य होते हैं घृणा या तिरस्कार के राज्य होते हैं इनमें सामाजिकता और मित्रता की भावना नहीं होती। सामाजिकता मित्रता पर अवलंबित है इसलिये नगर राज्यों का एक समान और एक प्रकृति के मनुष्यों का समाज होना चाहिये।

---

[1] अरस्तू, पालिटिक्स पुस्तक ४ ११

केवल मध्यम श्रेणी के लोग ही ऐसा राज्य बना सकते हैं। चूंकि ऐसे राज्य में न तो शासकों के प्रति ईर्ष्या होती है और न शासकों में शासित वर्ग के शोषण की लालसा इसलिये इसमें वर्ग संघर्ष नहीं होते और राज्य स्थायी रहता है। चूंकि मध्यम वर्ग सब प्रकार की अभिगामी प्रवृत्तियों से मुक्त होता है इसलिये यह दलगत राजनीति की अपेक्षा सर्वोदयी विचारधारा का पक्षपाती है।

व्यावहारिक आदर्श राज्य
नगर व्यवस्था—लोकतंत्र और धनिकतंत्र का मिश्रण या मध्यम वर्ग का बाहुल्य।
गुण—स्वतन्त्रता और धन सामाजिकता और मित्रता सर्वोदय का पक्षपाती शासक और शासित वर्ग एक।

समकालीन राज्यों में अरस्तू नगर व्यवस्था के उदाहरण नहीं पाता क्योंकि इनमें मध्यम वर्ग केवल सीमित संख्या में ही पाया जाता है। अल्प संख्यक होने के कारण प्रजातंत्र और धनिक तंत्र दोनों में ही यह वर्ग शासकों का शिकार बनता है। इसी कारण नगर व्यवस्था वहीं हो सकती है, जहां अमीरी और गरीबी मर्यादित हों या मध्यम श्रेणी का बाहुल्य हो।

(११)

क्रान्तियाँ

शासन व्यवस्थाओं के अध्ययन करने के पश्चात् अरस्तू राज्यों के पतन और क्रान्तियों के कारणों की विवेचना करता है, साथ ही वह इन क्रान्तियों से बचने के उपाय भी बताता है।

अरस्तू ने नगर राज्यों में होने वाली क्रान्तियों को देखा था और उनकी विवेचना करने के लिये उसके पास पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री थी। उसका विश्लेषण ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है। क्रान्तियों के वह सामान्य और विशिष्ट कारण बताता है। इन क्रान्तियों से बचने के और राज्य में स्थायित्व रखने के उसने जो उपाय बताये हैं, वे व्यावहारिक हैं इसलिये अरस्तू ने इनमें नैतिक अनैतिक का विचार नहीं रखा। कहीं-कहीं तो इसमें कौटिल्य और मैकियावली की झलक दिखाई देने लगती है।

साधारणतः क्रान्तियां असमानता के कारण होती हैं। क्योंकि नागरिकों की आन्तरिक इच्छा समान अवसर और अधिकार पाने की होती है।

धन की असमानता लोगों को उतनी नहीं खलती जितनी पद और सम्मान की। शासक वर्ग संपत्ति जन्म या वसता के कारण पद अधिकार का उपभोग करता है, तो जनता का इनके विरुद्ध होना स्वाभाविक हो जाता है।

क्रान्ति के कारणों को पूर्णतया नहीं गिनाया जा सकता। परन्तु क्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं। कुछ लोगों द्वारा लाभ और सम्मान की अत्यधिक प्राप्ति और दूसरों को अन्याय पूर्वक उनसे वंचित रखना शासकों की धृष्टता महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का तिरस्कार, कुछ व्यक्तियों का अधिकतम सम्मान राज्य के किसी अंग की असंतुलित वृद्धि चुनाव में षड्यन्त्र और दल बदी छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति असावधानी। इस प्रकार क्रान्तियां शासकों के दोष के कारण होती हैं शासितों के दोष के कारण नहीं।

क्रान्ति करने के पश्चात् क्रान्तिकारी लोग कभी पूरी व्यवस्था को बदल डालते हैं या केवल शासनाधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट रह जाते हैं। क्रान्तियों का परिणाम तन्त्रों पर भी पड़ता है। क्रान्तियों के पश्चात् जनतंत्र और धनिक तंत्र या तो अधिक उग्रगामी हो जाता है या अधिक हलका। कभी-कभी क्रान्तियों का सीमित लक्ष्य भी होता है, जैसे किसी एक विशेष संस्था या व्यक्ति को समाप्त करना।

ऊपर अरस्तू ने क्रान्तियों के सामान्य कारण बताये। परन्तु इनके अतिरिक्त विभिन्न शासनतन्त्रों में कुछ विशेष कारण भी होते हैं। जनतंत्र में शासकों की उग्र प्रवृत्तियों से रुष्ट होकर धनिक वर्ग जनतंत्र को उखाड़ फेंकने के लिये तत्पर हो जाता है या कभी-कभी लोकनायक ही निरंकुश शासक बन बैठता है। धनिकतंत्र का उत्पीड़क शासन प्रजा को विद्रोह के लिये भड़का देता है। धनिक वर्ग की आपसी फूट या किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा भी धनिक तंत्र को समाप्त करती है। कुलीन तंत्र में कुछ लोगों के पास ही शक्ति रहती है इसलिये अन्य महत्वाकांक्षी लोगों में द्वेष की भावना जागृत होने लगती है। नगर व्यवस्था में यदि जनतंत्र और धनिक तंत्र के तत्त्वों का उचित सम्मिश्रण नहीं होता तो इसमें भी क्रान्ति होती है। क्रान्ति के पश्चात् कोई तंत्र क्या रूप लेगा, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता।

क्रान्ति से बचने के उपाय—

अरस्तू का कहना है कि शासन में स्थायित्व लाने के लिये कुछ सामान्य नीतियों को अपनाना आवश्यक है। यदि शासक जनता के प्रति समझदारी का बर्ताव करें, उनसे अच्छा संबंध बनाये रखें जनता के धन का अपहरण न करें

केवल मध्यम श्रेणी के लोग ही ऐसा राज्य बना सकते हैं। चूंकि ऐसे राज्य में न तो शासकों के प्रति ईर्ष्या होती है और न शासकों में शासित वर्ग के शोषण की लालसा इसलिये इसमें वर्ग संघर्ष नहीं होते और राज्य स्थायी रहता है। चूंकि मध्यम वर्ग सब प्रकार की अतिगामी प्रवृत्तियों से मुक्त होता है इसलिये यह दलगत राजनीति की अपेक्षा सर्वोदयी विचारधारा का पक्षपाती है।

व्यावहारिक आदर्श राज्य

नगर व्यवस्था—लोकतंत्र और धनिकतंत्र का मिश्रण या मध्यम वर्ग का बाहुल्य।

गुण—स्वतन्त्रता और सम सामाजिकता और मित्रता सर्वोदय का पक्षपाती शासक और शासित वर्ग एक।

समकालीन राज्यों में अरस्तू नगर व्यवस्था के उदाहरण नहीं पाता क्योंकि इनमें मध्यम वर्ग केवल सीमित संख्या में ही पाया जाता है। अल्प संख्यक होने के कारण प्रजातंत्र और धनिक तंत्र दोनों में ही यह वर्ग शासकों का शिकार बनता है। इसी कारण नगर व्यवस्था नहीं हो सकती है, जहां अमीरी और गरीबी मर्यादित हों या मध्यम श्रेणी का बाहुल्य हो।

(११)
क्रान्तियाँ

शासन व्यवस्थाओं के अध्ययन करने के पश्चात् अरस्तू राज्यों के पतन और क्रान्तियों के कारणों की विवेचना करता है, साथ ही वह इन क्रान्तियों से बचने के उपाय भी बताता है।

अरस्तू ने नगर राज्यों में होने वाली क्रान्तियों को देखा था और उनकी विवेचना करने के लिये उसके पास पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री थी। उसका विश्लेषण ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है। क्रान्तियों के वह सामान्य और विशिष्ट कारण बताता है। इन क्रान्तियों से बचने के और राज्य में स्थायित्व रखने के उसने जो उपाय बताये हैं, वे व्यावहारिक हैं इसलिये अरस्तू ने इनमें नैतिक अनैतिक का विचार नहीं रखा। कहीं-कहीं तो इसमें कौटिल्य और मैकियावली की झलक दिखाई देने लगती है।

साधारणतः क्रान्तियां असमानता के कारण होती हैं। क्योंकि नागरिकों की आन्तरिक इच्छा समान अवसर और अधिकार पाने की होती है।

धन की असमानता लोगों को उतनी नहीं खलती जितनी पद और सम्मान की। शासक वर्ग संपत्ति जन्म या दक्षता के कारण पद अधिकार का उपभोग करता है, तो जनता का इनके विरुद्ध होना स्वाभाविक हो जाता है।

क्रान्ति के कारणों को पूर्णतया नहीं गिनाया जा सकता। परन्तु क्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं। कुछ लोगों द्वारा लाभ और सम्मान की अत्यधिक प्राप्ति और दूसरों को अन्याय पूर्वक उनसे वंचित रखना शासकों की धृष्टता महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों का तिरस्कार, कुछ व्यक्तियों का अधिकतम सम्मान राज्य के किसी अंग की असंतुलित वृद्धि चुनाव में षड्यन्त्र और दल बंदी, छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति असावधानी। इस प्रकार क्रान्तियां शासकों के दोष के कारण होती हैं शासितों के दोष के कारण नहीं।

क्रान्ति करने के पश्चात् क्रान्तिकारी लोग कभी पूरी व्यवस्था को बदल डालते हैं या केवल शासनाधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट रह जाते हैं। क्रान्तियों का परिणाम तंत्रों पर भी पड़ता है। क्रान्तियों के पश्चात् जनतंत्र और धनिक तंत्र या तो अधिक उग्रगामी हो जाता है या अधिक दुर्बल। कभी-कभी क्रान्तियों का सीमित लक्ष्य भी होता है, जैसे किसी एक विशेष संस्था या व्यक्ति को समाप्त करना।

ऊपर अरस्तू ने क्रान्तियों के सामान्य कारण बताये। परन्तु इनके अति रिक्त विभिन्न शासनतंत्रों में कुछ विशेष कारण भी होते हैं। जनतंत्र में शासकों की उग्र प्रवृत्तियों से रुष्ट होकर धनिक वर्ग जनतंत्र को उखाड़ फेंकने के लिये तत्पर हो जाता है या कभी-कभी लोकनायक ही निरंकुश शासक बन बैठता है। धनिकतंत्र का उत्पीड़क शासन प्रजा को विद्रोह के लिये भड़का देता है। धनिक वर्ग की आपसी फूट या किसी व्यक्ति की उच्चाकांक्षा भी धनिक तंत्र को समाप्त करती है। कुलीन तंत्र में कुछ लोगों के पास ही शक्ति रहती है, इसलिये अन्य महत्वाकांक्षी लोगों में द्वेष की भावना जागृत होने लगती है। मध्य व्यवस्था में यदि जनतंत्र और धनिक तंत्र के तत्त्वों का उचित सम्मिश्रण नहीं होता, तो इसमें भी क्रान्ति होती है। क्रान्ति के पश्चात् कोई तंत्र क्या रूप लेगा, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता।

क्रान्ति से बचने के उपाय—

अरस्तू का कहना है कि शासन में स्थायित्व लाने के लिये कुछ सामान्य नीतियों को अपनाना आवश्यक है। यदि शासक जनता के प्रति उत्तमदायी का बर्ताव करें, उनसे अच्छे सम्बन्ध बनाये रखें जनता के धन का अपहरण न करें,

महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को सम्मान देकर सन्तुष्ट रखें और जनता को विशेषकर प्रमुख व्यक्तियों को शासन में भाग लेने दें तो हर प्रकार का शासन तंत्र स्थायी हो सकता है। कानून का पालन करना शासकों के लिये आवश्यक है। जनता [redacted] कपट का व्यवहार न होना चाहिये क्योंकि कपट का भंडाफोड़ जल्दी हो जाता है। राज्य को संगठित करने के लिये विदेशी शत्रुओं के आक्रमण का भय आवश्यक हो सकता है। शासक वर्ग को अपनी एकता बनाये रखना चाहिये और जनता में भेदनीति का इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये कि कोई एक दल अधिक शक्तिशाली न हो जाय। यदि राज्य की जनता में संपत्ति के वितरण की समस्या आवे तो इस परिवर्तन में सावधानी रखना चाहिये जिसमें कोई व्यक्ति अकस्मात निर्धन से धनवान और धनवान से निर्धन न हो जाय। प्रजा राजकीय आय व्यय में गड़बड़ी बिलकुल भी सहन नहीं करती। इसलिये राजकीय आय व्यय का लेखा ईमानदारी से तैयार होना चाहिये। जनतंत्र में धनिक वर्ग द्वेष रखता है और धनिक तंत्र में जनता। इसलिये इन तंत्रों को ऐसी नीति नहीं अपनाना चाहिये जो शासित वर्ग में द्वेष फैलाये। शासन पद्धति को ठीक रखने के लिये योग्य और दक्ष कर्मचारियों की नियुक्ति होना आवश्यक है। धनिक तंत्र और जनतंत्र की अपेक्षा मध्यम व्यवस्था मिश्रित गुण पर आधारित होने के कारण अधिक स्थायी रहती है। तानाशाह भी अपने राज्य को दो प्रकार से सुरक्षित कर सकता है। वह जनता को या तो इतना दीन हीन निर्धन या अपंग बना दे कि जनता कभी सिर न उठा सके या वह अपना स्वार्थ त्याग कर लोक कल्याण में लग जाय।

खामियाँ

सामान्य कारण—असमानता विशेष कर पद और सम्मान की।
शासकों की धृष्टता।
राज्य के किसी अंग का अपरिमित विकास।
षड्यन्त्र।

विशिष्ट कारण—प्रत्येक तंत्र के अलग-अलग।

रोकने के उपाय —

सामान्य उपाय—शासित वर्ग को प्रसन्न रखना कानून का पालन करना शासक वर्ग में एकता शासितों में भेद।
आय-व्यय में सावधानी योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति।

कुछ आलोचकों का कहना है कि अरस्तू ने निम्न कोटि के शासन-तंत्र निरंकुश शासन को भी स्थायी बनाने का जो सुझाव दिया है, और जिन साधनों

का प्रयोग करने को कहा है, वे पूर्ण अनैतिक हैं। इसमें संदेह नहीं कि अरस्तू सदाचारनिष्ठ जीवन की प्रतिष्ठा करना ही चाहता है। यदि उसने निकृष्ट पद्धतियों के स्थायित्व के उपाय बतलाये हैं तो केवल वैज्ञानिक होने के नाते अनैतिक ज्ञान के नाते नहीं। वैज्ञानिक अपनी वस्तु की विवेचना में उचित अनुचित का ध्यान नहीं रखता।

(१२)

अरस्तू की देन

राजनीति दर्शन के इतिहास में अरस्तू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह राजनीति शास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक है। राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र में उसने अलग अलग अध्ययन रीतियों का प्रयोग कर राजनीति शास्त्र को नीति शास्त्र से अलग करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक काल के तुलनात्मक ऐतिहासिक अवलोकन और निगमन पद्धति का जनक अरस्तू ही है। विभिन्न संविधानों का संग्रह कर उनके विश्लेषण करने का प्रयत्न करने वालों में वह सर्वप्रथम है। वैज्ञानिक होने के नाते वह प्रत्येक शासनतंत्र को भले ही वह निरंकुशतंत्र क्यों न हो तटस्थ होकर अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसमें संदेह नहीं कि अरस्तू अपने विचारों के लिए प्लेटो का बहुत ऋणी है। मिश्रित सरकार की धारणा उसने प्लेटो से ही ली थी। राज्य को वह भी नैतिक संस्था मानता है और सदाचार निष्ठ जीवन को व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य। वह भी प्लेटो की भांति राज्य को वर्ग संघर्ष से बचाने और उसमें एकता स्थापित करने के लिये उत्सुक था। परन्तु प्लेटो से प्रभावित होते हुए भी उसके विचार अपने निजी विचार हैं। उसने अपने मत की पुष्टि अनुभवों और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर की है। उसने प्लेटो की तुलना में राज्य के स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझा है, क्योंकि वह राज्य की व्यवस्था को कौटुम्बिक व्यवस्था से भिन्न मानता है। प्लेटो धर्म की धारणा द्वारा वर्गों को अलग अलग करता है। अरस्तू भिन्नता आवश्यक समझता है पर इस भिन्नता में एकता स्थापित करने की चेष्टा करता है।

अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् राजनैतिक विचारों में इतना अधिक परिवर्तन आया कि अरस्तू के साथ ही उसके विचारों का क्रम भी समाप्त हो जाता है

और नये राजनैतिक दर्शन का अभ्युदय होता है। अरस्तू की मृत्यु के लगभग एक हज़ार वर्ष बाद उसकी पुस्तकों का प्रचार फिर प्रारंभ हुआ। मध्य युग में अरस्तू ही एकमात्र राजनैतिक दार्शनिक माना जाता था। अरस्तू ने विधि के शासन को महत्ता दी थी। यह सिद्धान्त मध्ययुगीय संस्थाओं में और कौंसिल आन्दोलनों में पूर्ण रूप से पाया जाता है। आज के इंग्लैंड में भी विधि का राज्य है। इसलिये बार्कर लिखता है कि अरस्तू की राजनैतिक दर्शन को जो सबसे बड़ी देन है, वह है संवैधानिकता।

रत्न ३

कौटिल्य

(१) अर्थशास्त्र की परम्परा। (२) अध्ययन रीति।
(३) राज्य का स्वरूप और सप्तांग सिद्धांत। (४) स्वामी।
(५) अमात्य और अन्य प्रकृतियाँ। (६) अन्तर्राज्य सम्बन्ध।
(७) देश की सुरक्षा। (८) कौटिल्य की देन।

---

(१)

अर्थशास्त्र की परम्परा

अरस्तू की मृत्यु ३२२ ई० पू० में हुई। इसी वर्ष से चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-काल आरम्भ होता है। चन्द्रगुप्त का राजगुरु विष्णुगुप्त या कौटिल्य इन्हीं दिनों अपना अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ लिख रहा होगा। कीथ आदि पश्चिमी विद्वान अर्थशास्त्र को तीसरी ईसवी की कृति मानते हैं। श्री भण्डारकर ने इसे ईसवी की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ माना है। परन्तु डा० शाम शास्त्री और काशीप्रसाद जायसवाल इन मतों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है, जिसे प्रधान मन्त्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ-प्रदर्शन हेतु लिखा था। अर्थशास्त्र का रचना-काल अभी भी विवादग्रस्त है। दशकुमार चरित के लेखक दण्डी ने जिस अर्थशास्त्र को देखा था वह श्लोकों में था और उस समय उसमें छः सहस्र श्लोक थे। जो अर्थशास्त्र हमें मिलता है, उसमें यद्यपि यह उल्लेख है कि इस अर्थशास्त्र में छः सहस्र श्लोक हैं

परन्तु इसकी संख्या छै हजार से कम है और इसमें सूत्र और श्लोक दोनों मिलते हैं। यह हो सकता है कि जो अर्थशास्त्र हमें प्राप्त है, वह कौटिल्य के ही अर्थशास्त्र का नवीन संस्करण हो।

अर्थशास्त्र की परिभाषा—

अर्थशास्त्र आधुनिक अर्थशास्त्र का पर्यायवाची नहीं है। इसमें अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों का सम्मिश्रण है। कौटिल्य ने 'अर्थ' शब्द का प्रयोग मनुष्य की जीविका (वृत्ति) के लिये किया है 'मनुष्याणां वृत्तिरर्थः'। मनुष्य वाली भूमि को ही उन्होंने अर्थ माना है। इसलिये अर्थशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें मनुष्यों वाली भूमि के लाभ और उसके निवासियों के पालन-पोषण के उपायों का वर्णन किया गया हो।[1] इस परिभाषा से अर्थशास्त्र केवल आधुनिक अर्थशास्त्र मालूम होता है। परन्तु अर्थशास्त्र के पढ़ने से हमें यह मालूम होता है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को केवल वस्तु या सम्पत्ति के उत्पादन उपभोग विनिमय और वितरण तक ही सीमित नहीं रखा है। वह भूमि के प्राप्त करने के उपाय बताता है, जनता में सुव्यवस्था स्थापित करने की चर्चा करता है, भूमि को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित करने के उपाय बताता है। इस प्रकार इसमें राज्य-शास्त्र भी सम्मिलित है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थशास्त्र और आधुनिक राज्य-शास्त्र दोनों के लिये किया है। शुक्र नीति में जो अर्थशास्त्र की परिभाषा दी गई है, उसमें राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को समाविष्ट किया गया है। शुक्रनीति के शब्दों में, "श्रुति और स्मृति के अनुसार जिसमें राजनीति का वर्णन हो और धर्म और युक्तिपूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमों का वर्णन किया गया हो वह अर्थशास्त्र कहलाता है।

कौटिल्यीयम्-अर्थशास्त्रम्

रचना काल—
जौली—तीसरी शताब्दी ई०
भंडारकर—प्रथम शताब्दी ई०
श्याम शास्त्री जायसवाल—४ थी श० ई० पू०

विषय—अर्थ (वृत्ति)—भूमि प्राप्त करना व उसे सुरक्षित रखना। इसलिये अर्थशास्त्र और लोक प्रशासन (राज्य शासन)

---

1 तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥ अधि० १५ अ० १ पा० १

अर्थशास्त्र और राज्य-शास्त्र—

राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल नई भूमि को प्राप्त करना और राज्य में शान्ति व्यवस्था रखने तक ही है। इसलिये अर्थशास्त्र केवल या मुख्यतया प्रशासन से सम्बन्ध रखता है। इसमें राज्य के स्वरूप उद्देश्य, शासन का वर्गीकरण आदि विषयों की चर्चा गौण है। इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विषय यूनानी विचारकों के राज्य शास्त्र से भिन्न था। प्लेटो और अरस्तू प्रशासन की उतनी चर्चा नहीं करते जितनी राज्य के स्वरूप और उसके लक्ष्य की। इसलिये जहाँ ग्रीस का राजदर्शन सैद्धान्तिक और नैतिकतावादी है, वहाँ कौटिल्य का अर्थशास्त्र अधिक व्यावहारिक है। ग्रीस के राज्य-शास्त्र और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भिन्नता हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र की विषय वस्तु देखकर बता सकते हैं। कौटिल्य शासन के प्रमुख अंग राजा मन्त्री दूत कोष दुर्ग पुर आदि की चर्चा करता है, जो राज्य में शान्ति-व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। साथ ही इसमें अन्तर्राज्य के सम्बन्ध की चर्चा है, जिसका लक्ष्य नई भूमि की प्राप्ति और बाह्य आक्रमण से भूमि की सुरक्षा है। पुस्तक का मूल विषय राजतन्त्र ही है, जो कि इसमें कुछ अध्यायों में लोकतन्त्र की चर्चा भी की गई है। अन्य अध्याय राज्य की आर्थिक नीति और राज्य-नियंत्रित उद्योगों के संगठन से सम्बन्धित हैं। इसमें हमें विभिन्न राजकीय विभागों का वर्गीकरण संगठन और विभिन्न पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति, उनके कार्य और अधिकारों का वर्णन प्रमुख रूप से मिलता है। राज पद की चर्चा सैद्धान्तिक रूप में नहीं वरन राजपद के क्या कार्य हैं तथा राजा को कैसे सुरक्षित रखना चाहिए राज्य के उत्तराधिकार नियम क्या हैं आदि विषयों पर की गई है। यही बात राज्य के अन्य सात अंगों के विषय में भी कही जा सकती है। ये सब विषय आधुनिक काल में हम लोक प्रशासन का (Public Administration) के अन्तर्गत रखते हैं राज्य शास्त्र के अन्तर्गत नहीं। इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कौटिल्य का अर्थ शास्त्र मुख्यतया लोक प्रशासन से सम्बन्धित है राज्य शास्त्र से नहीं।

अर्थशास्त्र और राजधर्म—

इस बात की पुष्टि हम अर्थशास्त्र शब्द की राजधर्म के साथ विवेचना करके कर सकते हैं। स्मृति और धर्म सूत्रों में चारों वर्णों के धर्मों की चर्चा के साथ साथ राजधर्म की भी चर्चा हुई है। इस प्रकार राजधर्म भी राजनीति का एक अंग है। परन्तु राजधर्म में और अर्थशास्त्र में बड़ा अन्तर है। राजधर्म में केवल

राजाओं के धर्म की चर्चा है, जबकि अर्थशास्त्र भूमि या राज्य से संबंधित है, और स्वस्थ और रुग्ण राज्यों की चर्चा करता है। इसलिये राज-धर्म की अपेक्षा अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है और वह नीति से नहीं वरन् लोक प्रशासन से संबंध रखता है। राजधर्म मनुष्य के धर्मों का एक भाग है, जो वैदिक धर्म पर आधारित है। इसलिये राजधर्म का स्रोत धर्म है। अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है, जो समाज का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है। इसलिये याज्ञवल्क्य अर्थशास्त्र को विद्या कहता है, धर्म नहीं। याज्ञवल्क्य और अन्तिम स्मृतिकार यद्यपि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों को राज्य के नियमों का स्रोत मानते हैं, परन्तु यदि इन दोनों स्रोतों में कोई विरोध होता है, तो स्मृतिकार धर्मशास्त्र को अधिक प्रमाणित मानते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि जहाँ अर्थशास्त्र 'सेक्युलर' (Secular) है, वहां धर्मशास्त्र धार्मिक है। जहाँ अर्थशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है, वहाँ धर्मशास्त्र आदर्श और लोक विधियों से संबंध रखता है। राज-धर्म राजाओं के कर्तव्य को बताता है, इसलिये वह नीति से संबंधित है। अर्थशास्त्र राज्य की सुरक्षा और उन्नति से संबंधित है, इसलिये इसमें राजाओं के कर्तव्यों का विवेचन राज्य के हित को देखते हुए किया गया है और राजाओं को राज्य के हित में अनैतिक कार्य तक करने की छूट दी गई है।

अर्थशास्त्र	राजधर्म
(१) व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित—विद्या।	(१) स्मृति व धर्मसूत्रों पर आधारित—धर्म।
(२) केन्द्रीय विषय—भूमि।	(२) केन्द्रीय विषय—राजा का धर्म।
(३) व्यावहारिक राज नीति से सम्बन्धित।	(३) आदर्श लोक विधियों से सम्बन्धित।
(४) अनैतिक साधनों का समावेश।	(४) केवल नीति का समावेश।

भारतीय शास्त्रकार राजशास्त्र के लिए दण्डनीति का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु दंडनीति का क्षेत्र अर्थशास्त्र से सीमित है क्योंकि इसमें केवल शासक के दंड और उसके प्रयोग की ही चर्चा मिलती है।

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र क्यों रखा ?—

भारतीय राज्य शास्त्र के लिये चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। राजधर्म

दंडनीति, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में दंड नीति शब्द का प्रयोग किया है और शुक्र ने नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और दंडनीति शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे मालूम होता है कि ये शब्द पर्यायवाची हैं। विद्याओं का वर्गीकरण करते समय कौटिल्य ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति चार विद्यायें गिनाई हैं। इसमें अर्थशास्त्र नामक विद्या की चर्चा नहीं है। तब कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र क्यों रखा? दंडनीति दंड के सिद्धान्त या सरकार से संबंधित है, जब कि अर्थशास्त्र अर्थ या भूमि की प्राप्ति से संबंधित है। वार्ता कृषि, पशुपालन और व्यापार से संबंधित है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में भूमि को सुरक्षित करने और भूमि के विस्तार बढ़ाने की चर्चा की है। इसलिए दंडनीति का क्षेत्र सीमित होने के कारण 'दंड नीति शास्त्र' नाम पुस्तक के विषय को ठीक ठीक व्यक्त नहीं करता। वार्ता शब्द अपने क्षेत्र में उतना ही व्यापक है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में कुछ वार्ता के विषय और कुछ दंडनीति के विषय दोनों की चर्चा की है। भूमि को सुरक्षित करने या उसका विस्तार करने के लिए कुछ परिपूर्ण कोष और कुशल सेना की आवश्यकता होगी जो केवल वार्ता द्वारा मिल सकती है। इसीलिये कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूर्ण दंडनीति और वार्ता के कुछ अंशों से संबंधित है; वार्ता के केवल उन आर्थिक विषयों से जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। कौटिल्य की पुस्तक के २, ३ और ४ के अधिकांश आर्थिक विषयों से ही संबंधित हैं।

अर्थशास्त्र भूमि से सम्बन्धित होने के कारण दंडनीति और वार्ता के कुछ विषयों का अध्ययन करता है।

नीतिशास्त्र पूरी सामाजिक नीति से सम्बन्धित होने के कारण अधिक विस्तृत है।

शुक्र के नीतिशास्त्र का विषय कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी व्यापक है। नीतिशास्त्र में शुक्र ने सामाजिक दर्शन और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है। नीतिशास्त्र का ही अर्थ होता है सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन नीतियों को बताना जिन्हें मनुष्य को अपनाना चाहिए। इसीलिये नीति शास्त्र मानव समाज को सुरक्षित रखने की विद्या है। यह मनुष्यों के पूरे सामाजिक जीवन से संबंधित है। इसलिये नीतिशास्त्र शब्द राजनीति, अर्थशास्त्र और सामाजिक नैतिकता से संबंधित होने के कारण अर्थशास्त्र की तुलना में अधिक व्यापक है। कौटिल्य ने सामाजिक व्यवहार और नैतिकता

राजाओं के धर्म की चर्चा है जबकि अर्थशास्त्र भूमि या राज्य से संबंधित है, और स्वस्थ और समृद्ध राज्यों की चर्चा करता है। इसलिये राज-धर्म की अपेक्षा अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है और यह नीति से नहीं वरन् लोक प्रशासन से संबंध रखता है। राजधर्म मनुष्य के धर्मों का एक भाग है, जो वैदिक धर्म पर आधारित है। इसलिये राजधर्म का स्रोत धर्म है। अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है, जो समाज का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों द्वारा लिखा गया है। इसलिये याज्ञवल्क्य अर्थशास्त्र को विद्या कहता है, धर्म नहीं। याज्ञवल्क्य और अन्तिम स्मृतिकार यद्यपि अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों को राज्य के नियमों का स्रोत मानते हैं, परन्तु यदि इन दोनों स्रोतों में कोई विरोध होता है, तो स्मृतिकार धर्मशास्त्र को अधिक प्रमाणित मानते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि जहाँ अर्थशास्त्र 'सेकुलर' (Secular) है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। जहाँ अर्थशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है, वहाँ धर्मशास्त्र आदर्श और लोक विधियों से संबंध रखता है। राज-धर्म राजाओं के कर्तव्य को बताता है, इसलिये यह नीति से संबंधित है। अर्थशास्त्र राज्य की सुरक्षा और उन्नति से संबंधित है, इसलिये इसमें राजाओं के कर्तव्यों का विवेचन राज्य के हित को देखते हुए किया गया है और राजाओं को राज्य के हित में अनैतिक कार्य तक करने की छूट दी गई है।

अर्थशास्त्र	राजधर्म
(१) व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित—विद्या।	(१) स्मृति व धर्मसूत्रों पर आधारित—धर्म।
(२) केन्द्रीय विषय—भूमि।	(२) केन्द्रीय विषय—राजा का धर्म।
(३) व्यावहारिक राजनीति से सम्बन्धित।	(३) आदर्श लोक विधियों से सम्बन्धित।
(४) अनैतिक साधनों का समावेश।	(४) केवल नीति का समावेश।

भारतीय शास्त्रकार राजशास्त्र के लिये दंडनीति का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु दंडनीति का क्षेत्र अर्थशास्त्र से सीमित है, क्योंकि इसमें केवल शासक के दंड और उसके प्रयोग की ही चर्चा मिलती है।

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र क्यों रखा ?—

भारतीय राज्य शास्त्र के लिये चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। राजधर्म

दंडनीति अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में दंड नीति शब्द का प्रयोग किया है और शुक्र ने नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र और दंडनीति शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे मालूम होता है कि ये शब्द पर्यायवाची हैं। विद्याओं का वर्गीकरण करते समय कौटिल्य ने आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता और दंडनीति चार विद्यायें गिनाई हैं। इसमें अर्थशास्त्र नामक विद्या की चर्चा नहीं है। तब कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र क्यों रखा? दंडनीति दंड के सिद्धान्त या सरकार से संबंधित है, जब कि अर्थशास्त्र अर्थ या भूमि की प्राप्ति से संबंधित है। वार्ता कृषि पशुपालन और व्यापार से संबंधित है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में भूमि को सुरक्षित करने और भूमि का विस्तार बढ़ाने की चर्चा की है। इसलिये दंडनीति का क्षेत्र सीमित होने के कारण 'दंड नीति शास्त्र' नाम पुस्तक के विषय का ठीक ठीक व्यक्त नहीं करता। वार्ता शब्द अपने क्षेत्र में बहुत ही व्यापक है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में कुछ वार्ता के विषय और कुछ दंडनीति के विषय दोनों की चर्चा की है। भूमि को सुरक्षित करने या उसका विस्तार करने के लिये हमें परिपूर्ण कोष और कुशल सेना की आवश्यकता होगी जो केवल वार्ता द्वारा मिल सकती है। इसीलिये कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूर्ण दंडनीति और वार्ता के कुछ अंशों से संबंधित है, वार्ता के केवल उन आर्थिक विषयों से जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। कौटिल्य की पुस्तक के २ ३ और ४ थे अधिकरण आर्थिक विषयों से ही संबंधित हैं।

शुक्र के नीतिशास्त्र का विषय कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी व्यापक है। नीतिशास्त्र में शुक्र ने सामाजिक दर्शन और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है। नीतिशास्त्र का ही अर्थ होता है सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन नीतियों को बताना जिन्हें मनुष्य को अपनाना चाहिये। इसीलिये नीति शास्त्र मानव समाज को सुरक्षित रखने की विद्या है। यह मनुष्यों के पूरे सामाजिक जीवन से संबंधित है। इसलिये नीतिशास्त्र शब्द राजनीति अर्थशास्त्र और सामाजिक नैतिकता से संबंधित होने के कारण अर्थशास्त्र की तुलना में अधिक व्यापक है। कौटिल्य ने सामाजिक व्यवहार और नैतिकता

अर्थशास्त्र भूमि से सम्बन्धित होने के कारण दंडनीति और वार्ता के कुछ विषयों का अध्ययन करता है।

नीतिशास्त्र पूरी सामाजिक नीति से सम्बन्धित होने के कारण अधिक विस्तृत है।

का उल्लेख अपनी पुस्तक में नहीं किया है, इसी कारण उसने अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र रखा है नीतिशास्त्र नहीं।

(२)

कौटिल्य की अध्ययन रीति

कौटिल्य के पहिले अनेक अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी। कौटिल्य का कहना है कि उन्होंने अपने अर्थशास्त्र की रचना प्राचीन अर्थशास्त्रों के सार को संग्रहीत करके की है।[1] अपनी पुस्तक में कौटिल्य मनु, बृहस्पति उशनस् और पाराशर के मतों को उद्धृत करता है। भारद्वाज विशालाक्ष पिशुन वातव्याधि कौणपदन्त लेखकों के नाम भी इसमें आये हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन प्राचीन लेखकों ने भी अर्थशास्त्र में केन्द्रीय और स्थानीय प्रशासन आन्तरिक और वैदेशिक नीति दंड व्यवस्था और युद्ध कला की चर्चा की होगी। चूंकि अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है, इसलिये इसके अध्ययन की रीति अनुभव पर आधारित रही होगी और इसके सिद्धान्तों को निरीक्षण विश्लेषण और निगमन पद्धति द्वारा बनाया गया होगा। हम कह नहीं सकते कि कौटिल्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों का कितना ऋणी है, क्योंकि कौटिल्य के पूर्व के सारे अर्थशास्त्र लुप्त हो गये हैं। परन्तु कौटिल्य की प्रतिभा को देखते हुए यह भी विश्वास नहीं होता कि उसने प्राचीन लेखकों के विचारों को ही संग्रहीत किया है।

अनुभव पर आधारित

इतिहास का प्रयोग केवल मतों की पुष्टि के लिये हुआ है—

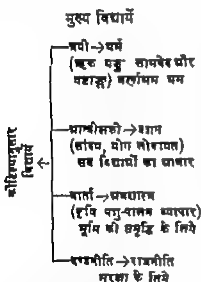
क्या कौटिल्याय अर्थशास्त्रम्, मनु, बृहस्पति उशनस् पाराशर भारद्वाज विशालाक्ष् पिशुन वात व्याधि कौणपदन्त के विचारों का संग्रहमात्र है ?

कौटिल्य महान सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का राजगुरु और प्रधान-मंत्री था। वह विद्वान और चतुर था। परम्पराओं के अनुसार नंद वंश का नाश करने और चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को स्थापित करने में उसी का ही हाथ था। कौटिल्य को राजनीति का व्यापक और व्यावहारिक अनुभव था। इसलिये यदि उसने प्राचीन

---

[1] पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

अर्थशास्त्रियों के विचारों को लिया भी है तो उन्हें केवल अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर। अर्थ-शास्त्र का विभिन्न विज्ञानों से क्या संबंध है, इसकी कौटिल्य द्वारा की गई विवेचना से इस कथन की पुष्टि होती है। प्राचीन लेखकों के अनुसार प्रमुख विद्यायें चार हैं त्रयी आन्वीक्षकी वार्ता और दंडनीति। कौटिल्य के अनुसार त्रयी में तीन वेद ऋक यजु और साम और उसके षडांग आते हैं। आन्वीक्षकी में सांख्य योग और लोकायत (सांसारिक दर्शन) दर्शन आते हैं। वार्ता कृषि पशुपालन और व्यापार से संबंधित है और दंडनीति दंड से। संक्षेप में 'त्रयी' धर्म, 'आन्वीक्षकी' दर्शन 'वार्ता' अर्थशास्त्र और 'दंडनीति' राज्यशास्त्र के लिये प्रयुक्त हुए हैं। मनु आन्वीक्षकी को त्रयी के अन्तर्गत मानता है (जिसका अर्थ यह हुआ कि निरीश्वरवादी सांख्य और भौतिकवादी लोकायत दर्शन आन्वीक्षकी के अन्तर्गत न रहेंगे)। इस प्रकार मनु के अनुसार केवल तीन ही विद्यायें हैं। बृहस्पति वार्ता और दंडनीति को ही मुख्य विद्यायें मानता है। शुक्र के अनुसार दंडनीति ही अध्ययन करने योग्य केवल एक ही विद्या है। कौटिल्य इन विचारधाराओं की जो आलोचना करता है, उसमें उसकी प्रतिभा और विचारशीलता मालूम होती है। वह चार विद्यायें मानता है और सिद्ध करता है कि किस तरह मनुष्य और समाज के लक्ष्य के लिये इन चारों की ही आवश्यकता है। आन्वीक्षकी या दर्शन सब विद्याओं का आधार है। वह सुख और दुःख में मस्तिष्क को संतुलित रखता है। इसलिये यह संसार के लिये सबसे लाभदायक विद्या है।[1] त्रयी वर्णाश्रम धर्म की चर्चा करती



---

१ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता। अर्थ० १ अ० २ अंतिम सूत्र।

है, जिसके द्वारा मनुष्य को स्वर्ग और समृद्धि की प्राप्ति होती है। राजा को वर्षों का ज्ञान आवश्यक है, जिससे वह लोगों को वर्णाश्रम धर्म मानने को बाध्य कर सके। वार्ता का ज्ञान कोष और सेना के लिये आवश्यक है जिसके द्वारा राजा अपने और शत्रु के दल पर नियंत्रण रख सकता है। अंत सुरक्षा के लिये आवश्यक है और इसी के द्वारा संसार की उन्नति हो सकती है। इसलिये राजा के लिये वार्ता और दण्डनीति का ज्ञान भी आवश्यक है।

कौटिल्य ने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से परंपरागत चार विद्याओं के महत्व को स्पष्ट किया है और इन चारों को मनुष्य के लिये आवश्यक बताया है। इसीलिये मालूम होता है कि उसने केवल अपने पूर्व लेखकों के विचारों को संग्रहीत ही नहीं किया वरन् अपनी तीक्ष्ण दृष्टि और व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा उनके विचारों को स्पष्ट और अधिक तर्कपूर्ण बना दिया है।

कौटिल्य ने अपने मत की पुष्टि करने के लिये इतिहास का भी प्रयोग किया है। परन्तु हम इसे ऐतिहासिक पद्धति नहीं कह सकते क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा पूर्व निश्चित सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये की गई है, नये सिद्धान्तों को बनाने के लिये नहीं। इसलिये उसकी रीति दार्शनिक अधिक है, ऐतिहासिक कम।

कौटिल्य का अनुभव व्यापक था इसलिये उसका अर्थशास्त्र प्राचीन अर्थशास्त्रों से अधिक सम्पन्न है। उसके पश्चात् भी कई लेखकों ने अर्थशास्त्रों की रचना की परन्तु वे इतने महत्वपूर्ण और लोकप्रिय न हो सके जितना कौटिल्यीय अर्थशास्त्रम्।

(१)

राज्य का स्वरूप

हम ऊपर बता आए हैं कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र शासन की कला या लोक प्रशासन से सम्बन्धित है—राज्य-शास्त्र से नहीं। इसलिये हमें इसमें राज्य के स्वरूप या राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त की चर्चा को ढूँढना व्यर्थ है। फिर भी कुछ भारतीय लेखकों ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामाजिक अनुबन्धवाद और सावयवी सिद्धान्त पाया है। इसलिये हम राज्य के स्वरूप में इन दो सिद्धान्तों की चर्चा कर देना चाहते हैं जिससे यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा कि अर्थशास्त्र राज्य-शास्त्र से नहीं लोक-प्रशासन से सम्बन्धित है।

पहिली पुस्तक के तेरहवें अध्याय में एक गुप्तचर यह कहता है कि प्रारम्भ में राज्य नहीं थे लोगों में अराजकता थी और मात्स्य न्याय प्रचलित था इसलिये लोगों ने वैवस्वत मनु को अपना राजा निर्वाचित किया और अन्न का षड्भाग और वस्तुओं का दशमांश देना निश्चित किया इसके बदले में राजा ने प्रजा के योग क्षेम का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और उसने उचित दण्ड व्यवस्था का आयोजन किया। राजा में पुरस्कार [illegible] वाले इन्द्र और दण्ड देने वाले यम दोनों के गुण हैं "राजा की जो अवहेलना करते हैं, वे दैवीय दण्ड के भागी होते हैं।" इस कथन से गुप्तचर का उद्देश्य राजा के विरोधियों को दैवीय दण्ड का भय दिखाकर विरोधियों को शान्त करना था। इसमें कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं बताता और न सामाजिक अनुबन्ध की चर्चा करता है। वह राजा के उग्र शासन की चर्चा करता है जिससे शान्ति व्यवस्था बनाई जा सकती है।

सच बात तो यह है कि कौटिल्य राज्य को प्राकृतिक संस्था मानता है। इसलिये यह विचार कि राज्य मनुष्य के संविदा पर आधारित है और प्राचीन काल में राज्य नहीं थे उसके विचारों के अनुकूल नहीं। कौटिल्य वर्णाश्रम व्यवस्था को सनातन मानता है, जो मनुष्यों के जन्म से ही प्रारम्भ हो गई थी। वर्णाश्रम व्यवस्था केवल राजा द्वारा कायम रखी जा सकती है क्योंकि दण्ड के भय से ही लोग अपने अपने धर्म को पालने के लिये बाध्य किये जाते हैं।[1] इसलिये राज्य प्राकृतिक है और प्रारंभिक काल से ही रहा होगा। इस कारण कौटिल्य में सामाजिक समझौते को खोजना व्यर्थ है।

(१) कौटिल्य अनुबन्ध सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता वह राज्य को प्राकृतिक मानता है।

(२) सप्तांग सिद्धान्त में सावयवी सिद्धान्त की झलक है पर वह राज्य के व्यक्तित्व की चर्चा नहीं करता।

(३) कौटिल्य का विषय शासन कला है राज्य का स्वरूप नहीं।

यही बात राज्य के सावयवी सिद्धान्त के विषय में कही जा सकती है। कौटिल्य ने राज्य को सप्तप्रकृतियुक्त माना है। ये सात प्रकृतियाँ स्वामी अमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड और मित्र हैं। कौटिल्य ने राज्य की प्रकृतियों को राज्य के अवयव कहकर संबोधित भी किया है। सप्तांग का सिद्धान्त हमें

१ अर्थ १ अ० ४ अन्तिम श्लोक।

महाभारत में भी मिलता है, और शुक्र में भी। शुक्र ने इन अंगों की तुलना मनुष्यों के अंग से की है। शुक्र ने राज्य को एक वृक्ष भी माना है। इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि कौटिल्य ने भी राज्य को सावयवी माना है। परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे कि कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त पूर्ण रूप से सावयवी सिद्धान्त नहीं है। प्लेटो हाब्स और स्पेन्सर, जिनमें सावयवी सिद्धान्त पूर्ण रूप से दिखाई देता है, राज्य को एक बृहत व्यक्ति के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार राज्य का अपना निजी जीवन व अपनी निजी इच्छा होती है। वे राज्य के अस्तित्व को नागरिकों के अस्तित्व से भिन्न मानते हैं। कौटिल्य ने राज्य के इस स्वरूप का कोई वर्णन नहीं किया क्योंकि उसका ध्येय राज्य के स्वरूप की चर्चा करना नहीं वरन् शासन कला बतलाना था। इसी कारण राज्य के प्रमुख अंग—प्रजा—की भी चर्चा इसमें नहीं मिलती और न नागरिकों के अधिकार व संबंध का ही उल्लेख इसमें हुआ है।

कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त—

कौटिल्य ने राज्य को सप्त-प्रकृति युक्त माना है। ये सात प्रकृतियां स्वामी अमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड और मित्र हैं। इन प्रकृतियों को वह राज्य के अवयव कहकर भी संबोधित करता है।

राज्य का सप्तांग सिद्धान्त कौटिल्य से पूर्व भारतीय राज्य-शास्त्र में प्रचलित हो चुका था और इस सिद्धान्त को महाभारत मनु और शुक्र ने भी माना है।

आज भी हम राज्य के मुख्य चार तत्व मानते हैं: भूमि जनसंख्या सरकार और संप्रभुता। सप्तांग सिद्धान्त में हमें सरकार, जनसंख्या और भूमि इन तीन तत्वों का विवेचन मिलता है, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि सरकार का पुनः वर्गीकरण स्वामी और अमात्य में क्यों किया गया है। भूमि का वर्गीकरण जनपद और दुर्ग में दिखाई देता है, जो अनावश्यक है। फिर आधुनिक लेखकों की दृष्टि से कोष और दण्ड (सेना) राज्य के निर्माण कारी तत्व नहीं हैं। अन्तिम तत्व विदेशी मित्र को तो किसी भी प्रकार से राज्य का अंग माना ही नहीं जा सकता। इसलिये भारतीय राज्य शास्त्र का सप्तांग सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं वह परम्परा पर आधारित है।

परन्तु वैज्ञानिक न होते हुए भी सप्तांग सिद्धान्त का भारतीय राज्य-शास्त्र ...र विशेष प्रभाव पड़ा। इसने (१) राजदर्शन को राज्यशास्त्र का केन्द्रीय ...पय बना दिया क्योंकि सप्तांग सिद्धान्त में स्वामी या राजा राज्य का ...म अंग माना गया है। (२) इस सप्तांग सिद्धान्त के द्वारा राज्यशास्त्र अधिक

सेकुलर (Secular) हो सका है, क्योंकि स्मृतिकारों और वेदों ने राजा के पुरोहित को व्यावहारिक राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान अवश्य दिया था पर पुरोहित को राज्य के सप्तांग में स्थान न मिलने से उसका महत्व क्रमशः कम होता गया। इसी कारण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुरोहित के पद की चर्चा बहुत कम है।

कौटिल्य ने भारतीय परम्परागत सप्तांग सिद्धान्त को अपनाया अवश्य है पर उसमें अपना एक विशेष योग दिया है। आठवें अधिकरण के दूसरे अध्याय में वह लिखता है, "राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेप" अर्थात संक्षेप में राज्य की केवल दो ही प्रकृति (अंग) हैं—राजा और राज्य, इस प्रकार इन सात प्रकृतियों में वह राजा को प्रमुख स्थान देता है, और राज्य के अन्तर्गत अन्य सभी प्रकृतियों को रखता है।

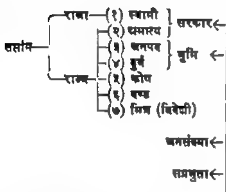
सावयवी सिद्धान्त के अनुरूप यह ठीक है। क्योंकि राजा यदि मस्तिष्क है तो उसका सर्वोच्च स्थान होना आवश्यक ही है। इन सात प्रकृतियों में राजा का महत्व इससे और स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-सम्पन्न राजा गुणहीन और संपत्तिहीन प्रजा को भी गुण सम्पन्न कर देता है और गुणहीन राजा प्रकृति वर्ग को भी नष्ट कर देता है।[1] आठवें अधिकरण में विपत्ति समुदाय का निरूपण करते हुए कौटिल्य राजा के महत्व को विशेष रूप से बताता है। कौटिल्य के पूर्व के आचार्यों का कहना था कि स्वामी मंत्री जनपद दुर्ग कोष सेना और मित्र में राज्य के लिये पहिले आने वाली प्रकृति की विपत्ति उसके बाद आने वाली प्रकृति की विपत्ति की तुलना में लघु होती है—उदाहरणार्थ सेना की विपत्ति मित्र की विपत्ति से कम है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के अनुसार मित्र की विपत्ति सबसे बुरी है और स्वामी की विपत्ति सबसे कम बुरी है। कौटिल्य विपत्तियों के इस क्रम को नहीं मानता। उसके विचार इनसे बिलकुल ही विपरीत हैं। वह स्वामी की विपत्ति को गुरुतम मानता है। बाद में आने वाली प्रकृतियों की विपत्ति का गुरुत्व क्रमशः कम होता जाता है। उदाहरण के लिये आचार्य भारद्वाज का कहना है कि स्वामी-व्यसन और मंत्रि-व्यसन दोनों एक साथ उपस्थित होने पर मंत्री-व्यसन ही अधिक भय दायक होता है। किन्तु आचार्य कौटिल्य के अनुसार अमात्य-संकट की अपेक्षा राज-संकट अधिक गुरुतापूर्ण है, क्योंकि राजा अमात्य के व्यसनी होने पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति कर सकता है, और यदि स्वामी राजगुण संपन्न हो

---

1 अधि० ६ अ० १ वार्ता २

तो वह अन्य प्रकृतियों को गुण-संपन्न कर सकता है। इसलिये कौटिल्य ने अपने सप्तांग सिद्धान्त में राजा को विशेष महत्त्व दिया है, और राजा को पूरे शासन की आधार-शिला माना है।[1]

सप्तांग सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि इसमें प्रजा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसका कारण स्पष्ट है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र शासक के दृष्टिकोण से लिखा गया शासकों के पथ-प्रदर्शन हेतु बनाया गया ग्रन्थ है, इसलिये इसमें स्वामी की चर्चा आवश्यक है, प्रजा की नहीं। दूसरे कौटिल्य का अर्थशास्त्र शासन कार्य कैसे किया जाय इस विषय से संबंधित है, राज्य के सैद्धान्तिक निरूपण से नहीं जिसमें राजा और प्रजा के पारस्परिक संबंध प्रजा के अधिकार आदि का निरूपण आवश्यक होता है। यदि प्रजा को भी सप्तांग में सम्मिलित किया जाय तो राज्य में दो प्रतिद्वन्द्वी अंग हो जाते और चूंकि शासन में केवल एक ही संचालन-शक्ति हो सकती है, इसलिये सप्तांग में राजा को ही महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य तथा अन्य प्राचीन विचारक समाज के वर्णाश्रम और सामाजिक व्यवहार को राजा पर ही आधारित मानते हैं। वे लिखते हैं कि यदि दण्डधर राजा न रहे तो बली मनुष्य निर्बल को निगल जायगा। अतएव दंड द्वारा सुरक्षित राजा



स्वामी की महत्ता—

(१) अन्य प्रकृतियों को प्रभावित करने वाला
(२) स्वामी की स्थिति सुरक्षित
(३) वर्णाश्रम धर्म बनाये रखने वाला

---

1 "*The King is the master key to the working of the whole administrative machine appointing, guarding, correcting, strengthening and shaping its different factors.*"
—Ghoshal, *A History of Indian Political Ideas*, p. 120

अथवा प्रजाजन दुर्बल होते हुए भी शक्तिशाली होते हैं। प्रजा में वर्णाश्रम धर्म को दंडधर ही परिचालित कराता है।

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः ।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु ॥[1]

(४)
स्वामी

राज्य पद की आवश्यकता—

प्राचीन भारत में व्यक्ति के विकास के लिये वर्णाश्रम की व्यवस्था की गई थी। जिस प्रकार प्लेटो ने तीन वर्गों की कल्पना करके हर एक वर्ग को अपने ही कर्म करने में धर्म की कल्पना की है ठीक उसी प्रकार हमारे आचार्यों ने चतुर्वर्ण्य की व्यवस्था कर प्रत्येक वर्ण को अपना-अपना कार्य करने का आदेश दिया है। वर्णधर्म पालकर प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण मानव समाज से अपने को संबंधित करता और अन्य वर्गों के साथ मिलकर सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में भाग लेता था। आश्रम-धर्म उसके वैयक्तिक जीवन से संबंधित था। इसलिये वर्णाश्रम व्यवस्था का उद्देश्य आत्म-विकास के साथ ही साथ सामाजिक कल्याण और विकास भी था। कौटिल्य का कहना है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के ठीक प्रकार से पालन किये जाने से ही लोक कल्याण हो सकता है। 'जब वर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादा स्थापित कर दी जाती है, तो जगत प्रसन्न रहता है और कभी दुखी नहीं होता। वर्णाश्रम में बताए गए स्वधर्म का पालन करने से स्वर्ग अनन्त सुख और मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है। यदि लोग स्वधर्म का उल्लंघन करते हैं तो वर्ण संकरता पैदा होकर समाज नष्ट हो जाता है। इस वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने का काम राजा का होता है। उसका कर्तव्य है कि प्राणियों को अपने धर्म से विचलित न होने दे। वर्णाश्रम के नियमों का पालन करने से ही प्रजा समृद्ध और सुखी रहती है।

परन्तु मनुष्य में काम क्रोध लोभ मान मद और हर्ष छः विकार (षड्वर्ग) उत्पन्न होते रहते हैं। ये षड्वर्ग उसे अधर्म की ओर ले जाते हैं और मात्स्य न्याय का जन्म होता है। षड्वर्ग के प्रभाव से बचाने के

राजपद की आवश्यकता

व्यक्ति का विकास—आश्रम धर्म }
समाज का कल्याण—वर्ण धर्म } (१) वर्णाश्रम व्यवस्था बनाना

षड्वर्ग—काम क्रोध लोभ मान मद हर्ष } (२) मात्स्यन्याय से प्रजा को सुरक्षित करना।

---

१ अधि० १ अ० ४ वार्ता १

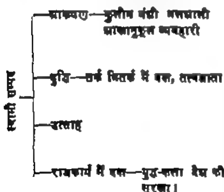
लिये और धर्म स्थापना हेतु दण्ड और दण्डधारी की आवश्यकता होती है। इसलिये राज्य में व्यवस्था बनाये रखने के लिये राज्य की उद्देश्य पूर्ति के लिये लोक और वैयक्तिक कल्याण के लिये प्रत्येक समाज में राजा की आवश्यकता है।

राजा के गुण—

राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख और उसके हित में अपना हित समझना चाहिये। स्वार्थ राजा का हित नहीं है।

> प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
> नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥[1]

इस प्रकार के आचरण वाला राजा ही उचित दण्ड की व्यवस्था कर सकता है। काम, क्रोध और अज्ञान के वशीभूत हो दण्ड का व्यवहार करने वाला वानप्रस्थी और परिव्राजकों को भी कुपित कर देता है। फिर गृहस्थों का कहना ही क्या? इसलिये दण्ड का उचित प्रयोग तथा समाज के लक्ष्य की पूर्ति वही व्यक्ति कर सकता है, जिसमें विशिष्ट प्रकार के आचरण की क्षमता हो।



कौटिल्य ने इन गुणों को राजा की सम्पदा (स्वामि-सम्पद या आत्म सम्पद) कहा है। इस स्वामी-सम्पद को हम चार भागों में बांट सकते हैं।

१—लोगों को आकर्षित करने वाले गुण जैसे—ऊँचे कुल में उत्पन्न होना बलवान् वृद्धों के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए पथ पर चलने वाला उत्साही, दृढ़ निश्चयी शास्त्र मर्यादा का अभिलाषी आदि।

---

१ अधि० १ अ० १९ श्लोक ३८।

२—बुद्धि के गुण—जैसे उचित बात या शास्त्र को सुनना बात का मतलब समझकर उसे हृदयंगम करना सुनी हुई बात को याद रखना और विज्ञान, तर्कवितर्क और तत्त्व को जानना।

३—उत्साह गुण—जैसे निर्भीकता अत्याचार के प्रति असहिष्णुता, शीघ्र कार्य-साधन की तत्परता और कार्य निपुणता।

४—राजपद के विशेष गुण—जैसे अच्छा भाषण देने वाला, दूरदर्शी युद्ध कला में प्रवीण सेना का संचालक दुर्भिक्षकाल में प्रजा में अन्न समुचित वितरण करने वाला निपुणता देखकर कर्मचारियों को नियुक्त करने वाला, अच्छी संधि करने में निपुण शत्रुओं की जानकारी रखने वाला आदि।

इस प्रकार राजा में न केवल राजा के ही गुण आवश्यक हैं वरन् श्रेष्ठ व्यक्ति के भी गुण होना चाहिये। प्लेटो का दार्शनिक राजा कल्पित हो सकता है। परन्तु कौटिल्य का राजा केवल दार्शनिक ही नहीं वरन् सर्वगुण-सम्पन्न व्यावहारिक पुरुष भी है। राजा के इन गुणों का जो विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है उससे कौटिल्य की तीक्ष्ण अवलोकन शक्ति का परिचय मिलता है। विनयाधिकरण में राजा के गुण बताते हुए कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए और अर्थ धर्म और काम का समय पर सेवन करना चाहिये। यदि वह धर्म अर्थ और काम में से किसी का भी अधिक सेवन करेगा तो वह अपना और प्रजा का शुभ साधन न कर सकेगा।

कौन राजा अच्छा होता है—

८ वें अधिकरण में राजा और राज्य पर आये हुए संकट की विवेचना करते हुए कौटिल्य कौन सा राजा और राज्य अच्छा होता इसकी चर्चा करता है।

प्राचीन आचार्यों का कहना था कि वैराज्य (राजा हीन) की अपेक्षा द्वैराज्य (दो स्वामियों वाला राज्य) विशेष कष्ट-दायक होता है। कौटिल्य इस मत को नहीं मानता। उसका कहना है कि पिता-पुत्र अथवा दो भाइयों के पारस्परिक विरोध के कारण द्वैराज्य बनता है। एक ही कुल का झगड़ा होने के कारण दोनों राजाओं का एक सा स्वार्थ रहता है। इसलिये मन्त्रि-गण इस झगड़े को ठीक सुलझा सकते हैं। किन्तु राजा हीन अर्थात् किसी के जीते हुए राज्य को विजेता पराया राज्य मानकर खूब शोषण करता है। या उसे किसी अन्य राजा के हाथ बेच देता है। इसलिये वैराज्य द्वैराज्य से खराब है।

शास्त्रहीन राजा और शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्रानुसार न चलने वाले राजा में दूसरे प्रकार का राजा अच्छा नहीं है क्योंकि शास्त्रहीन अच्छे राजा को अमात्य अपनी बुद्धि के अनुसार चला सकते हैं। किन्तु स्वल्प ज्ञान वाला राजा अभिमान वश अपने राज्य को नष्ट करता है।

रोगी राजा और नये राजा में अन्यान्य आचार्य नये राजा को उत्तम बताते हैं, परन्तु कौटिल्य रोगी राजा को उत्तम बताता है, क्योंकि वह राज्य-कार्य का संचालन पुरानी प्रथाओं के अनुसार करता है, जबकि नया राजा वर्ग में पूर्ण ही मनमानी करता है।

नये राजाओं में उच्च कुल में उत्पन्न किन्तु दुर्बल और नीच कुलोत्पन्न बलवान राजा में पुराने आचार्य बलवान नीच जन्मा राजा को अच्छा समझते हैं क्योंकि वे प्रजाजन अमात्य आदि को आतंक से अपने वश में कर सकते हैं। किन्तु आचार्य कौटिल्य उच्च कुल में उत्पन्न राजा को चाहे वह दुर्बल ही क्यों न हो अच्छा समझता है, क्योंकि उच्च कुल में उत्पन्न राजा स्वभावतः ऐश्वर्यशाली होता है, समृद्धि उसके साथ-साथ चली रहती है।

कौटिल्य का मत

अच्छा	बुरा
(१) द्वैराज्य।	(१) वैराज्य।
(२) शास्त्रहीन राजा।	(२) शास्त्रानुसार न चलने वाला राजा।
(३) रोगी राजा।	(३) नया राजा।
(४) उच्चकुलीन निर्बल राजा।	(४) नीचकुलीन सबल राजा।

इन तर्कों से मालूम होता है कि कौटिल्य उच्चकुल को राजा का आवश्यक गुण मानता है।

राजा की दिनचर्या और उसकी शिक्षा—

राजा के जन्मजात गुणों का विकास करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने राजकुमारों के लिये बड़ी व्यापक शिक्षा व्यवस्था रखी है। मुण्डन संस्कार के पश्चात् युवराज को लिखना पढ़ना और गणित सीखना चाहिये। अनेक संस्कार के पश्चात् वह तीन वेद और आन्वीक्षिकी विद्या विद्वानों के पास जाकर सीखे। वार्ता विद्या बड़े-बड़े सरकारी अफसरों से तथा दंडनीति प्रवचन कुशल एवं प्रयोग कुशल नीतिज्ञ आचार्यों से सीखी जाय। १६ वर्ष में विवाह करने के पश्चात् भी उसका विद्याध्ययन चलते रहना चाहिये। इसके लिये विद्या-वृद्ध आचार्यों का सत्संग आवश्यक है। साथ ही राजा ब्रह्मचारी रह विद्या और अनुशासन हित के

प्रथम भाग में सीखे और शेषभाग में इतिहास का अध्ययन करे रात्रि के समय भिन्न-भिन्न विषयों को उसने पढ़ लिया है, उनका चिन्तन करे। इस प्रकार विद्या प्राप्त करके युवराज विनयी होता है। इन्द्रियों को जीतना ही विद्या और विनय का उद्देश्य है। विद्या के द्वारा ही वह अपमार्गों से बच सकता है। आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये वह पहिले अनासक्त भाव का अभ्यास करेगा और उसके पश्चात शास्त्रों में प्रतिपादित नियमों के अनुसार चलेगा। जो राजा शास्त्रविहित नियमों के विपरीत चलता है और इन्द्रियों को वश में नहीं रखता, वह, चारों समुद्र तक फैली पृथ्वी का सम्राट ही क्यों न हो तत्काल नष्ट हो जाता है। ८ वें अधिकरण में भी कौटिल्य लिखते हैं कि आन्वीक्षकी आदि विद्याओं से प्राप्त होने वाले विनय के अभाव में ही पुरुष व्यसनी बनते हैं। कौटिल्य अशिक्षित तथा दुष्ट पुत्र को राज्य के अधिकार देने के पक्ष में नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आश्रम-धर्म के अनुसार कौटिल्य ने युवराज के लिये प्रारम्भ से लेकर उच्च शिक्षा का आयोजन किया है। वह न केवल चार प्रमुख विद्यायें ही पढ़ेगा वरन् इतिहास और सैनिक शास्त्र में भी कुशल होगा। शिक्षा के साथ ही साथ अनासक्ति आदि की भावना युवराज में जागृत कराने का आयोजन कर उसने अनुशासन पर भी जोर दिया है और कहा है कि बिना विनय के राजा समृद्धि शाली नहीं हो सकता है। अनुशासन प्राप्त करने के तीन साधन हैं शास्त्र का पढ़ना इन्द्रियों को जीतना सत्संग करना और शास्त्र-विहित नियमोंको जीवन में पालना। इस प्रकार कौटिल्य ने चरित्र और बुद्धि-विकास के लिये एक सुगठित शिक्षा-व्यवस्था का प्रावधान किया है।

शिक्षा-व्यवस्था

मुण्डन संस्कार पश्चात्—
लिखना पढ़ना गणित।
उपनयन संस्कार पश्चात्—
त्रयी आन्वीक्षकी (विद्वानों से)
वार्ता (सरकारी अफसरों से),
दण्डनीति (आचार्यों से)।
विवाह पश्चात्—
वृद्धजनों का सत्सङ्ग
धर्मशास्त्र इतिहास।
शिक्षा राजा को जितेन्द्रियी और विनयी बनाती है।

जैसा राजा वैसी प्रजा के सिद्धान्त पर चलते हुए कौटिल्य के अनुसार राजा को चरित्रवान उच्च विचार एवं अच्छे आचरण वाला होना चाहिये। उसे दूसरों के लिये उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये। कौटिल्य ने राजा की पूरी

दिनचर्या १६ वें अध्याय में दी है। दिन रात के १६ प्रहर में रात के केवल २ प्रहर सोने के लिये रखे हैं, बाकी समय उसने राजकार्य करने कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करने और स्वाध्याय में लगाने को कहा है।

राजा के कर्त्तव्य—

राजा के मुख्य कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं :

(१) वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना और सभी प्राणियों को अपने धर्म से विचलित न होने देना :—क्योंकि "जिस प्रजा की आर्य मर्यादा व्यवस्थित रहती है जो वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और जो त्रयी (तीन वेद) द्वारा विहित विधान से रक्षित रहती है वह प्रजा सर्वदा प्रसन्न रहती है। उसका कभी नाश नहीं होता।"[1]

(२) दण्ड की व्यवस्था करना — "दंड अप्राप्य वस्तु को प्राप्त कराता है—जो प्राप्त हो चुका है, उसकी रक्षा करता है, रक्षित वस्तु को बढ़ाता है और बढ़ी हुई वस्तु का उपभोग कराता है। समाज और सामाजिक व्यवहार दंड पर निर्भर है। परन्तु राजा को दंड यथोचित देना चाहिये क्योंकि कठोर दंड से प्रजा उद्विग्न होती है और मृदु दंड देने वाला राजा प्रजा के द्वारा सताया जाने लगता है। यथोचित दंड देने वाला राजा पूज्य होता है। केवल समुचित दंड ही प्रजा को धर्म अर्थ काम से परिपूर्ण करता है। "यदि काम क्रोध या अज्ञान वश दंड दिया जाता है, तो जनसाधारण की कौन कहे, वानप्रस्थ और सन्यासी तक क्रुद्ध हो जाते हैं। यदि दंड का उचित प्रयोग नहीं होता तो बलवान मनुष्य निर्बलों को वैसे ही खा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी को।"[2]

(३) आय-व्यय सम्बन्धी :—राजा को यह कार्य समाहर्ता के द्वारा कराना चाहिये। आय और व्यय के स्वरूपों का निरूपण कौटिल्य ने दूसरे अधिकरण के छठवें अध्याय में किया है।

(४) नियुक्ति सम्बन्धी :—राजा अमात्य सेनापति और प्रमुख कर्मचारियों की नियुक्ति करता है अच्छे कर्मचारियों की पदोन्नति करता है, साथ ही उनके काम का निरीक्षण करता है।

(५) लोकहित और सामाजिक कल्याण के कार्य :—इस श्रेणी में कौटिल्य ने जो राजा के कार्य निश्चित किये हैं वे इस प्रकार के हैं जिन्हें हम आज समाजवादी या लोककल्याणकारी कार्य कहेंगे। इसके अन्तर्गत राजा दास

---

१ अधि० १ अ० ३

२ अधि० १ अ ४

देगा और लोक कल्याण के कार्य करेगा। अनाथ वृद्ध असहाय लोगों के पालन-पोषण की व्यवस्था करेगा। असहाय गर्भवती स्त्रियों की उचित व्यवस्था करेगा और उनके बच्चों का भरण पोषण करना। जो किसान खेती न करके जमीन परती छोड़ देते हों उनके पास से जमीन लेकर वह किसी दूसरे किसान को देगा। कृषि के लिये बाँध बनवाना जलमार्ग स्थल मार्ग बाजार, जलाशय आदि बनाना। दुर्भिक्ष के समय जनता की सहायता करना और उन्हें बीज देना भी राजा का कार्य है। यदि इससे भी काम नहीं चल सकता तो उस धनवानों पर अधिक कर लगाकर धन को गरीबों में बाँट देना चाहिए।

कर्त्तव्य

(१) वर्णाश्रम व्यवस्था बनाये रखना।
(२) दण्ड की व्यवस्था करना।
(३) आय-व्यय सम्बन्धी।
(४) नियुक्ति सम्बन्धी।
(५) सामाजिक कल्याण कार्य।
(६) युद्ध करना।

समाजवादी कार्यों के अन्तर्गत राज्य के उन कार्यों का भी वर्णन कर देना उचित है जो राष्ट्र के द्वारा संचालित होंगे। कौटिल्य के अनुसार खानों वस्तुओं का निर्माण जंगलों से इमारती लकड़ी और हाथियों को प्राप्त करना अच्छे नस्ल के जानवरों को पैदा करने का प्रबंध आदि राज्य के कार्य होंगे। इसलिये कौटिल्य पूरे दूसरे अधिकरण में कृषि चरागाह जंगल खान वाणिज्य आदि के कर्मचारियों की शक्तियों और कर्तव्यों का वर्णन करता है।

(६) युद्ध करना —आधुनिक काल में युद्ध करना हम राज्य का कार्य नहीं मानेंगे। हम आज सेनाओं को युद्ध के लिये नहीं सुरक्षा के लिए रखते हैं। लेकिन कौटिल्य का उद्देश्य नई भूमि को प्राप्त करना है और उसका अर्थशास्त्र का केन्द्र बीजदीप है इसलिए कौटिल्य की दृष्टि से युद्ध करना इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह राज्य की सभी आर्थिक संस्थाओं की महत्ता इसी मापदंड से ही देखता है कि वे युद्ध के लिये कहाँ तक पर्याप्त हैं। नई भूमि को प्राप्त करना अर्थशास्त्र का इतना प्रमुख विषय है कि अर्थशास्त्र के १५ अधिकरणों में ८ अधिकरण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध से सबंध रखते हैं।

कौटिल्य का कहना है कि राजा का प्रत्येक कार्य इस भावना से होना चाहिए कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण होता है। राजा का अपना व्यक्तिगत कोई सुख नहीं है इसलिये कर्मशील होकर राजा को नीति के अनुसार प्रजा का शासन करना चाहिये।

राजा के उत्तराधिकार नियम—

कौटिल्य का कहना है कि सामान्यतः राज्य का अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलना चाहिये यदि उसमें राजोचित गुण हों। यदि ज्येष्ठ पुत्र में इन गुणों का अभाव हो तो उसे राजपद नहीं देना चाहिये। राजोचित गुण सम्पन्न राजपुत्र को राजा अपने जीवन काल में युवराज या सेनापति पद पर नियुक्त कर सकता है। राजपुत्र तीन प्रकार के होते हैं। बुद्धिमान आहार्य बुद्धि और दुर्बुद्धि। बुद्धिमान राजपुत्र धर्म और अर्थ की प्राप्ति करता है और उसका आचरण भी उत्तम होता है। आहार्य बुद्धि राजकुमार धर्म और अर्थ की उपलब्धि तो करता है परन्तु उसका आचरण अच्छा नहीं होता। जिसमें इन सभी गुणों का अभाव होता है वह दुर्बुद्धि पुत्र है। दुर्बुद्धि राजकुमार को राजपद कभी नहीं मिलना चाहिये। इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार गुणवान व्यक्ति ही राजपद पा सकता है। यदि पुत्र या पौत्र या पुत्री का पुत्र भी राज सिंहासन के अयोग्य है तो राज्य पंचायत द्वारा चलना चाहिये क्योंकि इससे राज-व्यवस्था ठीक चलती है और राज्य शत्रु से पराजित नहीं हो पाता। वंश की कुलीनता पर कौटिल्य विशेष जोर देते हैं। इसलिये नीच जाति स्त्री से उत्पन्न पुत्र बुद्धिमान होते हुए भी राज्याधिकारी नहीं हो सकता।

राजपुत्र—
- बुद्धिमान — धर्म अर्थ आचरण युक्त
- आहार्य बुद्धि — धर्म अर्थ युक्त पर आचरणहीन
- दुर्बुद्धि — राजपद के अयोग्य

कुलीन और गुणवान् राजपुत्र ही राजपद योग्य अन्यथा शासन पंचायत को।

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है ?

कौटिल्य के अनुसार राज्य का संप्रभु राजा है, इसीलिये वह कुलीनतंत्र प्रजातन्त्र आदि की चर्चा नहीं करता। इसमें संदेह नहीं कि कुछ अधिकरणों में कौटिल्य ने गणराज्यों की व्यवस्था की है, परन्तु राजा की वैदेशिक नीति के प्रसंग में ही इनकी चर्चा हुई है और इनकी चर्चा इतनी संक्षिप्त है कि यह स्पष्ट है कि कौटिल्य राजतंत्र को ही केवल एक स्वाभाविक तंत्र मानता है। परन्तु कौटिल्य निरंकुश राजतंत्र के पक्ष में नहीं है। राजा की शक्तियों को सीमित करने वाली अन्य दूसरी शक्तियाँ भी हैं। पहिली शक्ति मंत्रि परिषद की है और

चूंकि राज्य रूपी रथ के राजा और मंत्रि-परिषद् दो चक्र हैं इसलिये मंत्रि परिषद् का अधिकार राजा के बराबर ही है। दूसरे राजा का शासन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ही चलना चाहिये इसलिये राजा मनमानी नहीं कर सकता। आपत्तिजनक स्थानीय रीतिरिवाजों को भी राजा को मान्यता देना आवश्यक है। इसलिये राजा के अधिकार धर्म और रीतिरिवाजों से सीमित हो जाते हैं। क्षुब्ध प्रजा अपने राजा को स्वयं समाप्त कर देती है।[1] परन्तु राजा पर सबसे अधिक अंकुश उसकी निजी नैतिक व धर्म भावना है। कौटिल्य निरंकुश शासक के वध करने और पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को नहीं देता पर यह बात इसलिये नहीं खटकती क्योंकि अर्थशास्त्र शासकों को सामने रखकर लिखा गया है, शासितों को नहीं। इसका दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि कौटिल्य स्वधर्म में विश्वास करता है। जब प्रत्येक वर्ण अपना-अपना धर्म पालन करता है तभी व्यवस्था बनी रहती है। इसलिये भारतीय परंपरा में प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों और धर्म का निरूपण हुआ है अधिकारों का नहीं। नागरिकों के अधिकार वास्तव में राजाओं के धर्म के रूप में रखे गये हैं। राजा का एक मात्र धर्म है प्रजा के हित में शासन करना।

राजसत्ता सीमित करने वाली शक्तियाँ

(१) मन्त्रि-परिषद्।
(२) स्मृति और रीति-रिवाज।
(३) स्वधर्म की भावना।

(५)
अमात्य और अन्य प्रकृतियाँ

मन्त्रि-परिषद् की आवश्यकता—

जैसे एक पहिये से रथ का चलना असंभव रहता है वैसे ही अकेला राजा राज्य का दुरूह काम संपन्न नहीं कर सकता। इसलिये राजा को मंत्रियों की नियुक्ति करना चाहिए और उनकी बात सुनना चाहिये। अमात्य विपत्ति से राजा की रक्षा करते हैं और प्रमाद ग्रस्त राजा को पथ पर लाते हैं। राज्य कार्य इतना जटिल होता है कि कौटिल्य का कहना है कि समस्त कार्यों का प्रारंभ मंत्रणा कर लेने के उपरांत ही होना चाहिए। फिर राजा के पास बहुतेरे काम होते हैं जो एक ही समय में भिन्न भिन्न स्थानों में पूरे नहीं हो

---

१ अधि० ७ अ० १

सकते इसलिये राजा को मंत्रियों की सहायता आवश्यक है। अमात्यों के कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। जनपद के सारे कार्य जैसे जनपद की सुरक्षा और स्वास्थ्य उसकी विपत्तियों का निवारण बंजर भूमि का सुधार और उनमें कर आदि लगाने का कार्य मंत्री ही कर सकते हैं।

मंत्रि-परिषद् की संख्या कितनी होनी चाहिये इस पर प्राचीन आचार्यों के विभिन्न मत रहे हैं। मनु, बृहस्पति और उशना ऋषि के अनुयायियों ने यह संख्या क्रम से १२, १६ और २० बताई है। इन्द्र की मंत्रि-परिषद में एक हजार ऋषि थे। परन्तु कौटिल्य का मत है कि राजा को समय परिस्थिति और आवश्यकतानुसार मंत्रि-परिषद् की सदस्य-संख्या निश्चित करना चाहिये परन्तु मंत्रणा करने के लिये तीन या चार मंत्री अवश्य होना चाहिए, न इससे कम और न इससे अधिक। इससे मालूम होता है कि राजा की तीन या चार मंत्रियों की अंतरंग परिषदें होती थी और शासन कार्य चलाने के लिये अन्य मंत्री रहते होंगे जिन्हें मंत्रणा देने का अधिकार न रहता होगा। इन अन्य मंत्रियों को कौटिल्य अमात्य कहता है। इस बात को मंत्रियों की नियुक्ति संबंधी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए भी कौटिल्य ने स्पष्ट किया है। वह लिखता है कि जिन व्यक्तियों में अमात्य गुण हों—उन्हें देश काल और कार्य व्यवस्था देखकर राजा अमात्य बना सकता है, परन्तु उनको सहसा मंत्रि पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अमात्य वास्तव में कार्य सचिव होते हैं और उन्हें मंत्रणा देने का अधिकार नहीं दिया गया है। महाभारत में भी भीष्म ने इसी प्रकार की मंत्रि-परिषद् और अंतरंग परिषद् की चर्चा की है। मंत्रि-परिषद् की बैठकें स्वतन्त्र रूप से होने का प्रावधान किया गया है और इसकी अध्यक्षता राजा नहीं करता। केवल महत्वपूर्ण विषयों के उपस्थित होने पर ही राजा मंत्रि परिषद् को बुलाता था।

मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की योग्यता भी कौटिल्य ने निर्धारित की है। जो व्यक्ति अपने ही जनपद (राज्य) और उत्तम कुल में उत्पन्न हो उत्तम बन्धु बान्धवों से सम्पन्न प्रत्येक विषय का जानने वाला कार्य कुशल आपत्ति देश में चतुर, उत्साही शीघ्र प्रबंध करने वाला राजभक्त और सर्वप्रिय हो वही मंत्रि पद के योग्य होता है। उपर्युक्त सर्वगुण संपन्न मंत्री उत्तम मंत्री माना गया है। जिसमें तीन चौथाई गुण हों वह मध्यम मंत्री है, और जिसमें आधे ही गुण हों वह क्षुद्र मंत्री कहलाता है।

भारद्वाज मुनि के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों को ही अमात्य

बनाना चाहिये। परन्तु आचार्य विशालाक्ष का कहना है कि साथ में खेला हुआ सहपाठी अपने मित्र राजा की अवहेलना कर सकता है, इसलिये सहपाठी को मंत्री नहीं बनाना चाहिये। पाराशर मुनि के अनुसार राज्य भक्त को और पिशुनाचार्य के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति को अमात्य पद पर होना चाहिये। आचार्य कौणपदन्त आमात्य वंशजों को ही इस पद के योग्य समझते हैं। कौटिल्य इन सभी सिद्धान्तों को मान्यता देता है, परन्तु उसका मत है कि देश काल के अनुसार जिस परिस्थिति में जिन गुण वाले अमात्य की आवश्यकता हो उसके अनुरूप उन गुणों से सम्पन्न किसी भी व्यक्ति को अमात्य नियुक्त करना उचित होगा।

मन्त्रि-परिषद् की आवश्यकता

(१) मन्त्रणा के लिये।
(२) सहयोग अपनाने के लिये।
(३) सब कार्यों को एक साथ करने के लिये।
(४) जनपद के शासन के लिये।

———•———

(१) मन्त्रि-परिषद्—३ या ४ मन्त्रणा देने वाले।
(२) अमात्य—कार्य सचिव।

परिस्थिति के अनुसार विशेष गुण और क्षमता के अमात्य नियुक्त किये जावें।

गुप्त मन्त्रणा की आवश्यकता।

मंत्रि-परिषद् से राजा को गुप्त मंत्रणा करना चाहिये। मंत्रणा का प्रकट हो जाना राजा व मंत्री दोनों के लिये अहितकर है। इसलिये (१) मन्त्रणा का स्थान ऐसा हो कि पक्षी भी उस स्थान पर न पहुँच सकें। (२) मंत्रियों को और राजा को अपने चेहरे या आचरण से मंत्रणा के रहस्य को प्रकट नहीं करना चाहिये। (३) मद्यपान आदि व्यसनयोगियों से दूर रहना चाहिये तथा एकांत में सोना चाहिये। (४) कामासक्त, अभिमानी और तिरस्कृत मंत्रियों को दूर रखना चाहिये। (५) मन्त्रणा होने पर अपने निश्चय को कार्यान्वित करने में विलंब नहीं लगाना चाहिये।

मन्त्रणा देने के सिवाय मंत्रियों के अन्य कार्य भी हैं। उन्हें अपने राज्य और पर राष्ट्र का विचार करना चाहिये जो कार्य प्रारम्भ नहीं किये गये हैं उन्हें प्रारम्भ कराना चाहिये प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करने का प्रयत्न कराना चाहिए और जिन कार्यों की समाप्ति हो चुकी है उनमें विशेषता लानी चाहिए।

मंत्रि-परिषद् की चर्चा करते हुए हमें कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक है। दूत और गुप्तचर राज्य के लिए आवश्यक माने

गये हैं। बिना इनके राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता। शासन का कार्य चलाने के लिये राजा को अमात्य गुणों से सम्पन्न विभिन्न विभागों के अध्यक्ष नियुक्त करना और विभागों का निरीक्षण समय-समय पर करना चाहिये। राजा के पास चतुरंगिणी सेना होनी चाहिये और प्रत्येक अंग को अलग-अलग मुखिया के नीचे रखना चाहिये। कोष और सेना विभाग को राजा को अपने ही पास रखना चाहिये जिससे वह मंत्रियों के असन्तुष्ट होने पर अपनी रक्षा कर सके।

जनपद दुर्ग और कोष—

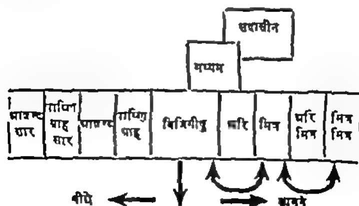
जनपद को हम आधुनिक भाषा में देहाती भूमि कह सकते हैं और दुर्ग को शहरी भूमि जो सुरक्षा के लिये चहार-दीवारी से घिरी हो। जनपद दुर्ग से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दुर्ग के कोष और सेना संबंधी कार्य जनपद पर अवलंबित हैं। साथ ही कृषि पशुपालन और मनुष्य-संख्या जनपद पर अवलंबित है। दुर्ग कोष से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि युद्ध आंतरिक शांति और शत्रु से बचाव दुर्ग पर निर्भर है। यदि दुर्ग दृढ़ न हुआ तो कोई भी कोष लूट सकता है। दृढ़ दुर्ग युक्त और कोष विहीन राजा को हराया नहीं जा सकता। जनपद में निम्न लिखित गुण होना चाहिये—(१) सुरक्षा की व्यवस्था (२) आर्थिक-साधन अर्थात् कृषि चरागाह, खनिज पदार्थ और वनसंपत्ति आदि (३) अच्छी जलवायु, अच्छे मार्गयुक्त जिससे व्यापार हो सके (४) उद्यमशील जनसंख्या से पूर्ण। इस प्रकार जनपद राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति का साधन है। दुर्ग कोष की सुरक्षा और सैनिक-अभियान के लिये आवश्यक है। पहाड़ पर स्थित दुर्ग नदी पर स्थित दुर्ग से अच्छा होता है, और मैदान में स्थित दुर्ग सबसे खराब। ध्यान रखने की बात है कि जनपद और दुर्ग की महत्ता राजा की सैनिक कार्यवाहियों से ही सम्बन्धित है।

(६)

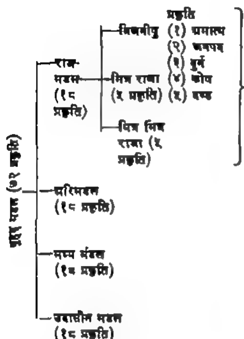
अन्तर्राज्य सम्बन्ध

नई भूमि को प्राप्त करने और उस भूमि के निवासियों के समुचित शासन पोषण करने के उपायों को बताना कौटिल्य ने अर्थशास्त्र का उद्देश्य माना है। इसलिये अब हम नई भूमि अर्जित करने और नई भूमि पर उपनिवेश बसाने की चर्चा प्रारंभ कर रहे हैं। परन्तु इसके पूर्व हमें कौटिल्य की राज्य-मंडल की धारणा वैदेशिक नीति के ष. गु. राज्य की तीन परिस्थितियों और राजा की तीन शक्तियों को समझ लेना आवश्यक है।

राज्य मंडल का अर्थ—कौटिल्य से पूर्व अर्थशास्त्रियों ने राज्य मंडल के सिद्धान्त का निर्धारित कर दिया था। ऐसा मालूम होता है कि उत्तर वैदिक काल के उत्तरी भारत में लगभग १६ राज्य थे और उन्हीं के संबन्ध को देख कर अर्थशास्त्र में राज्य-मंडल की धारणा बनाई गई। विजयीषु (विजयाभिलाषी राजा) की दृष्टि से राज्य-मंडल में चार प्रकार के अर्थात् शत्रु, मित्र मध्यम और उदासीन राज्य हो सकते हैं। पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से शत्रु राज्य होता है क्योंकि इनमें पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और सीमा संबंधी समस्यायें खड़ी होती हैं। विजयाभिलाषी राजा सबसे पहिले इसी राज्य को हड़प कर सकता है। परन्तु इसे हड़प करने के लिए उसे पड़ोसी राज्य के दूसरी ओर लगे हुए राज्य की सहायता आवश्यक होती है। इसलिये वे मित्र-राज्य होंगे। मित्र राज्य के आगे अरि मित्र (या शत्रु के मित्र) का राज्य होगा और उसके आगे मित्र के मित्र का राज्य। विजयीषु के दूसरी तरफ भी राज्यों का यही क्रम होता है जिन्हें कौटिल्य क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राह-सार और आक्रन्द सार से संबोधित करता है। मध्यम-राजा वह है (अ) जिसके राज्य की सीमा विजयीषु और शत्रु के राज्यों से लगी होती है, (आ) जो इतना शक्तिशाली होता है कि वह मध्यस्थ का काम कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर इन दोनों राजाओं का एक ही साथ दमन कर सकता है। उदासीन राज्य मध्यम राजा से परे होता है और वह विजयीषु, अरि और मध्यम राज्य को अलग-अलग या एक साथ सहायता दे सकता है। वह इन तीनों से बलवान भी होता है। इन चार प्रकार के राज्यों की स्थिति को हम इस प्रकार चित्रित कर सकते हैं।



इस प्रकार अरि (शत्रु) राज्य मित्र राज्य मध्यम राजा और उदासीन राजा अपने-अपने राज मंडल बनाते हैं।



विजगीषु, मित्र राजा और उसके मित्र का मित्र राजा एक समूह बनाते हैं और इन तीन राज्यों के तीन राजा तीन प्रकृति या अंग होते हैं। प्रत्येक राज्य की पांच प्रकृतियां और होती हैं अमात्य जनपद, दुर्ग कोष और दंड। इस प्रकार ये पंद्रह प्रकृतियां (५×३) और ऊपर के विजगीषु और मित्र तथा मित्र मित्र राज्य की तीन प्रकृतियां मिलकर कुल अठारह प्रकृतियां हुई। विजगीषु राजा की दृष्टि से ये १८ प्रकृतियां राज मंडल बनाती हैं।

इसी तरह अरि मंडल मध्यम-मंडल और उदासीन मंडल बनते हैं। और इनकी भी अपनी-अपनी अठारह प्रकृतियां होती हैं। इस प्रकार राज मंडल मध्यम मंडल और उदासीन मंडल को मिलाकर ७२ प्रकृतियों युक्त जो मंडल बनता है उसे बृहद्-मंडल कहते हैं। इस मंडल में बारह राजा होते हैं।

मंडल के इस सिद्धान्त पर दो आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। (१) मंडल की धारणा भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि पड़ोसी राज्य सर्वदा ही शत्रु राज्य हों। शत्रुता और मित्रता केवल भौगोलिक स्थिति पर निर्भर नहीं। (२) राज्यों के आपसी सम्बन्ध भौगोलिक दृष्टि से ही स्थायी समझे गये हैं पर उनके स्थायी रहने का विशेष कारण नहीं। राज्यों के अपने-अपने हित हो सकते हैं और इस कारण राज्यों के आपसी संबंध भी बदलते रह सकते हैं।

वैदेशिक नीति और राज्य की परिस्थितियाँ—

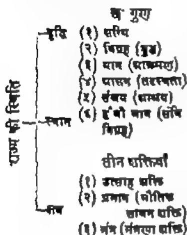
वैदेशिक नीति का उद्देश्य राज्य की वृद्धि है। वृद्धि का अर्थ है राज्य में सिंचाई व्यापार के साधन आदि बढ़ाना दुर्ग निर्माण करना आदि। राजा को ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये जिससे राज्य का विनाश या क्षय हो और शत्रु की वृद्धि हो। जब वैदेशिक सम्बन्ध से राज्य की न उन्नति हो न विनाश तो इस परिस्थिति को स्थान कहते हैं। इस प्रकार राज्य की तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं—वृद्धि क्षय और स्थान।

अपने प्रकृत मंडल में विद्यमान विजिगीषु राजा छः प्रकार के गुणों का प्रयोग करके विनाश की अवस्था से स्थान की अवस्था और स्थान की अवस्था से उन्नति की अवस्था में पहुँच सकता है। ये छः गुण हैं—संधि विग्रह (युद्ध) यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (तटस्थता) संश्रय (बलवान का आश्रय लेना) और द्वैधी भाव (संधि और युद्ध का एक साथ प्रयोग)।

संधि के द्वारा विजिगीषु शत्रु को निर्बल और अपने को सबल बनाने का समय प्राप्त कर लेता है। इसलिये यदि विजयाभिलाषी राजा देखता है कि संधि करके वह बड़े-बड़े कार्यों को संपादित कर शत्रु को क्षय पहुँचा सकता है या शत्रु के कार्यों से लाभ उठा सकता है या उसे शत्रु की योजनाओं को समाप्त करने का अवसर मिल सकता है तो उसे संधि करना चाहिये। कौटिल्य के अनुसार संधि कई प्रकार की हो सकती है। दूसरा गुण विग्रह है। परस्पर रूप से एक दूसरे के अपकार में लग जाना विग्रह कहलाता है। राजा अपनी वैदेशिक नीति में विग्रह गुण को उसी समय अपनाता है, जब वह शत्रु की तुलना में अपने को अधिक सामर्थ्यवान समझता है। जब शत्रु और विजिगीषु एक दूसरे को नष्ट करने की शक्ति नहीं रखते और कुछ काल के लिये शांत होकर बैठ जाते हैं तो यह आसन की स्थिति होती है। यदि विजयाभिलाषी राजा अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर शत्रु का नाश करने के लिये आक्रमण करने का निश्चय कर लेता है तब वह शत्रु के विरुद्ध अभियान करता है या यान गुणों का आश्रय लेता है। यदि राजा शत्रु को हानि पहुँचाने की क्षमता नहीं रखता साथ ही यदि वह अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ है तो उसे बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिये। पर यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिस राजा का आश्रय लिया जा रहा है, वह शत्रु से अधिक बलशाली हो। यदि इतना शक्तिशाली राजा न मिले, तो सबल

शत्रु का आश्रय लेना ही उचित है। इस अवस्था को संश्रय गुण कहते हैं। एक राजा से संधि करना और दूसरे से विग्रह करना द्वैधी भाव है।

वातव्याधि के अनुसार उपर्युक्त छः गुण केवल दो गुण—संधि और विग्रह—के अन्तर्गत आ सकते हैं। परन्तु कौटिल्य का कहना है कि परिस्थिति के कारण ये दो गुण अलग-अलग रूप ले लेते हैं, इसलिये इन छः गुणों को अलग-अलग मानना ही उचित होगा।



शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने में राजा के पास तीन शक्तियाँ होनी चाहिये—उत्साह शक्ति प्रभाव शक्ति और मंत्र शक्ति। यदि राजा उत्साही वीर, शक्तिशाली और युद्धकला में प्रवीण होता है और प्रभाव शक्ति या भौतिक साधनों में सशक्त तो भी वह युद्ध में विजयी होता है। यदि उसमें उत्साह शक्ति नहीं है, केवल प्रभाव शक्ति है तो प्रचुर साधन होते हुए भी वह शक्तिशाली राजा द्वारा पराजित हो सकता है। भौतिक साधनों के अभाव में मंत्री या उत्साह-शक्ति व्यर्थ है। इस प्रकार इन तीन शक्तियों में उत्साह-शक्ति को कौटिल्य ने प्रधानता दी है।

दुर्ग विजित करने की नीति—

नये देश को जीतने की रीतियों का वर्णन कौटिल्य ने दुर्ग-विजय के अन्तर्गत किया है। दुर्ग विजय करने के पाँच तरीके हैं—

(१) उपजाप—शत्रु पक्ष के दल में असंतोष पैदा करना। शत्रु के नगर में विजिगीषु की सर्वज्ञता का विज्ञापन करना दैव साक्षात्कार का प्रचार करना गुप्तचरों को भेजकर जनता में शत्रु की पराजय की भावना को बढ़ाना राजा की दयालुता का वर्णन करना आदि उपाय अपनाकर प्रजा को राजा के विरुद्ध उभाड़ना।

(२) योगवामन—अनेक गुप्त रीति से शत्रु का नाश करना। कपट द्वारा शत्रु को दुर्ग से बाहर निकालने के लिये विजिगीषु को तपस्वी महात्मा

महत, घोड़ा हाथी बेचने वाले के रूप में गुप्तचरों को भेजना चाहिये और उनके द्वारा राजा का वध करा देना चाहिये । मृगया-प्रेमी कामी राजाओं को वह लालच देकर नष्ट कर सकता है ।

दुर्ग विजय की ५ रीति
(१) उपजाप (शत्रु में असन्तोष)
(२) योगवामन (शत्रु का नाश)
(३) अपसर्प (भेदियों को भेजना)
(४) पर्युपासन (घेरा डालना)
(५) अवमर्द (आक्रमण करना)

(३) अपसर्प—अर्थात् शत्रु राज्य में भेदियों को भेजना । विजिगीषु को चाहिये कि अपने विश्वस्त संबंधियों को वेष छिपाकर राज्य से बाहर निकाल दे जिसमें वे शत्रु राज्य में आश्रय ले शत्रु के विश्वास पात्र हो जांय और अंत में उसका नाश कर सकें ।

(४) पर्युपासन—अर्थात् घेरा डालना । दुर्ग के चारों ओर घेरा डालकर शत्रु की रसद रोकना खड़ी फसल नष्ट करना नागरिकों की हत्या करना और उन्हें स्थान छोड़ने के लिये विवश करना ।

(५) अवमर्द—अर्थात् आक्रमण करना और विश्वासघात द्वारा दुर्ग पर विजय पाना ।

इन रीतियों को अपना कर विजयाभिलाषी राजा शत्रु की भूमि पर कब्जा कर सकता है । शत्रु को समाप्त कर वह मध्यम राजा के राज्य को प्राप्त करने का उद्योग करे, तत्पश्चात् उदासीन राज्य को । पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने का यही मार्ग है ।

जीती हुई भूमि को अपने वश में करने के लिये राजा को नई प्रजा के प्रति दयालुता का व्यवहार करना चाहिये अपने गुणों को व्यक्त करना चाहिये और जिन लोगों ने विजय प्राप्ति में सहायता की है, उन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा देना चाहिये । अपने को जनता का शुभचिन्तक बनाने के लिये उसे उन्हीं की भाषा, वेशभूषा शिष्टाचार अपनाना चाहिये और उनके रीतिरिवाजों और उत्सव में भाग लेना चाहिये ।

(७)

देश की सुरक्षा

राज्य के सुरक्षा संबंधी विचारों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं । राजा और प्रजा की सुरक्षा जनपद को बसाना आर्थिक-समृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध ।

राजा और प्रजा की सुरक्षा—

राज्य के लिये राजा की सुरक्षा सबसे आवश्यक है, इसलिये कौटिल्य ने युवराजों राजमहिषियों अमात्य आदि सभी से राजा की सुरक्षा का प्रावधान किया है। राजा को भोजन शयन उत्सवों में भाग लेने तथा शिकार आदि करते समय अपनी सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। साथ ही उसे अपने कर्मचारियों को शत्रु के पक्ष से बचाने के लिये विभिन्न विभागों में गुप्तचर रखना चाहिये।

प्रजा की सुरक्षा के लिये भी गुप्तचरों की नियुक्ति आवश्यक है। उसे असंतुष्ट जनता को साम दाम दंड और भेद द्वारा अपने पक्ष में रखना चाहिये। कंटक शोधन अधिकरण के अन्तर्गत वह उन अपराधियों के दंड करने की व्यवस्था बताता है, जो व्यापारी शिल्पकार जादूगर के रूप में प्रजा के साथ अन्याय करते हैं। दुर्भिक्ष बाढ़ जंगली जानवर आदि प्राकृतिक संकटों से पीड़ित जनता की सहायता राजा को करना चाहिये। जो कर्मचारी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, उन्हें पदच्युत करना आवश्यक होता है।

जनपद को बसाना—

नई भूमि को बसाने के लिये राजा को व्यवस्थित कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। इन नई भूमियों पर शूद्र कृषकों के एक सौ से लेकर पाँच सौ कुटुम्बों का एक-एक गाँव बसाना उचित है। चार सौ से आठ सौ गाँव के बीच में एक बड़ा शहर और एक छोटा शहर बसाया जाना चाहिये जहाँ पर दुर्ग हों। कृषि के साथ उद्योग धंधे खनिज पदार्थों का भी विकास होना चाहिये। आमोद-प्रमोद के साधन मनुष्य के लिये आवश्यक होते हैं, इसलिये इनका भी प्रावधान करना आवश्यक है।

नई भूमि बसाने में कौटिल्य का मुख्य उद्देश्य राज्य की सैनिक आर्थिक और प्रशासकीय आवश्यकताओं को पूरा करना है। इस नई भूमि पर सुरक्षा के लिये जगह-जगह दुर्ग बनाये जावें।

आर्थिक समृद्धि—राज्य के लिए कोष बहुत आवश्यक है। इसलिये यदि कोई सहसा अर्थ संकट आ पड़े तो राजा को कर बढ़ाकर अपने राज्य का कोष बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार के कर न केवल कृषकों से ही लिए जावें वरन् सभी जनपद निवासियों से कृषि का तृतीय या चतुर्थ भाग माँगना उचित होगा। सोना चाँदी और घोड़े हाथी आदि व्यापारिक वस्तुओं से १/२० वाँ भाग कर रूप में लेना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं पर कर की दरें कौटिल्य

न की है। धन एकत्रित करने के और भी दूसरे तरीके कौटिल्य ने बताये हैं जिन्हें हम नैतिक नहीं कह सकते। जैसे प्रजा में यह प्रसिद्ध कर कि इस स्थान पर भूमि खोदकर देखना निषेध है धन एकत्रित करना या राक्षस का भय दिखा कर जनता से रुपया वसूल करना। एक जगह तो कौटिल्य यह भी लिखता है कि गुप्तचर वैश्य बनकर क्रय-विक्रय का व्यापार प्रारम्भ कर दे और जब लोग उसे बड़ा सेठ समझ कर अपने बहुमूल्य आभूषण और नगद उसके पास अमानत रख दें, या अपनी जमा रकम उसे रोजगार में लगान सूद पर उधार दे दें तो राजा को उसके घर में चोरी कराके सारा धन राज्य कोष में जमा करा लेना चाहिये। कौटिल्य लिखता है कि यह धन दुर्जों से ही लेना चाहिये जैसे लोग बाग से पक पके ही फल तोड़ते हैं उसी प्रकार राजा दुष्ट व्यक्तियों को ही पकड़ और उन्हीं से धन संग्रह करे। जैसे बगीचे के कच्चे फल तोड़ना उत्तम नहीं होता उसी प्रकार राजा अपने विनाश की आशंकावश कोई ऐसा कच्चा धन संग्रह न करें, जिससे प्रजा के कुपित हो जाने का भय हो।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—

इसके अन्तर्गत कौटिल्य ने यह बताया है कि शक्तिशाली राजा किस प्रकार अपने देश की रक्षा कर सकता है।

(८)

कौटिल्य की देन

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कौटिल्य के पूर्व कई अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी परन्तु कौटिल्य न अपने विचारों को इतने स्पष्ट और तर्कपूर्ण ढंग से रखा है कि उसका अर्थशास्त्र राजनीति पर सर्वश्रेष्ठ पुस्तक हो गई है और उसका प्रभाव न केवल राजनीति शास्त्र की पुस्तकों वरन् साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा है। स्मृति काव्य कोष दर्शन पर लिखी गई पुस्तकों में हमें उसकी पुस्तकों के उद्धरण मिलते हैं महाभारत के राजधर्म मनु और शुक्र के नीतिसारों में अर्थशास्त्र । सिद्धान्तों की हमें स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

मैकियावली

(१४६९—१५२७)

(१) जीवन। (२) मैकियावली एक राजदर्शन।
(३) युग का शिशु। (४) अध्ययन की रीति।
(५) मानव प्रकृति-सम्बन्धी विचार। (६) नैतिकता और धर्म।
(७) राजा के आचरण। (८) अन्य सिद्धान्त।
(९) राजदर्शन में स्थान। (१०) मैकियावली और कौटिल्य।

(१)
जीवन

कौटिल्य के राजदर्शन के अध्ययन के पश्चात् हम मैकियावली का अध्ययन प्रारंभ कर रहे हैं। यह भी एक संयोग की बात है—क्योंकि कौटिल्य और मैकियावली के विचारों और दृष्टिकोणों में इतनी अधिक समानता है कि कौटिल्य को कुछ लोग पूर्व का मैकियावली कहते हैं। दोनों ही राज्यशास्त्र का नहीं वरन् शासन-तंत्र का अध्ययन करते हैं दोनों की ही पुस्तकें शासकों की दृष्टि से लिखी गई हैं, दोनों का ही उद्देश्य था नये राज्य को जीतना और राज्य में शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना। अपने इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये शासक कोई भी साधन अपना सकता है—उन साधनों तक को भी जो व्यक्ति की दृष्टि से अनैतिक ठहराये जाते हैं—क्योंकि नैतिकता और अनैतिकता की धारणा व्यक्ति के लिए है, राज्य के लिये नहीं। राज्य नैतिक अनैतिक भावना से परे है।

दासों को ही शासन तन्त्र का व्यावहारिक अनुभव था और दासों के अनुभव पर ही उसने ग्रन्थों को लिखा है।

मैकियावली का जन्म १४६९ में इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेंस में हुआ था। वह समय पुनर्जागरण (ज्ञान के पुनरागमन) का स्वर्ण युग था। उसका पिता प्रसिद्ध वकील था और प्रभुत्वशील घराने का वंशज। फ्लोरेंस में इस समय मेडिसी राजवंश के लोगों का शासन था और प्रारम्भ में मेडिसी वंश के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण मैकियावली के पूर्वजों को बन्दीगृह में प्राण त्यागना पड़े थे। इस कारण मैकियावली और मेडिसी के घरानों में खानदानी दुश्मनी थी। १४९२ में फ्रांस ने फ्लोरेंस को जीत लिया और वहाँ अपने अधीन प्रजातन्त्र स्थापित किया। गणराज्य परिषद में मैकियावली को सचिव के रूप में काम करने का अवसर मिला। थोड़े ही दिनों में उसने प्रतिभा और विद्वत्ता के द्वारा न केवल फ्लोरेंस में वरन् विदेशों में भी उसने अपनी धाक जमा दी। फ्लोरेंस का गणतन्त्र अधिक दिन न रह पाया। मेडिसी वंश के हाथ में फिर राजसत्ता आ गई इसलिये मैकियावली देश से निकाल दिया गया। इस काल में उसने प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंस' और 'डिसकोर्सेज ऑन लिवीज हिस्ट्री' लिखी। प्रिंस लिखने का उसका उद्देश्य मेडिसी नरेश को अपने वश में करना था। परन्तु उसके इस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। मैकियावली की अन्य दो पुस्तकें और हैं 'दि आर्ट ऑफ वार' और 'हिस्ट्री ऑफ फ्लोरेंस' जो राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'डिसकोर्सेज' में उसने गणतन्त्रात्मक राज्यों की विशेषताएँ बताई हैं, परन्तु 'प्रिंस' अधिक लोकप्रिय है, और मैकियावली की ख्याति इसी पुस्तक पर आधारित है।

(२)
अरस्तू से लेकर मैकियावली तक राजनैतिक दर्शन

मैकियावली के विचारों का अध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व हमें अरस्तू से मैकियावली तक की राजनैतिक संस्थाओं और विचारों के विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना अच्छा होगा। प्लेटो और अरस्तू नगर राज्यों के दार्शनिक थे। उनका दर्शन सहवासी कुटुम्बों का दर्शन था, इसलिये सहयोग और नैतिकता की भावना पर जोर देना उनके लिये स्वाभाविक था। उनके विचारों का सार यही था कि व्यक्ति अपना नैतिक विकास राज्य में रहकर ही कर

सकता है। परन्तु अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् राजनैतिक परिस्थितियाँ इस तीव्रता से बदली कि उनके विचारों का व्यावहारिक महत्व कुछ भी न रह गया। सिकन्दर महान ने महान साम्राज्य स्थापित कर नगर राज्यों को लोप कर दिया। उसके पश्चात् रोम का महान साम्राज्य आया। इन साम्राज्यों की शासन व्यवस्था में व्यक्ति का भाग लेना असम्भव था। इसलिये यह धारणा प्रचलित हो गई कि व्यक्ति अपना विकास राज्य से स्वतन्त्र व अलग रहकर कर सकता है। शासन व्यवस्था में सम्राट के हाथ ही सारी शक्तियाँ होना चाहिये वही न्याय शक्ति और नियमों का स्रोत है।

इसी काल में ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ जिसने लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन को महत्वपूर्ण बताया और यह कल्पना रखी कि संसार के साम्राज्यों से परे ईश्वर का महान साम्राज्य है, जिसमें सभी मनुष्य समान हैं चाहे वे दास हों या बर्बर जाति के। उसका अधिष्ठाता ईश्वर है, जो दैवीय विधियों और प्राकृतिक नियमों के द्वारा शासन करता है। इन विधियों का निरूपण धर्म-पुस्तकों में हुआ है और संसार में उसका प्रतिनिधि पोप है। इस प्रकार लोगों के सामने दो साम्राज्य थे—लौकिक जिसका सर्वोपरि शासक सम्राट था और ईश्वरीय जिसका सर्वोपरि शासक पोप था। इन दोनों साम्राज्यों के बीच शक्ति के लिये संघर्ष होना स्वाभाविक था। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में पोप लौकिक और पारलौकिक दोनों मामलों में सर्वोपरि हो गया और विभिन्न राजा और सम्राट उसके अधीन। शक्ति मनुष्य किसी को भी भ्रष्ट कर सकता है और फिर सर्वोच्च शक्ति तो भ्रष्टता के लिये सबसे अधिक उत्तरदायी है। पोप के भ्रष्ट शासन के विरुद्ध चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में ही आवाज उठाई जाने लगी। जिससे धार्मिक-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुए। परन्तु अभी भी सुधार आंदोलनों का युग नहीं आया था।

कौटिल्य की भांति मैकियावली का भी केन्द्रीय विचार है सशक्त शासक।

मैकियावली को कूटनीति का पूर्ण अनुभव था।

उसके ग्रन्थ हैं : प्रिंस (राजतंत्र) डिसकोर्सेज ऑन लिवीज हिस्ट्री (गणतंत्र) दि हिस्ट्री ऑफ फ्लोरेंस दि आर्ट ऑफ वार।

पाँचवी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का काल मध्ययुग कहलाता है। इसके उत्तरार्ध को अंधकार युग कहते हैं, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान

लुप्त हो गये थे, समाज अन्धविश्वास पर चल रहा था, राजनैतिक जीवन स्थानीय हो गया था और अधिकतर लोगों को अपने गाँव को छोड़ बाहरी दुनिया का कुछ भी ज्ञान न था। आवागमन के साधन न होने से लोगों का व्यापार और जीवन स्थानीय हो गया था। गाँव का जमींदार सब कुछ था। प्रजा का राजा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था वह तो केवल जमींदार को ही जानती थी। इस प्रकार मध्य युग का सामाजिक जीवन स्थानीय और सामन्तवादी था। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हम राष्ट्रीयता की भावना की झलक दिखाई दे सकती है। स्थानीय जीवन की भावना ने उनमें स्थानीय रीतिरिवाजों और निवासियों के प्रति निष्ठा पैदा कर दी थी। इसलिये अब ये बड़े-बड़े जमींदार सम्राट और पोप से मुक्त होकर स्वयं अपना राष्ट्रीय राज्य बनाने लगे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रवादी राज्य और निरंकुश राजतंत्रों का अभ्युदय हुआ और आधुनिक युग की नींव पड़ी।

आधुनिक युग की विशेषता है राष्ट्रीय राज्य और सम्प्रभुता की धारणा। प्राचीन यूनान में नगर राज्य थे मध्य-युग में विश्व-साम्राज्य की कल्पना थी इसलिये प्राचीन और मध्य युग की राजनैतिक संस्थायें हमारे आधुनिक युग की राजनैतिक संस्थाओं से भिन्न थी। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्य और संप्रभुता की भावना का अभ्युदय होने लगा था। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी मध्य युग और आधुनिक युग का संक्रमण काल है। मैकियावली इसी संक्रमण-काल में लिख रहा था इसलिये मैकियावली जहाँ मध्य-युगीन धाराओं को व्यक्त करता है वहाँ वह नवीन युग का भी अग्रदूत है। मैकियावली के विचारों को समझने के लिए हमें मध्य-युग और आधुनिक युग की प्रमुख विचारधाराओं को समझ लेना आवश्यक है।

मध्य-युग और आधुनिक युग—

मध्य-युग में व्यक्ति और समाज का जीवन धार्मिक सिद्धान्तों द्वारा संचालित होता था। लोगों का एकमात्र उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था इसलिये उनका ध्यान इस लोक की अपेक्षा परलोक की ओर अधिक था। मनुष्य दो नियमों के द्वारा शासित होता था मानवीय नियम जिनसे वह अपने इस लोक के जीवन को व्यवस्थित रख सकता था, और दैवीय नियम जिनकी सहायता से वह अपना परलोक सुधार सकता था। मानवीय नियम का संचालन लौकिक सम्राट किया करता था और दैवीय नियमों का चर्च और उसका प्रतिनिधि पोप। यद्यपि इन दोनों का क्षेत्र स्वतंत्र था परन्तु मध्य युग की

सामाजिक व्यवस्था और विचारों के अनुसार पोप और दैवीय नियमों का स्थान सम्राट और लौकिक नियमों से ऊपर था। इस युग में आवागमन के साधनों के अभाव के कारण जीवन स्थानीय था और लोग कूप-मण्डूक थे। व्यक्ति का अपना निजी महत्व नहीं था। वह धार्मिक नियमों सामाजिक नियमों और परंपरा का दास था।

मध्य-युग की विचार धाराओं और जीवन को समाप्त करने का श्रेय रिनासेन्स (ज्ञान का पुनरोदय) और रिफ़ार्मेशन (धार्मिक सुधार आंदोलन) को है। रिनासेन्स का प्रारंभ फ्लोरेंस से हुआ जहां मैकियावली पैदा हुआ था इसलिये रिनासेन्स की पूरी प्रवृत्तियां मैकियावली में व्यक्त होती हैं। सुधार आन्दोलन मैकियावली के पश्चात् प्रारंभ हुआ इसलिये इन आन्दोलनों का प्रभाव मैकियावली के विचारों पर नहीं पड़ा। यद्यपि कुछ सौ वर्ष पूर्व ही ग्रीस और रोमन साहित्य का प्रचार यूरोप में हो चुका था परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में इन साहित्यों और विधियों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पहली बार व्यक्त हुआ। ग्रीक-रोमन साहित्य तथा दर्शन के अध्ययन से फिर वही अध्ययन शैली प्रारंभ हुई जो हम प्लेटो व अरस्तू में पाते हैं। प्लेटो व अरस्तू व्यावहारिक जगत से संबंध रखते थे। व्यक्ति की स्वतंत्रता उनके दर्शनमें विशेष स्थान रखती है। इनके प्रभाव के कारण इस युग में फिर परलोक की अपेक्षा इस लोक पर ध्यान दिया गया। ईश्वरीय नियम और ईश्वरीय साम्राज्य के स्थान पर फिर मानवीय नियम और समाज का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। मनुष्य और उसकी संस्थायें अध्ययन का केन्द्र बन गई। इस नये सेकुलरवाद में अपने मत की पुष्टि के लिये डार्विन के सिद्धान्त को नहीं

मैकियावली तक सामाजिक दशा

अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति की नैतिकता राज्य से सम्बद्ध न रही।

मध्ययुग में ईश्वरीय राज्य की कल्पना प्रारम्भ हुई जिसका इस लोक में पोप प्रतिनिधि माना जाता था।

इसलिये मध्ययुग में दो साम्राज्य और दो नियमों की धारणा थी— दैवीय राज्य और दैवीय नियम तथा लौकिक साम्राज्य और सम्राट के नियम। जनता धार्मिक थी इसलिये पोप सम्राट से शक्तिशाली था।

मध्य युग का जीवन सामन्तवादी स्थानीय व अंधविश्वास पूर्ण था।

आधुनिक युग ज्ञान के पुनरोदय से आरम्भ होता है इसकी विशेषता है राष्ट्रीय राज्य। सोलहवीं शताब्दी में निरंकुश राजतंत्र स्थापित हो गये और व्यापारी वर्ग की सहायता से सामन्त प्रथा समाप्त होने लगी तथा धर्म का महत्व गिर गया।

बरन इतिहास अनुभव और अवलोकन को कसौटी बनाया गया। इस प्रकार ज्ञान का फिर से उदय हुआ। कोलम्बस ने इसी युग में अमेरिका को खोजा था परन्तु कोलम्बस तो केवल एक प्रतीक मात्र है, क्योंकि यह पूरा समाज ज्ञान की नई दुनिया का पता लगा रहा था। बड़े-बड़े जहाज दूर-दूर देशों से व्यापार करने लगे थे इसलिये दुनिया अब गाँव या जमींदार के क्षेत्र तक ही सीमित न थी। दूर दूर से व्यापार करने के लिये नये व्यवसायी वर्ग का अभ्युदय हुआ जिसमें अदम्य उत्साह था, जो नये-नये उद्योगों के तरीके नये-नये व्यापारिक पथ और स्थल मार्ग ढूंढ रहे थे। इस वर्ग को व्यापार के लिए सुरक्षा की आवश्यकता थी। सामंतों के स्थानीय नियमों से काम नहीं चल सकता था इसलिये वे राजा की शक्ति बढ़ाना चाहते थे। इधर राजा भी पोप की सत्ता से मुक्त हो रहे थे और अपनी प्रभुता स्थापित करने में लगे थे। व्यापारी वर्ग की सहायता से उन्हें सामंतवाद को भी समाप्त करने का अवसर मिल गया इस प्रकार राजा और प्रजा का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया। सोलहवीं शताब्दी निरंकुश राजाओं की शताब्दी है।

स्थानीय-जीवन और नियमों ने राष्ट्रीयता की भावना को भी उभाड़ा था इसलिये मध्य-युग के महान साम्राज्यों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने लगे। इन राष्ट्रीय राज्यों में पोप नहीं, राजा प्रभु था। इसी कारण आधुनिक युग का राजनीतिक चिन्तन राष्ट्रीय राज्य और संप्रभुता से सम्बन्ध रखता है। अतएव लौकिकवादी राष्ट्रीय राज्य के अभ्युदय से ही मध्य-युग समाप्त होता है और आधुनिक युग प्रारम्भ होता है।

इस युग के निरंकुश राजतंत्र बल पर आधारित थे। इन राजतन्त्रों ने सामन्तवाद और मध्ययुगी सर्वैधानिकतावाद को समाप्त कर दिया और धर्म पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया।

मैकियावली कालीन राजनैतिक व्यवस्था—

इस प्रकार के असीमित सत्ताधारी राजाओं का अभ्युदय फ्रांस स्पेन और इङ्गलैण्ड में हो चुका था और इन शासकों के अन्तर्गत इन देशों ने बड़ी उन्नति की थी। इङ्गलैण्ड और स्पेन का तो यह स्वर्णिम काल था। इन देशों के जहाज दूर दूर देशों से व्यापार करने और राष्ट्र को समृद्धिशाली बना रहे थे। इनकी सैनिक शक्ति भी बढ़ी चढ़ी थी। परन्तु इस समय इटली की बड़ी बुरी दशा थी। इटली इस समय पाँच बड़ी बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था। वेनिस और फ्लोरेंस में गणतंत्र राज्य थे और नेपिल्स तथा मिलान में शासकों का

राज्य था। इन छोटे-छोटे राज्यों में सर्वत्र युद्ध होते रहते थे और इन आपसी लड़ाइयों का सबसे अधिक लाभ पोप उठाते थे क्योंकि अन्य शासकों की अपेक्षा पोप अधिक कूटनीतिज्ञ होता था। पोप के कारण अन्य पड़ोसी राष्ट्रीय राज्य भी इटली पर आक्रमण कर इन छोटे छोटे राज्यों को समाप्त कर इटली में एकता स्थापित करने में असमर्थ थे। पोप में भी यह शक्ति नहीं थी कि वह सारी इटली को अपने नियन्त्रण में कर इटली का राष्ट्रीय राज्य स्थापित कर सकता। फिर पोप का इतना भोग विलास मय जीवन हो गया था कि जनता उसका साथ न देती। सारा इटली षड्यंत्र भ्रष्टाचार और कूटनीति की आग में जल रहा था। राजा और पादरियों की तो बात ही क्या साधारण जनता भी नैतिक आदेशों की उपेक्षा कर रही थी। परन्तु जैसा हम कह चुके हैं इटली ज्ञान के पुनरोदय का केन्द्र था। मैकियावली बड़ा देशभक्त था वह इटली को एक समृद्ध राष्ट्र बनाना चाहता था। रिनासेन्स की नवीन जागृति ने उसे व्यक्तिवादी मानवतावादी और इस लोक में दिलचस्पी रखने वाला बना दिया था। जैसे भी हो देश महान हो जाये। शासक को यदि अनैतिक साधन भी अपनाना पड़ते हैं, तो इस साध्य के लिये उनके अनुचित होने का प्रश्न नहीं उठता। मैकियावली इटली की इस गिरी हुई राजनैतिक सामाजिक और नैतिक दुरावस्था फ्लोरेंस में प्रकट रिनासेन्स की भावना और आधुनिक युग के पनपते हुए राष्ट्रीय राज्य की भावनाओं एवं आदर्शों को व्यक्त करता है। वह अपने युग का शिशु था।

समकालीन राजनैतिक परिस्थिति

स्पेन फ्रांस और इङ्गलैंड के राष्ट्रीय राज्य सशक्त राजतंत्रों के आधीन उन्नति कर रहे थे परन्तु इटली में नेपिल्स मिलान के सामन्तों वेनिस और फ्लोरेंस के जनतन्त्रों और रोम के पोप के बीच संघर्ष चल रहा था।

इटली राजनैतिक फूट, षड्यंत्र भ्रष्टाचार का घर था।

पर फ्लोरेंस से ही ज्ञान का पुनरोदय प्रारम्भ हुआ जिसने मैकियावली को व्यक्तिवादी मानवता-वादी और राष्ट्रवादी बनाया।

(३)

युग का शिशु

जब हम मैकियावली को अपने युग का शिशु कहते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल यही होता है कि अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा उस पर समकालीन परिस्थितियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था क्योंकि सीमित अर्थ में प्लैटो अरस्तू कौटिल्य सभी अपने युग के शिशु थे। परन्तु जहाँ इन लेखकों की कृतियाँ चाहे वे किसी देश या काल में लिखी जातीं अपना महत्त्व रखतीं वहाँ मैकियावली को सोलहवीं शताब्दी ही महान दार्शनिक बना सकती थी। अगर हम उसके विचारों को देखें तो डनिंग के ये शब्द कि मैकियावली अपने समय का शिशु है, और जोड का ये विचार कि मैकियावली रिनासेन्स और फ्लोरेंस का शिशु है, पूरे सही उतरते हैं—

(१) वह असीमित राजतंत्र के पक्ष में था—

मध्य युग में सीमित राजतंत्र और सीमित पोप-सत्ता के आन्दोलन चले थे परन्तु सोलहवीं शताब्दी में इङ्गलैंड में हेनरी सप्तम फ्रांस में लुई ग्यारहवें और स्पेन में फर्डिनण्ड ने असीमित राजतंत्र और राष्ट्रीय राज्य स्थापित कर लिये थे। इन तन्त्रों के अन्तर्गत इन राज्यों की उन्नति भी हुई थी। मैकियावली अपनी पुस्तक प्रिन्स में इटली की अव्यवस्था भ्रष्टाचार अधःपतन के ऊपर आँसू बहाता है और असीमित राजतंत्र स्थापित करना चाहता है। डिसकोर्सेज में वह गणतंत्र को राजतंत्र की अपेक्षा अच्छा समझता है परन्तु इटली में लोगों का इतना नैतिक पतन हो चुका था कि मैकियावली जो गणतंत्र को सदाचार युक्त लोगों का तंत्र समझता है उसे सामयिक परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं समझता। इटली के लोग भी सदाचारी थे परन्तु मैकियावली के अनुसार पोप ने पादरियों का नैतिक पतन कर दिया है और वही सारी अराजकता के लिये उत्तरदायी है। इसलिये वह चर्च की सत्ता के विरुद्ध है और पोप और चर्च को राज्य के अन्तर्गत रखना चाहता है। वह लिखता है

"यह सोचते हुए आश्चर्य होता है कि पिसिस्ट्रेटस के निरंकुश शासन से मुक्त होकर सौ वर्ष के भीतर ही एथेन्स ने बड़ी महानता प्राप्त की थी। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात रोम की वह महानता है जो राजाओं से मुक्ति पाकर रोम ने प्राप्त की थी। पर इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि व्यक्तिगत उन्नति नहीं वरन् सार्वजनिक उन्नति राज्यों को महान बनाती है और सार्वजनिक

प्रकृति केवल मरणोत्तरों में ही हो सकती है पर इस समय कोई भी परिवर्तन चाहे वह कितना ही तीव्र या महान हो मिलान नैपिल्स को स्वतंत्रता वापिस नहीं दे सकता क्योंकि इन राज्यों के सभी आदमी बिल्कुल भ्रष्ट हैं······ (और) उन देशों से हम किसी भलाई की आशा नहीं कर सकते जो भ्रष्ट हैं विशेष कर इटली जैसे देश से। फ्रांस और स्पेन में भ्रष्टाचार है, लेकिन यदि हम उनमें इतनी अव्यवस्था और अपराधों नहीं देखते जितनी इटली में तो यह वहाँ के आदमियों की अच्छाई के कारण नहीं जितना इस बात के कारण कि इन राज्यों में राजा है जो अपने पुरुष से उन्हें एक बनाये हैं। [1]

राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिये वह असीमित राजतन्त्र चाहता है और देश का व्यापार बढ़ाना। इस प्रकार असीमित राजतंत्र की चलने वाली धारा को मैकियावली व्यक्त करता है।

(२) समकालीन परिस्थितियों का अवलोकन—

मध्य-युग में सारा ज्ञान और सारा दर्शन आगम पद्धति (Deductive Method) पर आधारित था। दैवीय विधि और प्राकृतिक विधि के आधार पर सब सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे। धर्म पुस्तकों को पूर्ण मान्यता थी। परन्तु सोलहवीं शताब्दी ज्ञान का पुनरोदय काल था जिसमें नई अध्ययन रीतियाँ प्रारम्भ हुई थीं। मैकियावली व्यावहारिक ज्ञान का व्यक्ति था। उसे यूरोप की कूटनीति का प्रत्यक्ष अनुभव था और उसने समकालीन कूटनीति और सरकार का बड़ा सूक्ष्म अवलोकन किया था। वह प्रिन्स के संबंध में अपने एक मित्र को लिखता है कि "मैंने राजतंत्र के अध्ययन में जो पन्द्रह वर्ष लगाये वे बेकार नहीं गये। इसमें मैं उन अनुभवों को ही [उपयोग] कर रहा हूँ।" मैकियावली किसी पूर्व मान्य सिद्धान्त को लेकर नहीं चलता। इसीलिये वौगन लिखता है कि वह सही अर्थों में दार्शनिक न था "वह वास्तव में कार्य व्यस्त व्यक्ति था जिसने बहुत से कार्यों के बीच समय निकाल कर संसार के और मनुष्य के अपने अनुभवों को लिखने का प्रयत्न किया है परन्तु जिसमें इन अनुभवों को एक क्रम बद्ध सिद्धान्त के रूप में संगठित करने की न तो प्रवृत्ति थी और न क्षमता ही।

(३) रिनासेन्स का प्रभाव—

रिनासेन्स अपने विचारों की प्रेरणा ग्रीस और रोम की सभ्यताओं से लेता है और मध्ययुगीन विचार धारा की उपेक्षा करता है। वह अति प्राकृतिक

---

१ डिसकोर्स—१ १७

दैवीय श्रेष्ठता के आदर्शों में विश्वास नहीं करता और न ईश्वर को अपने चिन्तन का विषय बनाता है। रिनासेन्स मनुष्य और मानवीय संस्थाओं में विश्वास करता है और इसलिये उसके अनुसार जीवन प्राकृतिक शक्तियों का गतिशील नाटक है। मनुष्य अपनी शक्ति द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकता है, इसलिये उसे परंपरागत विचार और नैतिकता का गुलाम नहीं होना चाहिये। इस नई विचार धारा में व्यक्ति की महत्ता स्पष्ट दिखाई देती है। मैकियावली मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रधानता देता है और नैतिकता संबंधी नई धारणायें बनाता है। उसके अनुसार जीवन की सफलता मनुष्य अपनी शक्ति और कार्य करने से प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का लक्ष्य स्वर्ग या मोक्ष नहीं है, वरन् ख्याति सम्मान और यश है। इन्हें प्राप्त करने के लिये मनुष्य में शक्ति चाहिये। परन्तु शक्ति और बल जीवन की सफलता के लिये केवल साधन-मात्र नहीं है, शक्ति और बल स्वयं साध्य हैं, क्योंकि शक्ति और बल मनुष्य में संतोष लाते हैं और इससे गौरव मिलता है। सबसे बड़ी शक्ति है दूसरे मनुष्यों के ऊपर प्रभुत्व जमाना इसलिये शासन कार्य सर्वोच्च है। मध्ययुग और मैकियावली के विचारों में कितना अन्तर है, यह इसी से मालूम होता है कि जहाँ मध्ययुग का प्रसिद्ध लेखक एक्वीनस राजनीति को आत्मा के लिये आवश्यक मानता है, वहाँ मैकियावली राज शक्ति को दूसरों पर अधिकार जमाने के लिये आवश्यक समझता है। मैकियावली के अनुसार न तो मनुष्य में ईश्वरीय गुण है और न वह एक नैतिक प्राणी है। वह एक जानवर है और जानवरों की चालाकी और खूंखार प्रवृत्ति ही उसमें दिखाई देती है। मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य पारलौकिक जीवन नहीं वरन् इस जीवन में सफलता पाना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोई भी साधन अपनाये जा सकते हैं। मैकियावली भी जीवन का लक्ष्य व्यक्ति के सामने रखता है परन्तु उसके जीवन का लक्ष्य वह पवित्र जीवन नहीं है जिसे प्लेटो तथा मध्ययुग के सन्तों ने सामने रखा था।

(४) इटली और पोप—

डेवाइन लिखता है कि यद्यपि मैकियावली के राजनैतिक विचार स्पष्ट और व्यापक थे परन्तु वह वास्तव में सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों का इटैलियन ही था। अगर उसने किसी अन्य देश या काल में अपनी रचनायें की होतीं तो उसकी राजनीति संबंधी धारणायें भिन्न होतीं। इसमें संदेह नहीं कि मैकियावली इटली की राजनैतिक परिस्थिति से प्रभावित है। रिनासेन्स ने जो व्यक्तिवादी धारणा प्रवाहित कर दी थी उसके अनुसार व्यक्ति के कार्यकलापों

के लिये सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक संस्थायें उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पूँजीवाद का अभी अभ्युदय होना था। इस लिये इस व्यक्तिवादी धारा ने इस देश और काल में मनुष्य को नियंत्रणहीन और उग्र बना दिया था। इटली की राजनैतिक अवस्था ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और कूटनीतिज्ञता को उभार दिया था। इटली के पतन के ये सबसे बुरे दिन थे और इसका एकमात्र कारण था पोप। वह लिखता है "हम इटैलियन रोम की चर्च और उसके पुजारियों के कारण ही अधार्मिक और बुरे हो गये हैं। चर्च को हम एक बात के लिये और ऋणी हैं—और यही बात हमारे विध्वंस का कारण है—कि चर्च ने हमारे देश को विभाजित रखा है और रख रही है। इटली का समाज अनैतिकता का घर था। पुरानी सामाजिक संस्थाएं समाप्त हो गई थीं। निर्दयता और हत्यायें नित्यप्रति की घटनायें थीं। बल और चालबाजी सफलता की कुँजी थी। मनुष्य स्वच्छन्द था। उसके ऊपर कोई समाज का नियंत्रण न था। इसीलिये सेबाइन मैकियावली को स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक दार्शनिक कहता है।

युग का शिशु

(१) असीमित राजतंत्र का इच्छुक।
(२) रिनासेंस की नई अध्ययन पद्धति को अपनाने वाला।
(३) रिनासेंस मनुष्य की शक्ति में विश्वास करता है मैकियावली सांसारिक ख्याति, सम्मान या धन को मनुष्य का लक्ष्य मानता है।
(४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का दार्शनिक।

(४)
मैकियावली की अध्ययन रीति

मैकियावली ऐतिहासिक रीति को अपनाता है इसलिये उसकी कृतियों में मध्ययुगीन सन्तों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने ग्रीस और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु मैकियावली की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी कहेंगे क्योंकि उसने समकालीन राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को ही व्यक्त किया है और उनकी पुष्टि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सामने रखा है। प्राचीन संस्थाओं या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित

नहीं किये। सच बात तो यह है कि मैकियावली कोई दार्शनिक न था। उसकी कृतियाँ राज्य के दर्शन से नहीं कूटनीति के साहित्य से संबंधित हैं। इसी कारण मैकियावली कूटनीतिज्ञों का शास्त्रकार है। इसी कारण वह राज्य के उद्देश्य स्वरूप आदि की चर्चा नहीं करता। उसके लिये राजनीति स्वयं साध्य है। कौटिल्य की भांति वह शासन यंत्र पर लिखता है, उन रीतियों और नीतियों का विवेचन करता है, जिनसे शक्ति बढ़ाई जा सकती है और राज्य को पतन से बचाया जा सकता है। राजनैतिक सफलता और शक्ति का विस्तार ही सब कुछ है। आगे हम मैकियावली के सिद्धान्तों की विवेचना अवश्य करेंगे परन्तु इन सिद्धान्तों को मैकियावली ने उस रूप में नहीं रखा है जिस रूप में हम उनका अध्ययन करेंगे। वह गणतन्त्र को अच्छा शासन मानता है, परन्तु गणतन्त्र केवल नैतिक व्यक्तियों के लिये है। अनैतिक व्यक्तियों के लिए केवल राजतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। हमें आशा होने लगती है कि मैकियावली मनुष्य के इस पतन के कारणों की चर्चा करेगा और राजतंत्र के गणतंत्र में परिवर्तित होने के उपाय भी बतायेगा। परन्तु हमारी आशा पर पानी फिर जाता है। यह भी कहा जाता है कि मैकियावली ने प्रिन्स को मेडिची का कृपापात्र बनने को लिखा था। इसलिये गणतन्त्र में विश्वास करते हुए भी इसे राजतन्त्र को अच्छा बताना पड़ा था। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा विलेरी लिखता है कि डिसकोर्स के ही विचार इस प्रिन्स में प्रतिबिम्बित होते देखते हैं। चूँकि मैकियावली का लक्ष्य राज्य के स्वरूप की चर्चा करना नहीं था वरन् उन रीतियों को बताना था जिनसे राज्य शक्तिशाली बनाया जा सकता है, इसलिये उसने कोई अध्ययन की रीति नहीं अपनाई। वह अनुभव वादी ही रहा और अपने अनुभवों को ही लिखता रहा। मैक्सी का कहना ठीक है कि "इसमें छोटे धारावों में सुन्दर चुने सिद्धान्त, गूढ़ विचारों और जटिल मतों को कोई स्थान नहीं है। इसमें केवल अनुभव के वे व्यावहारिक और परीक्षित नियम हैं ऐसे नियम जो नित्यप्रति के कार्यों की प्रयोगशाला में खरे उतर चुके हैं।

अध्ययन रीति

केवल शासनतन्त्र का अध्ययन करने वाला।

अनुभववादी। इतिहास का प्रयोग पूर्व निश्चित धारणाओं की पुष्टि हेतु।

के लिये सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक संस्थायें उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पूँजीवाद का अभी अभ्युदय होना था। इसलिये इस व्यक्तिवादी धारा ने इस देश और काल में मनुष्य को नियंत्रणहीन और उग्र बना दिया था। इटली की राजनैतिक अवस्था ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और कुटनीतिज्ञता को उभार दिया था। इटली के पतन के ये सबसे बुरे दिन थे और इसका एकमात्र कारण था पोप। वह लिखता है हम इटैलियन रोम की चर्च और उसके पुजारियों के कारण ही अधार्मिक और बुरे हो गये हैं। चर्च को हम एक बात के लिये और ऋणी हैं—और यही बात हमारे विध्वंस का कारण है—कि चर्च ने हमारे देश को विभाजित रखा है और रख रही है। इटली का समाज अनैतिकता का घर था। पुरानी सामाजिक संस्थायें समाप्त हो गई थीं। निरंकुशता और हत्यायें नित्यप्रति की घटनायें थीं। बल और चालबाजी सफलता की कुँजी थी। मनुष्य स्वच्छन्द था। उसके ऊपर कोई समाज का नियंत्रण न था। इसीलिये सेबाइन मैकियावली को स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक दार्शनिक कहता है।

युग का शिशु

(१) असीमित राजतंत्र का प्रमुख।
(२) रिनासेंस की नई अध्ययन पद्धति को अपनाने वाला।
(३) रिनासेंस मनुष्य की शक्ति में विश्वास करता है मैकियावली सांसारिक ख्याति, सम्मान या यश को मनुष्य का लक्ष्य मानता है।
(४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का दार्शनिक।

(४)

मैकियावली की अध्ययन रीति

मैकियावली ऐतिहासिक रीति को अपनाता है, इसलिये उसकी कृतियों में मध्ययुगीय सन्तों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने ग्रीस और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु मैकियावली की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी कहेंगे क्योंकि उसने समकालीन राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को ही व्यक्त किया है और उनकी पुष्टि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सामने रखा है। प्राचीन संस्थाओं या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित

के लिये सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक संस्थायें उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पूँजीवाद का अभी अभ्युदय होना था। इस लिये इस व्यक्तिवादी धारा ने इस देश और काल में मनुष्य को नियंत्रणहीन और उग्र बना दिया था। इटली की राजनैतिक अवस्था ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और दुर्नीतिज्ञता को उभार दिया था। इटली के पतन के ये सबसे बुरे दिन थे और इसका एकमात्र कारण था पोप। वह लिखता है 'हम इटैलियन रोम की चर्च और उसके पुजारियों के कारण ही अधार्मिक और बुरे हो गये हैं। चर्च को हम एक बात के लिये और ऋणी हैं—और यही बात हमारे विध्वंस का कारण है—कि चर्च ने हमारे देश को विभाजित रखा है और रख रही है। इटली का समाज दुर्नीतिज्ञता का घर था। पुरानी सामाजिक संस्थायें समाप्त हो गई थीं। निर्दयता और हत्यायें नित्यप्रति की घटनायें थीं। बल और चालबाजी सफलता की कुँजी थी। मनुष्य स्वच्छन्द था। उसके ऊपर कोई समाज का नियंत्रण न था। इसीलिये सैबाइन मैकियावली को स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक दार्शनिक कहता है।

युग का शिशु

(१) असीमित राजतंत्र का इच्छुक।
(२) रिनासेंस की नई अध्ययन पद्धति को अपनाने वाला।
(३) रिनासेंस मनुष्य की शक्ति में विश्वास करता है मैकियावली सांसारिक सम्पत्ति, सम्मान या बल को मनुष्य का लक्ष्य मानता है।
(४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का दार्शनिक।

(४)

मैकियावली की अध्ययन रीति

मैकियावली ऐतिहासिक रीति को अपनाता है, इसलिये उसकी कृतियों में मध्ययुगीय सन्तों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने ग्रीस और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु मैकियावली की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी कहेंगे क्योंकि उसने समकालीन राजनैतिक परिस्थिति के सबंध में अपने अनुभवों को ही व्यक्त किया है और उनकी पुष्टि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सामने रखा है। प्राचीन संस्थाओं या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित

इस प्रकार मैकियावली के अनुसार एक बुद्धिमान शासक अपनी शासन की नीति को इस आधार पर निर्मित कर सकता है कि मनुष्य स्वभावतः बुरा है। चूँकि मनुष्य सुरक्षा चाहता है, इसलिये राजा को व्यक्ति की संपत्ति और उसके जीवन को सुरक्षित करना चाहिए उसकी औरतों से अलग रहना चाहिये। अपनी संपत्ति से मनुष्य को विशेष प्रेम है। मनुष्य अपने पिता के हत्यारे को आसानी से क्षमा कर सकता है पर उत्तराधिकार में मिली संपत्ति के अपहरण करने वाले को नहीं। इसलिये बुद्धिमान शासक व्यक्ति की हत्या भले ही कर दे पर उसकी संपत्ति को न लूटे।

मनुष्य में पाई जाने वाली प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष की भावना का उपयोग बुद्धिमान शासक राज्य को स्थायी बनाने में भी कर सकता है। क्योंकि जब दो वर्गों के बीच खिंचाव होगा तो शक्तिशाली राजा उन्हें समुचित नियंत्रण में रख उनमें संतुलन पैदा कर सकता है।

वास्तव में मैकियावली मनुष्य की प्रकृति का इस प्रकार का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करता जिस तरह हमने ऊपर दिया है। इटली के पतित समाज में रहने वाले व्यक्ति की जो चर्चा वह करता है उसके आधार पर ही हमने उसके मानव-चरित्र की धारणा बनाई है। फ्रांस और स्पेन के संबंध में लिखते हुए ही वह कहता है कि केवल असीमित सत्ताधारी राजा ही अराजकता को समाप्त कर सकता है।

मनुष्य में वह सद्भावना सामाजिकता और अच्छे गुण भी देखता है क्योंकि वह लिखता है कि जर्मनी और स्विटज़रलैंड के नागरिकों में समाज के प्रति निष्ठा है, इसलिये वहाँ गणतंत्र स्थापित हो सके हैं। पर इटली जैसे पतित समाज का उद्धार केवल निरंकुश शासक ही कर सकता है। मनुष्य के चरित्र का क्रमबद्ध अध्ययन न होने के कारण मैकियावली यह नहीं बताता कि पतित मनुष्य कैसे अच्छा बन सकता है और अच्छा मनुष्य पतित क्यों हो जाता है। मनुष्य की सामाजिकता और सद्भावना की चर्चा उसने केवल प्रसंगवश ही की है। अधिकतर उसने मनुष्य के बुरे स्वभाव पर ही बल दिया है। इस

मानव चरित्र-चित्रण इटली के पतित समाज के व्यक्तियों पर आधारित।

मनुष्य स्वार्थी इसलिये शक्ति और स्वार्थ के लिये उनमें पारस्परिक संघर्ष।

(५)

मानव-प्रकृति सम्बन्धी विचार

मैकियावली दार्शनिक नहीं था इसलिये उसने कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाये। वह केवल उन सूत्रों की चर्चा करता है, जो राजनीतिज्ञों के लिये उपयोगी होते हैं। कभी वह कुछ सिद्धान्तों को मानकर चलता है या उन्हें व्यक्त कर देता है, पर उन्हें सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। इसलिये मैकियावली की कृतियों में कोई क्रमबद्ध राजनैतिक सिद्धान्त नहीं मिलते। फिर भी मैकियावली का भविष्य के दार्शनिकों के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और मैकियावली के सूत्रों के आधार पर उन्होंने क्रमबद्ध सिद्धान्त उपस्थित किये। इसलिये हम यहाँ मैकियावली के सूत्रों का अध्ययन इन आगे आने वाले दार्शनिकों की दृष्टि से करेंगे। क्रमबद्धता का अभाव होते हुए भी मैकियावली के सूत्रों को क्रमबद्ध रूप में पढ़ना हमारे लिये विशेष हितकर होगा।

मानव-प्रकृति—

मैकियावली ने मनोवैज्ञानिक आधार पर राज्य का निर्माण नहीं किया और न मानव-प्रकृति के आधार पर ही उसने राज्य की आवश्यकता बतलाई। फिर भी मैकियावली के विचारों में यह झलक दिखाई देती है कि मानव प्रकृति की कमजोरियों के कारण ही राज्य की आवश्यकता है। मैकियावली ने मानव प्रकृति का जो चित्र खींचा है, उस आधार पर आगे चलकर हॉब्स ने हमें क्रमबद्ध सिद्धान्त दिया है।

मैकियावली इस धारणा को लेकर चला है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। वह अपनी सुरक्षा चाहता है, पर साथ ही वह अधिक से अधिक उपभोग की वस्तुएँ भी चाहता है। उसकी इच्छायें सीमित नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य की इच्छायें ही इस प्रकार की हैं कि वे सदैव दूसरों से अधिक प्राप्त करना चाहती हैं और जो कुछ प्राप्त हो चुका है, उसे सुरक्षित करने के लिये अधिक शक्ति और साधन रखना चाहती हैं। इस तरह मनुष्य सदैव ही संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता में लगा हुआ है। अराजकता की इस दशा को केवल शासक अपनी शक्ति द्वारा समाप्त कर सकता है। इसलिये शासक एक ओर जनता की सुरक्षा की भावना को संतुष्ट करता है, दूसरी ओर अपनी शक्ति की इच्छा को पूरा करता है।

का श्रेष्ठ शासक ही तो है। मैकियावली शक्ति को राजा का गुण मानता है और निर्बलता को अवगुण। इसलिये जो मनुष्य दूसरों के लिये नियम बना सकता है और समाज का गुरु बना सकता है, वही व्यक्ति समाज में सर्वोपरि है। इस प्रकार मैकियावली का संप्रभु भी सर्वोच्च शक्ति है और सब प्रकार के नैतिक, दैविक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त है। परन्तु इस बात को फिर से दुहरा देना आवश्यक है कि संप्रभुता के सिद्धान्त का विकास मैकियावली के पश्चात् बोदाँ और हाब्स ने किया है।

मध्य-युग के लेखक मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष मानते थे। इसलिये पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था इस युग में धर्म के अन्तर्गत समझी गई थी। मैकियावली धर्म और मोक्ष को लक्ष्य नहीं मानता। धर्म का अपना कोई निजी स्थान नहीं है। वह तो समाज को शक्तिशाली बनाने वाला साधन मात्र है। इसलिये जो धर्म समाज को निर्बल बनाता है वह बुरा है। चूँकि ईसाई धर्म मनुष्य को विनयशील और नम्र बनाता है इसलिये मैकियावली ईसाई-धर्म का कटु आलोचक है। उसका कहना था कि ईसाई-धर्म का मानने वाला राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। पर ईसाई धर्म का प्रयोग राजा साधन के रूप में कर सकता है। इस धर्म के द्वारा राजा लोगों को बेवकूफ बना सकता है और उनमें शांति व्यवस्था रख सकता है। इसलिए राजा को चाहिये कि प्रजा को तो सच्चा ईसाई बनाये लेकिन स्वयं ऐसा न बन जाये कि सच्ची ईसाइयत उसे खा जाय।

राजा नैतिकता और धर्म के ऊपर है इसलिये राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिये जो भी कार्य राजा करता है, उन्हें मैकियावली नैतिक मानता है। इस प्रकार के विचारों के कारण मैकियावली की बड़ी आलोचना हुई है। उसे शैतान तक कहा गया है और उसकी पुस्तक 'प्रिंस' को पूर्ण अनैतिक पुस्तक। मैकियावली ने अपनी पुस्तक कूटनीतिज्ञों के लिये लिखी है। हम आज भी देखते हैं कि संसार में जितने भी बड़े बड़े शासक हैं उन्होंने भले ही खुल्लम-खुल्ला मैकियावली के समान अनैतिक कार्यों को उचित न घोषित किया हो परन्तु व्यवहार में वे ऐसी नीतियों का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। स्पेन के राजा फर्डीनेन्ड, फ्रांस के राजा लुई और इंगलैण्ड के हेनरी अष्टम इसी प्रकार के राजा तो थे ही। हिटलर और मुसोलिनी के कारनामे मैकियावली की सलाह पर किये कारनामे मालूम पड़ते हैं। मैकियावली को कूटनीति का व्यावहारिक ज्ञान था। उसने अपने अनुभव से देखा था कि उसके समकालीन राजा इसी प्रकार

लिये मैकियावली का मनुष्य प्रकृति का विश्लेषण एकांगी ही है। मानव प्रकृति के अच्छे अंग की उसने अवहेलना ही की है।

(६)
नैतिकता और धर्म

प्लेटो और अरस्तू के समान मैकियावली नैतिकता को मनुष्य का स्वाभाविक गुण नहीं मानता। इसलिये मैकियावली के अनुसार मनुष्य सर्वांग जीवन के लिये नहीं *वरन् अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिये ही समाज बनाता* है। चूंकि केवल राजतंत्र ही भ्रष्ट मनुष्यों में सामाजिक व्यवस्था ला सकता है, इसलिये मनुष्य की अनैतिकता का परिणाम राजतंत्र है।

राजतंत्र की उत्पत्ति भय और बल इन दो शक्तियों से हुई है। राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज को शक्तिशाली बनाये। इसके लिये वह प्रत्येक साधनों का प्रयोग कर सकता है। भय प्रजा का गुण है और बल राजा का इसलिये राजा और प्रजा के कर्त्तव्य अलग अलग हैं। राज्य में व्यवस्था रखने के लिये राजा जिन विधियों और नैतिक बन्धनों को बनाता है उन्हें मानना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है परन्तु यह नैतिकता और विधियां राजा के आचरण को मर्यादित नहीं करती। राजा का उद्देश्य समाज को सुदृढ़ बनाना है, इसलिये इस लक्ष्य को प्राप्त करने में राजा जिन कार्यों को भी करता है, वे सब नैतिक हैं। इस प्रकार जो आचरण साधारण नागरिक के लिये अनैतिक हो सकते हैं वही आचरण नरेश के लिये अनैतिक नहीं कहे जा सकते यदि उनसे राज्य की शक्ति बढ़ती हो। हत्या लूटमार षड्यंत्र इत्यादि व्यक्ति के नागरिक जीवन के लिये अनैतिक हैं परन्तु यदि राज्य की शक्ति बढ़ाने के लिये राजा इनका प्रयोग करता है, तो वे सब उचित हैं। कौटिल्य और मैकियावली के विचारों में कितनी समानता है!

मैकियावली ने संप्रभु के आचरण का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं दिया। इसे तो मैकियावली के पश्चात् हाब्स ने विकसित किया है। इसलिये हाब्स के सिद्धान्तों के आधार पर ही हम मैकियावली के विचारों को स्पष्ट कर सकते हैं।

इस दृष्टि से समाज के नियम और नैतिकता का अधिष्ठाता शासक होता है। वह स्वयं इन नियमों के बन्धन से मुक्त है, क्योंकि नियमों और नैतिकता

का स्रोत शासक ही तो है। मैकियावली शक्ति को राजा का गुण मानता है, और निर्बलता को अवगुण। इसलिये जो मनुष्य दूसरों के लिये नियम बना सकता है और समाज को सुदृढ़ बना सकता है वही व्यक्ति समाज में सर्वोपरि है। इस प्रकार मैकियावली का संप्रभु भी सर्वोच्च शक्ति है और सब प्रकार के नैतिक, धैधिक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त है। परन्तु इस बात को फिर से दुहरा देना आवश्यक है कि संप्रभुता के सिद्धान्त का विकास मैकियावली के पश्चात् बोदाँ और हाब्स ने किया है।

मध्य-युग के लेखक मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष मानते थे। इसलिये पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था उस युग में धर्म के अन्तर्गत समझी गई थी। मैकियावली धर्म और मोक्ष को लक्ष्य नहीं मानता। धर्म का अपना कोई निजी स्थान नहीं है। वह तो समाज को शक्तिशाली बनाने वाला साधन मात्र है। इसलिये जो धर्म समाज को निर्बल बनाता है वह बुरा है। चूँकि ईसाई धर्म मनुष्य को विनयशील और नम्र बनाता है इसलिये मैकियावली ईसाई धर्म का कटु आलोचक है। उसका कहना था कि ईसाई धर्म का मानने वाला राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। पर ईसाई-धर्म का प्रयोग राजा साधन के रूप में कर सकता है। इस धर्म के द्वारा राजा लोगों को बेवकूफ बना सकता है और उनमें शांति व्यवस्था रख सकता है। इसलिए राजा को चाहिये कि प्रजा को तो सच्चा ईसाई बनाये लेकिन स्वयं ऐसा न बन जाये कि सच्ची ईसाइयत उसमें आ जाय।

राजा नैतिकता और धर्म के ऊपर है, इसलिये राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए जो भी कार्य राजा करता है, उन्हें मैकियावली नैतिक मानता है। इस प्रकार के विचारों के कारण मैकियावली की बड़ी आलोचना हुई है। उसे शैतान तक कहा गया है और उसकी पुस्तक 'प्रिंस' को पूर्ण अनैतिक पुस्तक। मैकियावली ने अपनी पुस्तक कूटनीतिज्ञों के लिये लिखी है। हम आज भी देखते हैं कि संसार में जितने भी बड़े बड़े शासक हैं उन्होंने भले ही खुल्लम-खुल्ला मैकियावली के समान अनैतिक कार्यों को उचित न घोषित किया हो परन्तु व्यवहार में वे ऐसी नीतियों का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। स्पेन के राजा फर्डिनेन्ड, फ्रांस के राजा लुई और इङ्गलैण्ड के हेनरी अष्टम इसी प्रकार के राजा तो थे ही। हिटलर और मुसोलिनी के कारनामे मैकियावली की दुहाई पर किए कारनामे मालूम पड़ते हैं। मैकियावली को कूटनीति का व्यावहारिक ज्ञान था। उसने अपने अनुभव से देखा था कि उसके समकालीन राजा इसी प्रकार

के अनैतिक व्यवहार कर रहे थे यहाँ तक कि नैतिकता और धर्म का प्रतीक पोप भी। इतिहास भी उसके मत की पुष्टि करता है। डिस्कोर्सेज में वह लिखता है कि 'यदि कोई कार्य मनुष्य को दोषी ठहराता है तो उस कार्य के परिणाम को उसे दोषमुक्त करना चाहिये। यदि परिणाम अच्छा है, जैसे रोमुलस के उदाहरण में (जिसने अपने भाई की हत्या की थी) तो वह दोषी नहीं ठहराया जायेगा।'

अवस्थाओं में मनुष्य परिवर्तनशील।

मानव दो रूप—शक्ति और बल प्राप्त करना।

भय प्रजा का गुण बल राजा का।

राजा द्वारा निर्मित विधियाँ और नैतिकता प्रजा के लिये हैं राजा के लिये नहीं।

धर्म शासकों का साधन मात्र है।

मैकियावली का राज्य नैतिक या अनैतिक नहीं नैतिकता से परे है।

पर मैकियावली नैतिकता और धर्म के विरुद्ध नहीं है। प्रजा के लिये ये आवश्यक गुण हैं। वह तो केवल इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है कि चूँकि राज्यों के बीच राज्यों के समुदाय में कोई सर्वमान्य नियम नहीं है, इसलिये राज्य के लिये नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि जहाँ तक राज्य का प्रश्न है, मैकियावली का सिद्धान्त न तो नैतिकतावादी (moral) है, और न अनैतिकतावादी (immoral) वरन् वह नैतिकता के प्रश्न से परे (unmoral) है।

(७)

राजा के आचरण का सिद्धान्त

प्रिन्स के अठारहवें अध्याय में मैकियावली ने उन नियमों का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार राजा को अपना आचरण करना चाहिये। उसके मतानुकूल मनुष्य में मानव और पशु दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं। मानव प्रवृत्ति कानून को मान्यता देती है, और पाशविक प्रवृत्ति बल को। राजा में ये दोनों शक्तियाँ होनी चाहिये। वह लिखता है—

यह सर्वविदित है कि राजा के लिये धर्म-विहित और पवित्र-जीवन बिताना और विश्वासघाती आचरण से बचना सराहनीय है। लेकिन

समकालीन अनुभव से मालूम होता है कि उन राजाओं ने जिनके वचन का कोई मूल्य न था और जो चालाकी और मक्कारी में सबसे आगे थे उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं जो केवल ईमानदारी में विश्वास करते रहे हैं।

'इसलिये यह जानना चाहिये कि संघर्ष करने के दो तरीके हैं—(१) नियम के अनुसार, (२) शक्ति द्वारा। पहिला तरीका मनुष्यों के लिये उपयुक्त है और दूसरा जानवरों के लिये। चूंकि पहिला तरीका अधिकतर अप्रभावी होता है, इसलिये दूसरे तरीके को अपनाना आवश्यक होता है। राजा को यह जानना चाहिये कि दोनों तरीकों को कैसे अपनाया जाय।

इसी कारण मैकियावली लिखता है कि प्राचीन काल में एकिलीस और अन्य राजाओं की शिक्षा का कार्य सैंटार शिरों को सौंपा गया था जो अर्ध मनुष्य और अर्ध पशु था। क्योंकि राजा बिना दोनों शक्तियों का ज्ञान रखे राज्य में स्थायित्व नहीं ला सकता। पशुओं में उसे सिंह और लोमड़ी के गुण होना चाहिये। शेर में शक्ति होती है और लोमड़ी में चालाकी। दोनों गुण एक दूसरे के पूरक हैं। लोमड़ी के गुण से वह शत्रुओं का पता लगा सकता है और सिंह की शक्ति से वह उनका दमन कर सकता है। जो केवल शेर ही होना जानते हैं वे सफल नहीं होते क्योंकि मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और स्वयं अपने धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता। इसलिये उसके साथ धर्मानुसार आचरण करना व्यर्थ है। इसलिये उसको दिये हुए वचन के खिलाफ काम करने के लिये लोमड़ी की धूर्तता आवश्यक है। जिसमें दिखावटीपन की क्षमता नहीं होती जो अपने वास्तविक रूप को छिपाकर नहीं रख सकता वह सफल नहीं होता। राजा को चाहिये कि वह शत्रुओं को मारकर उनके लिये आँसू बहावे।

"यह हो सकता है कि हर राजा में उपरोक्त गुणों में से हर गुण न हो। लेकिन यह बहुत जरूरी है कि दूसरे यह समझें कि वह हर गुण में प्रवीण है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि इन सारे गुणों का होना और उनका हर समय प्रयोग करना खतरे से खाली नहीं है।..........उसकी मानसिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि जब उसको आवश्यकता पड़े आप उक्त गुणों के विरुद्ध भी कार्य कर सकें। राजा को प्रयत्न करना चाहिये कि उसकी प्रजा उसे उसकी दुराचारी दुर्बल और नीच-प्रकृति का न समझे। इस प्रकार राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह सद्गुणों का गुलाम न हो जाय उनका स्वामी रहे और आवश्यकतानुसार वह सद्गुण के अनुसार या उसके विपरीत शासन करे।

राजा को किसी का विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य स्नेह और प्रेम के बन्धनों को नहीं समझता। वह तो भय के कारण ही प्रेम करता है। इसलिये राजा में प्रजा को भयभीत रखने की क्षमता होनी चाहिये। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि भय घृणा में न बदले नहीं तो राज्य व राजा दोनों का नाश हो जाता है।

राजा कार्य करने में मंत्रियों की सलाह ले सकता है, परन्तु उसे करना वही चाहिये जिसे वह ठीक समझे।

प्रजा में अपना गौरव और आतंक बनाये रखने के लिये उसे प्रजाजनों की स्त्रियों व प्रजा की सम्पत्ति से दूर रहना चाहिये। स्त्रियों पर दृष्टि डालने वाला और प्रजा की संपत्ति छीनने वाले राजा का भय नहीं रहता। प्रजा उसके विरुद्ध भड़क उठती है।

राजा को प्रजा के रीति-रिवाजों में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार हस्तक्षेप करने से विरोधी सिर उठाने लगते हैं और राजा के पक्ष वाले यदि विरुद्ध नहीं होते हैं, तो राजा का साथ देने में हिचकिचाते हैं।

सार्वजनिक मामलों में राजा को ऐसा आचरण करना चाहिये कि लोगों को यह भय रहे कि विधि भंग करने में उन्हें कठोर दंड मिलेगा।

किराये की सेना और दूसरों की सहायता पर निर्भर होना खतरनाक है। राजा को अपनी सेना का स्वयं संगठन करना चाहिये। लड़ाई में जो भी लूट का माल मिले प्रजा और सैनिकों को संतुष्ट करने के लिये उसे उदारतापूर्वक बांट देना [illegible] दंड देने [illegible] प्रिय आदेशों के अनुसार काम कराने का कार्य [illegible] आवश्यकता पड़ने पर सारा दोष [illegible] रों के [illegible]।

बात में विश्वास करते हुए
में संलग्न [illegible] लिये
बढ़ाने के

[

बना
को

प्रलोभन या बल का भय दिखला कर अपना मित्र बनाले। यदि वह किसी राज्य को जीतता है तो उसके संविधान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसे न करना चाहिये।

मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं— मानवीय और पाशविक। मानवीय प्रवृत्ति के लिए नियम आवश्यक है पाशविक के लिये बल।

राजा दोनों शक्तियों का प्रयोग करे। राजा में सिंह और लोमड़ी के गुण होना चाहिये।

धूर्तता और दिखावा राजा में आवश्यक हैं पर वह सद्गुणों का गुलाम न हो।

प्रजा की की सम्पत्ति और रीति रिवाजों से अलग रहे।

वैदेशिक मामलों में शक्ति सन्तुलन रखे और शत्रु राज्य की प्रजा को अपना मित्र बनावे।

पुरुषार्थी राजा नैतिकता अनैतिकता से परे है।

सफल राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रजा के जीवन और संपत्ति को सुरक्षित रखे। मनुष्य जीवन की अपेक्षा संपत्ति को अधिक महत्त्व देता है। इसलिये वह मृत्यु का दंड भले ही लोगों को दे और संपत्ति के अपहरण का दंड किसी को भी न दे। राजा स्वयं व्यवसाय और वाणिज्य के चक्कर में न पड़े। परन्तु राज्य को समृद्धिशाली बनाने के लिये उसे वाणिज्य व्यवसाय और कृषि का विकास करते रहना चाहिये।

जो राजा सफल होता है, उसके साधनों की नैतिकता या अनैतिकता पर कोई दृष्टिपात नहीं करता। एक दूसरे स्थान पर मैकियावली प्रारब्ध और पुरुषार्थ के सापेक्षिक महत्त्व को बताता है। भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही मनुष्य के जीवन में प्रधान शक्तियाँ हैं परन्तु पुरुषार्थी मनुष्य अपने प्रारब्ध को बदल सकता है। वह लिखता है "प्रारब्ध एक स्त्री के समान है, जो मारपीट और दुर्व्यवस्था से ही वश में रखी जा सकती है। वह लोगों की अधीनता अधिक सुगमता से स्वीकार करती है उन लोगों की तुलना में जो शत्रु बनकर उसके पास जाते हैं। स्त्रियों की भाँति वह नव जवानों की ओर अधिक आकृष्ट होती है, क्योंकि नव जवान भले बुरे में भेद नहीं करते अधिक भयावने होते हैं, और अधिक निर्भयता से उसे आज्ञा देते हैं।"

राजा को किसी का विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य स्नेह और प्रेम के बन्धनों को नहीं समझता। वह तो भय के कारण ही प्रेम करता है। इसलिये राजा में प्रजा को भयभीत रखने की क्षमता होनी चाहिये। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि भय घृणा में न बदले नहीं तो राज्य व राजा दोनों का नाश हो जाता है।

राजा कार्य करने में मंत्रियों की सलाह ले सकता है परन्तु उसे करना वही चाहिये जिसे वह ठीक समझे।

प्रजा में अपना गौरव और आतंक बनाये रखने के लिये उसे प्रजावर्ग की स्त्रियों व प्रजा की सम्पत्ति से दूर रहना चाहिये। स्त्रियों पर दृष्टि डालने वाला और प्रजा की संपत्ति छीनने वाले राजा का भय नहीं रहता। प्रजा इनके विरुद्ध भड़क उठती है।

राजा को प्रजा के रीति-रिवाजों में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार हस्तक्षेप करने से विरोधी सिर उठाने लगाते हैं और राजा के पक्ष वाले यदि विरुद्ध नहीं होते हैं, तो राजा का साथ देने में हिचकिचाते हैं।

सार्वजनिक मामलों में राजा को ऐसा आचरण करना चाहिये कि लोगों को यह भय रहे कि विधि भंग करने में उन्हें कठोर दंड मिलेगा।

किराये की सेना और दूसरों की सहायता पर निर्भर होना खतरनाक है। राजा को अपनी सेना का स्वयं संगठन करना चाहिये। लड़ाई में जो भी लूट का माल मिले प्रजा और सैनिकों को संतुष्ट करने के लिये उसे उदारतापूर्वक बाँट देना आवश्यक है। दंड देने और अप्रिय आदेशों के अनुसार काम कराने का कार्य अफसरों द्वारा होना चाहिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर सारा दोष अफसरों के सिर मढ़ा जा सके।

खाली दिमाग शैतान का घर होता है, इस बात में विश्वास करते हुए राजा को चाहिये कि शांति काल में प्रजा को कार्य में संलग्न करने के लिये बड़ी बड़ी विकास योजनायें बनाये राज्य की जनसंख्या बढ़ाने का प्रयत्न करे जिसमें सैनिकों का अभाव न हो पाये।

वैदेशिक मामलों में उसे ऐसी नीति अपनानी चाहिये कि शक्ति संतुलन बना रहे और कोई पड़ोसी राज्य उससे अधिक बलवान न रहे। पड़ोसी राज्य को जीतने की अपेक्षा यह अधिक उचित है कि शत्रु राज्य की प्रजा को आर्थिक

प्रलोभन या बल का भय दिखला कर अपना मित्र बनावे। यदि वह किसी राज्य को जीतता है तो उसके संविधान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसे न करना चाहिये।

मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं— मानवीय और पाशविक मानवीय प्रवृत्ति के लिये नियम आवश्यक है पाशविक के लिये बल।

राजा दोनों शक्तियों का प्रयोग करे। राजा में सिंह और लोमड़ी के गुण होना चाहिये।

क्रूरता और दिखावट राजा में आवश्यक है वह सद्गुणों का गुलाम न हो।

प्रजा की की सम्पत्ति और रीति रिवाजों से प्रसन्न रहे।

वैदेशिक मामलों में शक्ति संतुलन रखे और शत्रु राज्य की प्रजा को अपना मित्र बनावे।

पुरुषार्थी राजा नैतिकता-अनैतिकता से परे है।

सफल राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रजा के जीवन और संपत्ति को सुरक्षित रखे। मनुष्य जीवन की अपेक्षा संपत्ति को अधिक महत्त्व देता है। इसलिये वह मृत्यु का दंड बहुत कम लोगों को दे और संपत्ति के अपहरण का दंड किसी को भी न दे। राजा स्वयं व्यवसाय और वाणिज्य के चक्कर में न पड़े। परन्तु राज्य को समृद्धिशाली बनाने के लिये उसे वाणिज्य व्यवसाय और कृषि का विकास करते रहना चाहिये।

जो राजा सफल होता है उसके कामों की नैतिकता या अनैतिकता पर कोई इतिहास नहीं करता। एक दूसरे स्थल पर मैकियावली प्रारब्ध और पुरुषार्थ के सापेक्षिक महत्त्व को बताता है। भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही मनुष्य के जीवन में प्रधान शक्तियाँ हैं परन्तु पुरुषार्थी मनुष्य अपने प्रारब्ध को बदल सकता है। वह लिखता है "प्रारब्ध एक स्त्री के समान है जो मारपीट और दुर्व्यवहार से ही वश में रखी जा सकती है। वह लोगों की अधीनता अधिक सुगमता से स्वीकार करती है, उन लोगों की तुलना में जो शत्रु बनकर उसके पास जाते हैं। स्त्रियों की भांति वह नव जवानों की ओर अधिक आकृष्ट होती है, क्योंकि नव जवान भले बुरे में भेद नहीं करते अधिक भयावने होते हैं, और अधिक निर्भयता से उसे आदेश देते हैं।

(८)

मैकियावली के अन्य सिद्धान्त

डिसकोर्सेज में मैकियावली गणतंत्र की चर्चा करता है और उसे अधिक स्थायी सरकार मानता है। उसका कहना है कि जो लोग भ्रष्ट नहीं हैं, उनमें अधिक गुण होते हैं—और उनका राज्य राजतंत्र से अच्छा होता है। इसमें संदेह नहीं कि गणतंत्र जटिल समस्याओं पर दूरदर्शिता नहीं दिखला सकते क्योंकि मजिस्ट्रेटों के चरित्र को समझने में वे अधिक बुद्धिमान होते हैं। परन्तु भ्रष्ट लोगों के लिये राजतंत्र ही उपयुक्त है, और निर्वाचित राजतंत्र आनुवंशिक राजतंत्र से अच्छा है। राजतंत्र को उचित बनाने के लिये राजा को चाहिये कि वह अधिक से अधिक लोगों को शासन तंत्र में भाग लेने का अवसर दे। वह सामंतवाद के विरुद्ध है—क्योंकि सामंतों के हित राजतंत्र और मध्यम वर्ग दोनों के विरुद्ध होते हैं।

प्रत्येक राज्य का लक्षण यह है कि वह नित्य विकास करता रहे। स्थायी राज्य पतनोन्मुखी होता है। ध्यान रखने की बात है कि जहाँ कौटिल्य राज्य की तीन अवस्थायें मानता है— वृद्धि स्थान और क्षय वहाँ मैकियावली राज्य की केवल दो ही अवस्था मानता है— विकास और क्षय की। उसका कहना यह था कि मानव जीवन गतिशील है, कोई भी वस्तु स्थायी नहीं रह सकती या तो वह उन्नति की ओर बढ़ती है या अवनति की ओर। जो राज्य स्थायित्व के आधार पर संगठित होते हैं, वे पतनोन्मुखी हुए बिना रह नहीं सकते। इस कारण एथेन्स और स्पार्टा के राज्यों को वह सफल नहीं मानता था। चूँकि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के स्वार्थ साधन के लिये हुई है इसलिये यह आवश्यक है कि राजा शांतिप्रिय न होकर अपने प्रसार के लिये प्रयत्न करे।

(१) गणतंत्र राजतंत्र से अच्छा पर भ्रष्ट लोगों में राजतंत्र ही उपयुक्त।

(२) राज्य उन्नति करता है या अवनति इसलिये स्थायित्व पतनोन्मुखी होता है।

वास्तव में मैकियावली के ये विचार उसकी राष्ट्रीयता की भावना के कारण हैं। वह इटली को महान बनाना चाहता था और उसमें एकता स्थापित करना चाहता था।

(६)

मैकियावली का स्थान

मैकियावली को बहुत से लोग आधुनिक काल का प्रथम राजनीतिज्ञ मानते हैं परन्तु आधुनिक युग को जन्म देने का श्रेय जितना रिनासेन्स को है उतना ही लूथर द्वारा चलाये गये सुधार आन्दोलन को। सुधार आंदोलन मैकियावली की मृत्यु के पश्चात् आरम्भ हुए और उन्होंने धर्म नैतिक विचार, नई सामाजिक मर्यादाओं को समाज में वह स्थान दिया जिसे हम आधुनिक काल में देखते हैं। इसलिए मैकियावली को मध्य काल का अंतिम विचारक कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें संदेह नहीं कि उसने उन विचारों की नींव डाली जिनके आधार पर आधुनिक युग के विचारों का निर्माण होना था।

मैकियावली के निम्नलिखित विचार महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) उसने नई ऐतिहासिक और अनुभववाद की रीति प्रारंभ की जिसका प्रयोग अरस्तू के बाद बंद हो चुका था और जिसके आधार पर आधुनिक राजशास्त्र का जन्म हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि उसकी ऐतिहासिक रीति त्रुटिपूर्ण है। वह इतिहास के आधार पर मत नहीं निकालता किसी निश्चित मत पर पहुँचकर इतिहास की सहायता से उसकी पुष्टि करता है। परन्तु त्रुटिपूर्ण होते हुए भी उसने भविष्य के दार्शनिकों को नया रास्ता दिखलाया।

(२) मैकियावली ने राजनीति का धर्म से पूर्णरूपेण मुक्त कर दिया। मध्य युग में धर्म का उच्च स्थान था। परन्तु मैकियावली ने धर्म को राजनीति की नग्नता का मापक मात्र माना। वह इतना स्वच्छन्दवादी था कि वह पुराने धर्मवाद की नींव को हिला गया। ये उसके विचारों के कारण ही है कि यूरोप में इस युग के पश्चात् लोग एकाएक धर्मवाद को छोड़कर विवेकवाद की ओर चल पड़े।

(१) अनुभववादी रीति का प्रारम्भ करने वाला।

(३) धर्म और राजनीति का पृथक्करण।

(४) राष्ट्रीय राज्य और साम्राज्यवाद का प्रतिपादन।

(२) उसने राजनीति और नीति का पृथक्करण भी किया है। राज्य नैतिकता और धर्मनिरपेक्षता से परे संस्था है। इस प्रकार उसने ट्रीट्स्के के विचारों

के लिये सामग्री प्रदान की। वैयक्तिक जीवन में नीति की आवश्यकता है, परन्तु राज्य के लिये नीति की आवश्यकता नहीं।

(४) मैकियावली ने राष्ट्रवादी भावना का स्वप्न देखा था और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के महत्व को समझ सका था। साथ ही वह साम्राज्यवाद का भी समर्थक था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मैकियावली प्रथम व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। उसने अपनी कृतियाँ संकटकाल में लिखी थीं और राजनीतिज्ञ भले ही स्पष्ट रूप से स्वीकार न करें पर संसार के सभी राजनीतिज्ञों ने संकट काल में मैकियावली की रीतियों और परामर्श का अनुकरण किया है। वह आधुनिक राजनीति का जन्मदाता कहा जा सकता है। उसके मानव स्वभाव संबंधी सिद्धान्त के आधार पर अन्य लेखकों ने अपनी रचनायें कीं। उसके अनुभववाद का पोषण लॉक ह्यूम बेंथम मिल आदि ने किया। उसकी विधि-संबंधी धारणा को हॉब्स ने दार्शनिक रूप देकर प्रतिपादित किया।

(१०)

मैकियावली और कौटिल्य

मैकियावली के विचारों की विवेचना करते समय हमने कुछ स्थलों पर कौटिल्य की भी चर्चा की है। कौटिल्य को पूर्व का मैकियावली कहा गया है क्योंकि इन दोनों के विचारों में बहुत कुछ समानता है।

प्रिन्स में मैकियावली नये राज्यों को जीतने और राज्य को सुदृढ़ बनाने की चर्चा भी करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का भी यही विषय है जैसा कि अर्थशास्त्र की परिभाषा से विदित होता है। दोनों ही राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिये हत्या शत्रु को विष देना आतंक फैलाना जालसाजी धोखेबाजी आदि साधनों को आवश्यक समझते हैं और इन्हें अपनाने का शासकों को परामर्श देते हैं। दोनों ही कूटनीतिज्ञ थे और दोनों की पुस्तकें अनुभवों पर लिखी गई हैं। दोनों की अध्ययन रीति भी एक ही है क्योंकि वे अपने पूर्व निश्चय और मत को ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट करते हैं। दोनों ने ही धर्म को राज्य सुदृढ़ बनाने का साधन बताया है।

परन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों में भिन्नता है। मैकियावली राजनीति में नये युग का प्रवर्तक है। उसने राज्य शासन में मध्य-युग के

अध्याय को समाप्त कर नवीन युग के अध्याय को प्रारंभ किया है। परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के साहित्य में नवीन धारा नहीं चलाता। वह उसी क्रम का लेखक है, जिस क्रम में पुराने और उसके पश्चात् आने वाले अर्थशास्त्री थे। मैकियावली की तुलना में कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपने क्षेत्र में अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें राज्य के संगठन विभिन्न कर्मचारियों के कार्य और अन्तर्राष्ट्रीय संबंध की विशद विवेचना हुई है। मैकियावली में इस प्रकार की क्रमबद्धता नहीं मिलती और न उसका क्षेत्र ही उतना व्यापक है। तीसरे मैकियावली का शासक पूर्ण निरंकुश है वह नैतिकता और विधियों का स्रोत है वह मंत्रियों की उपेक्षा कर सकता है। परन्तु कौटिल्य के राजा पर नैतिकता और धर्म का अंकुश है। धार्मिक पुस्तकों में दिये गये वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाये रखना ही उसका लक्ष्य है। मंत्रियों की मंत्रणा लेना उसके लिये आवश्यक है। इस लिये जहाँ मैकियावली धर्म को केवल साधन मानता है वहाँ कौटिल्य साध्य। मैकियावली के अनुसार राजा में बल होना चाहिये शेर और लोमड़ी के गुण होना चाहिये। कौटिल्य के मत में राजा को सिद्धान्ततः अर्थात् आचरण करने वाला होना चाहिये।

मैकियावली और कौटिल्य

समानता—

(१) शासनतन्त्र का अध्ययन।
(२) राज्य को शक्तिशाली बनाना व राज्य का विस्तार पुस्तकों की विषय वस्तु।
(३) अध्ययन रीति।
(४) साधन की अपेक्षा साध्य महत्वपूर्ण।

भिन्नता—

(१) कौटिल्य नये युग का प्रवर्तक नहीं है।
(२) अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक।
(३) कौटिल्य का राजा सीमित सत्ताधारी है।
(४) कौटिल्य धर्म को साध्य मानता है।
(५) राजा को सिद्धान्ततः अच्छे आचरण वाला होना चाहिये।

इस तरह कौटिल्य और मैकियावली में काफी अंतर है। उनमें जो समानता दिखती है वह ऊपरी है, वास्तविक नहीं।

रूसो

(१७१२–१७७८)

(१) रूसो का जीवन।
(२) रूसो के समय तक राजनीतिक विचार।
(३) रूसो के विचारों का विकासक्रम।
(४) मानव प्रकृति और स्वतन्त्रता का अर्थ।
(५) सामाजिक समझौते की परम्परा और स्वीकृति सिद्धान्त।
(६) सामाजिक समझौता।
(७) सामान्य इच्छा।
(८) संप्रभुता।
(९) रूसो की देन।

(१)
रूसो का जीवन

रूसो का जन्म १७१२ में जिनेवा के नगरांचल में हुआ था। उसकी माँ की मृत्यु उसके प्रसव-काल में ही हो गई इसलिये उसके भरण-पोषण का भार उसके गरीब-पिता पर पड़ा। परन्तु पिता में उत्तरदायित्व की भावना न थी इसलिये उसने रूसो की शिक्षा की कोई व्यवस्था न की। रूसो जब दस वर्ष का था तो उसका पिता अपने एक संबंधी के निकट रूसो को छोड़ जान बचाने के लिये जिनेवा से भाग निकला। रूसो तीन वर्ष तक एक शिल्पकार के नीचे काम सीखता रहा जहाँ उसने चोरी करने और झूठ बोलने के अलावा कुछ न सीखा। एक दिन मालिक के डर से वह भी जिनेवा छोड़कर भाग गया और आवारागर्दी का जीवन बिताने लगा। वह दर-दर भटकता रहा, और उसका

कोई ठिकाना न लगा। १७४९ में उसके भाग्य का सितारा चमकना शुरू हुआ। डिजान की एकेडेमी ने सर्वोत्तम निबंध पर पुरस्कार घोषित किया। निबंध का विषय था क्या विज्ञान और कलाओं की उन्नति ने नैतिकता को भ्रष्ट या विशुद्ध करने में योग दिया है। रूसो जीवन की कटुता देख चुका था और समाज के विरुद्ध विद्रोही बन चुका था। उसने निबंध में लिखा कि विज्ञान और कलाओं ने मनुष्य का नैतिक पतन किया है, इसलिये यदि उसे अपना सरल और सुखी जीवन प्राप्त करना है—तो उसे प्राकृतिक जीवन अपनाना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ निबंध होने के कारण पुरस्कार रूसो को मिला। साथ ही इस निबंध ने समाज के विरुद्ध एक नई धारा पैदा कर दी।

१७५४ में एकेडेमी के पुरस्कार के लिए उसने दूसरा निबन्ध लिखा जिसका विषय था "असमानता की उत्पत्ति और उसकी आधारशिला। इस लेख में रूसो ने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि निजी सम्पत्ति असमानता की जड़ है। जिन्होंने सम्पत्ति पर आधिपत्य कर लिया है, उनकी सुरक्षा के लिए ही राज्य का जन्म हुआ है। वह लिखता है वह प्रथम व्यक्ति जिसने एक भू-भाग पर अधिकार जमाकर यह कहना प्रारम्भ किया कि यह मेरी भूमि है और उसकी इस बात को अन्य मूर्खों ने स्वीकार कर लिया वह व्यक्ति ही राज्य का संस्थापक है। गरीब यह सोचते हैं कि राज्य भूमि-स्वामियों से उनकी रक्षा करने के लिए है, परन्तु कुछ दिनों में ही वे राज्य के वास्तविक रूप को समझ लेते हैं लेकिन शक्ति-शाली राज्य के विरुद्ध युद्ध कर नहीं सकते। १७५५ में रूसो ने इनसाइक्लोपीडिया के लिए राजनीति पर एक निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' के कई विचार मिलते हैं। सोशल कान्ट्रेक्ट १७६२ में लिखी गई। उसी वर्ष 'एमिली' भी प्रकाशित हुई। सोशल कान्ट्रेक्ट ने उसको ख्याति सर्वदा के लिए स्थायी कर दी। बन्दी बनाए जाने के डर से वह फ्रांस को छोड़कर इंग्लैंड चला गया। इन दिनों रूसो अपना मानसिक सन्तुलन खो चुका था। १७७८ में वह इंग्लैंड छोड़कर फ्रांस गया जहां उसकी मृत्यु हो गई।

रूसो की कृतियाँ

(१) डिसकोर्स ऑन आर्ट्स एंड साइंस (१७४९)।
(२) ऑन दि ओरिजिन एंड फाउन्डेशन ऑफ इनईक्वलिटी (१७५४)।
(३) सोशल कान्ट्रेक्ट (१७६२)।

रूसो फ्रांस की क्रांति का जन्मदाता समझा जाता है। उसकी रचनाओं

का प्रभाव साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। लास्की के शब्दों में वह आधुनिक युग के उन चार-पाँच व्यक्तियों में है, जिन्होंने मनुष्य के विचारों को सबसे अधिक प्रभावित किया है।

(२)

मैकियावली से रूसो तक राजनैतिक दर्शन

रूसो के विचारों को समझने के लिए हमें रूसो के पूर्व के राजनैतिक दर्शन पर दृष्टि डालना आवश्यक है। मैकियावली के समय में हमें जिन राष्ट्रीय राज्य असीमित राजतंत्र और संप्रभुता के विचारों का सूत्रपात मिलता है उनका पूर्ण विकास हाब्स के राजदर्शन में हम पाते हैं। मैकियावली ने मनुष्य को स्वार्थी लोभी और अहंवादी बताया था। इसलिए सामाजिक अराजकता समाप्त करने के लिए उसने राज्य को उपयोगी संस्था माना था। हाब्स ने भी मानव प्रकृति के आधार पर राज्य का निर्माण किया है और यह विचार रखा था कि प्राकृतिक अवस्था के संघर्षमय जीवन से बचने के लिए मनुष्य ने आपस में समझौता करके असीमित संप्रभु की अवधारणा की है। परन्तु हाब्स के समय में ही असीमित राज्य-तंत्र के विरुद्ध आवाज उठने लगी थी और इङ्गलैंड में पार्लियामेंट और राजा के बीच युद्ध भी हुआ था जिसमें पार्लियामेंट विजयी हुई थी।

१६८८ की राज्य क्रांति में यह स्पष्ट हो गया था कि राजा के अधिकार सीमित हैं और उसका पद मनुष्यों के जन्मजात अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए बनाया गया है। १६८८ की राज्य क्रांति की विचारधारा को दार्शनिक रूप देने का श्रेय लाक को है जिसके विचारों का सार था कि मनुष्य के कुछ जन्मजात अधिकार होते हैं। ये जन्मजात अधिकार जिन्हें वह प्राकृतिक अधिकार कहता है, मनुष्य के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से सम्बन्धित हैं। इन अधिकारों के कारण मनुष्य का प्राकृतिक जीवन भी सुखी था और इस प्राकृतिक अवस्था में भी सामाजिक जीवन था। परन्तु कुछ असुविधाओं के कारण लोगों ने समझौता करके इन प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए सरकार बनाई। जो सरकार इन अधिकारों को सुरक्षित नहीं करती उसे जनता पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार लॉक के सिद्धान्त में व्यक्तिवादी विचारधारा प्रारम्भ हुई। लॉक के अनुसार—

(१) व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं जिन्हें राज्य को मान्यता देनी चाहिए।

(२) राज्य व्यक्ति की स्वीकृति पर आधारित है।

(३) राज्य का कार्य केवल प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करना है।

इस प्रकार लॉक के पश्चात् आने वाले व्यक्तिवादी दर्शन में यह धारणा दृढ़ होती गई कि राज्य केवल एक उपयोगी संस्था है और उसका मूल्य केवल इस तथ्य से ही आंका जा सकता है कि वह कहाँ तक अपने सदस्यों को संतोष और सुख देता है। राज्य सार्वभौमिक वैयक्तिक स्वार्थ भावना पर बना है। उसका काम जीवन स्वतंत्रता और संपत्ति को सुरक्षित करना है। उसका स्वयं में अपना कोई मूल्य नहीं है।

(१) हॉब्स ने शक्तिशाली राज्य और असीमित राज सत्ता का सिद्धान्त दिया।
(२) लॉक का दर्शन व्यक्तिवादी है अतः वह सीमित राजतंत्र के पक्ष में है।
(३) हॉब्स और लॉक दोनों ही राज्य को मनुष्य की स्वीकृति पर आधारित मानते हैं, दोनों ही राज्य को केवल उपयोगी संस्था मानते हैं।

व्यक्तिवादी धारा ने वाल्टेयर, दिदरो की कृतियों में यह रूप लिया कि सारा समाज और सामाजिक संस्थायें और पूरी सभ्यता मनुष्य के पतन का कारण है। रूसो के प्रारंभिक निबंध भी इसी विचारधारा को लेकर लिखे गये थे। परन्तु रूसो की ये कृतियां आलोचनात्मक ही हैं और उसके सोशल कान्ट्रैक्ट जैसी प्रौढ़ रचना के लिये कुछ भूमि प्रदान करती हैं, क्योंकि इस प्रौढ़ रचना में ही वह अपने रचनात्मक विचार रखता है।

(२)

रूसो के विचारों का विकास-क्रम

मैक्सी का कहना है कि रूसो के राजनैतिक विचारों को हम तभी समझ सकते हैं जब उन्हें विरोधी और इच्छा पूर्ति के रूप में देखें।[1]

---

1 "The political thought of Rousseau make sense only when viewed as protest and wish fulfilment."

प्रारंभिक काल में यह चुनौती स्पष्ट रूप से दिखाई देती है क्योंकि कला और विज्ञान के निबंध में वह स्पष्ट रूप से लिखता है कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा होता है पर सामाजिक संस्थाओं ने उसका पतन किया है। इसलिये इस निबंध में उसका ध्येय स्पष्ट है, हमें फिर से वही अज्ञानता भोलापन और गरीबी दे दो। केवल यही हमें सुखी बना सकती है। रूसो इस प्रकार इन सामाजिक बन्धनों को छोड़कर प्राकृतिक अवस्था को अपनाना चाहता है, क्योंकि उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वतंत्र था सुखी था ईमानदार था। मूल प्रवृत्तियों से उसका जीवन संचालित होता था, उसकी इच्छायें सीमित थी और प्रकृति उसकी इच्छाओं को पूरा कर देती थी। उसे धन-संचय करने की आवश्यकता न थी और न अपनी इच्छाओं से अधिक संपत्ति जोड़ने की। उनमें न व्यापार था न प्रतिद्वन्द्विता न झूठ और न अनैतिकता। सभी मनुष्य समान थे स्वतंत्र थे क्योंकि संपत्ति न होने से असमानता हो ही नहीं सकती थी और किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर आधिपत्य भी न था।

प्राकृतिक अवस्था यदि इतनी अच्छी थी तो फिर समाज कैसे बना? और यह सामाजिक अवस्था कैसे आई? रूसो इस परिवर्तन को इस प्रकार समझाता है। वह लिखता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि और कुशलता में असमान है। इसलिये जो शक्तिशाली चतुर, परिश्रमी, स्वार्थी और क्रूर थे उन्होंने संपत्ति अर्जित करने की योजनायें बनाई सम्पत्ति अर्जित कर ली और अन्य लोगों को अपने आधिपत्य में करना शुरू किया। फिर इन लोगों ने भोले भाले गरीबों को धोखा देकर उनके सहयोग से राज्य निर्माण किया। राज्य बनाते समय उन्होंने लोगों से कहा कि गरीबों को सुरक्षित, आततायियों को नियंत्रित करने और प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित भाग देने के लिये राज्य बनाया जा रहा है। पर वास्तव में यह बात ठीक न थी। राज्य धनवानों के हितों को सुरक्षित करने को बना है। राज्य ने गरीबों और अमीरों के दो वर्ग बना दिये हैं, समाज में असमानता ला दी है, और गरीबों को बन्धन में बांध दिया है। इस प्रकार समाज और नियम का प्रादुर्भाव हुआ जिसने गरीबों को नई बेड़ियों से बांधा, धनवानों को नई शक्तियां दी, जिसने हमेशा के लिये प्राकृतिक स्वतंत्रता समाप्त कर दी सदैव के लिये संपत्ति और असमानता के नियम बना दिये, चालाकी से प्राप्त आधिपत्य को अपरिवर्तनशील अधिकारों।

में बदल दिया गया और कुछ अभिमानी व्यक्तियों के हित के लिए अन्य सभी व्यक्ति दासवत परिश्रम, दासता और दुरवस्था में बँध गये।

इस प्रकार रूसो की प्रारंभिक कृतियों का मूलभाव था प्रकृतिवादी रूसो। वह आज की सामाजिक संस्थाओं को चुनौती देता है।

परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में उसने यह अनुभव किया कि समाज और सभ्यता को छोड़कर फिर से प्राकृतिक जीवन पाना असंभव है। इसलिये सोशल कान्ट्रैक्ट में उसने उस समाज का निर्माण किया है, जिसमें व्यक्ति फिर से प्राकृतिक जीवन के वरदान को प्राप्त कर सके और आज के समाजों के अभिशाप से मुक्त हो सके जिसमें असमानता न हो जिसमें शासन की शक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण सामंजस्य हो। चूँकि किसी व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति पर कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है चूँकि विजय व बल द्वारा अधिकारों का निर्माण नहीं होता इसलिये समाज का अधिकार उसी समय न्यायोचित हो सकता है, जब समाज समझौते पर आधारित हो। इस समझौते के द्वारा सभी व्यक्ति शासन में भाग लें। इस प्रकार वह नये समाज का संगठन सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर करता है और कहता है कि समाज द्वारा बनाये नियमों में चूँकि प्रत्येक मनुष्य का हाथ होगा इसलिये वह अपनी इच्छा से नियमों का पालन करेगा। उसके कर्तव्य नैतिक कर्तव्य होंगे और समाज में रहकर ही व्यक्ति समानता और स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेगा।

विचारों का विकास क्रम

(१) प्रारंभिक कृतियों में वह प्राकृतिक अवस्था के गुण गान करता है और समाज तथा राज्य को मनुष्य के पतन का कारण मानता है।

(२) सोशल कान्ट्रैक्ट में वह एक आदर्श समाज का संगठन करने का प्रयास करता है जिसमें मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की स्वतंत्रता और समानता प्राप्त कर सके।

प्रारंभिक कृतियों में वह व्यक्तिवादी है और तात्कालिक समाजों का कटु आलोचक।

अन्तिम कृति में वह सामाजिक संस्था को व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता के लिये आवश्यक मानता है इसलिये वह समाज का पुजारी है।

जहाँ डिसकोर्स आन इनइक्वलिटी में हम रूसो में उग्र व्यक्तिवाद पाते हैं और समाज की अवहेलना वहीं उतना ही उग्र समाजवाद हम सोशल-कान्ट्रैक्ट

मे पाते हैं। प्रारंभिक वर्षों की रचनाओं में वह वास्तविक समाजों का आलोचक है। फ्रांस के समाज में उसने भ्रष्टाचार देखा था इसलिये इन वास्तविक समाजों को ध्यान में रखते हुए ही उसने समाज को मनुष्य का नैतिक पतन करने वाला बताया है। परन्तु सोशल-कान्ट्रैक्ट में वह आदर्श समाज का चित्रण करता है। वह उस समाज का निर्माण करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग कर सके। इसलिये यदि प्रारंभिक कृतियों में वह समाज का क्रूर शत्रु दिखाई देता है, तो वह समकालीन वास्तविक समाजों का क्रूर-शत्रु था। सोशल कान्ट्रैक्ट में वह उस योजना को देता है, जिसके अनुसार समाज का संगठन होना चाहिये।

यदि हम रूसो के इन दो दृष्टिकोणों को समझ लें तो हम रूसो की कृतियों में कोई विरोध न पायेंगे। बर्क ने फ्रांस की क्रांति पर लिखते हुए क्रांतिकारियों पर उग्र व्यक्तिवाद का दोषारोपण किया है। क्रांति के अंतिम वर्षों में वह दूसरी धारा पाता है, जिसमें व्यक्ति को तिलांजलि दे दी गई थी और राज्य ही उसके लिये सब कुछ था। दोनों प्रकार के आरोपों के लिये वह रूसो को ही दोषी ठहराता है। वाहन भी रूसो की कृतियों में एक ओर उग्र व्यक्तिवाद (Defiant individualism) और दूसरी ओर उतना ही उग्र समाजवाद (Equally defiant individualism) पाता है। परन्तु रूसो ने अपनी आत्मकथा 'कनफेशन्स' में यह कहीं व्यक्त नहीं किया कि उसने कभी किसी विरोधी भावना का अनुभव किया है। इसके विपरीत वह लिखता है कि सोशल-कान्ट्रैक्ट का प्रत्येक विचार डिसकोर्स आन इनईक्वलिटी में व्यक्त कर दिया गया है। सोशल कान्ट्रैक्ट में भी वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिकता का पोषक है। परन्तु प्लेटो और अरस्तू के समान वह इस बात में विश्वास करता है कि मनुष्य समाज में रहकर ही स्वतंत्रता और सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है।

रूसो के विचारों का स्रोत—

रूसो ने बचपन में प्लूटार्क के जीवन चरित्र और प्लेटो की कृतियों का अध्ययन किया था। हाब्स और लाक की कृतियों से भी उसकी जानकारी थी। हाब्स और लाक का जितना प्रभाव उस पर था उतना ही यूनानी दर्शन और संस्थाओं का भी। इसलिये एक ओर तो वह वैयक्तिक स्वतंत्रता का पुजारी है और दूसरी ओर सामाजिक जीवन का। यदि एक ओर वह लाक का उत्तरा-

विचारी है तो दूसरी ओर प्लेटो का। लाक का दर्शन व्यक्तिवादी है, और वह राज्य को केवल व्यक्तियों के हित का साधन मानता है। रूसो भी प्रारंभिक कृतियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता व समानता का पोषक होने के कारण व्यक्तिवादी था। परन्तु सोशल कान्ट्रैक्ट में वह समाज को महानता देता है, और इस बात में विश्वास करता है कि समाज में ही व्यक्ति नैतिकता और स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। इस विचारधारा पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट है। प्लेटो ने रूसो को व्यक्तिवाद से छुटकारा दिलाया इस लिये प्लेटो के प्रभाव से उसने फिर समाज की प्रतिष्ठा की और प्राचीन राजनैतिक दर्शन को प्रारम्भ किया। प्लेटो के विचारों का मुख्य तत्व यह था कि राजनैतिक पराधीनता पूर्णतः नैतिक है। समुदाय नैतिक बनाने वाली संस्था है।

विचारों का स्रोत

लाक— व्यक्तिवादी दर्शन स्वीकृति सिद्धान्त जनप्रभुता।

प्लेटो—समाज ही व्यक्ति को सर्वोत्तम या नैतिक जीवन दे सकता है।

हाब्स से उसने संप्रभुता की धारणा ली और लाक से यह विचार लिया कि वास्तविक शक्ति जनता के हाथ में है। इस प्रकार दोनों धारणाओं को मिलाकर उसने जन प्रभुत्व की धारणा स्थापित की। मार्ले (Morley) यह कहकर उसके सिद्धान्त को अच्छी तरह व्यक्त करता है कि उसका सिद्धान्त 'हाब्स की मनोवृत्ति और विचारधारा तथा लाक के निष्कर्ष का विचित्र सम्मिश्रण है।'[1] उसका सम्प्रभु उतना ही शक्तिशाली है, जितना हाब्स का लेवायथन, परन्तु उसका सम्प्रभु जनता है।

(४)

मानव-प्रकृति और स्वतन्त्रता

स्वप्रेम और सहानुभूति—

रूसो के विचारों को समझने के लिये हमें उसके मानव प्रकृति संबन्धी विचार समझना चाहिये। रूसो के अनुसार मनुष्य में दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं—स्वप्रेम अर्थात स्वरक्षा, और दूसरी सहानुभूति अर्थात् पारस्परिक सहायता की

1 It is a curious fusion between the premises and the temper of Hobbes and the conclusion of Locke."

प्रवृत्ति। स्वरक्षा की मूल-प्रवृत्ति उसे अपनी रक्षा करने के लिए चिंतित करती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपने जीवन को सुरक्षित रख सका है। सहानुभूति की प्रवृत्ति के द्वारा वह समाज में रहकर एक दूसरे की सहायता करता है। यदि यह दूसरी प्रवृत्ति न होती तो मनुष्य में प्रतिद्वन्द्विता होती और जीवन संग्राम में वह अपने अस्तित्व को नष्ट कर देता। सहानुभूति की प्रवृत्ति पर ही कुटुम्ब बना है। इस मूल प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य स्वाभावतः अच्छा है और दूसरों के साथ रहने में सुख पाता है।

अन्तः चेतना—

परन्तु कभी कभी स्वप्रेम और सहानुभूति की मूल प्रवृत्तियों में संघर्ष की आशंका हो सकती है इसलिये इनके संघर्ष को मिटाने के लिये मनुष्य में अंतः चेतना (Conscience) होती है जो मनुष्य को अच्छे कार्यों को करने के लिये प्रेरित करती है।

विवेक—

जब मनुष्य का जीवन जटिल हो जाता है तो अन्तः चेतना उचित अनुचित अच्छाई-बुराई में भेद नहीं कर पाती क्योंकि अन्तः चेतना तो केवल प्रेरणा है जो मनुष्य को सही रास्ते को अपनाने और बुरे रास्ते से बचा करने को प्रेरित करती है। वह अच्छे और बुरे का भेद नहीं बता सकती अच्छाई और बुराई का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए मनुष्य में विवेक का जन्म होता है। विवेक मनुष्य को यह बताता है कि अच्छा क्या है और कैसे क्या करना चाहिये ? परन्तु सही रास्ते को अपनाने का काम चेतना का होता है विवेक का नहीं। इस प्रकार विवेक पथ-प्रदर्शन करता है और विवेक के निर्देशन पर चेतना नैतिक जीवन की सृष्टि करती है। इस तरह चेतना और विवेक के द्वारा मनुष्य की दोनों प्रवृत्तियों में समन्वय होता है। इसलिये प्राकृतिक मनुष्य वह है, जिसमें

मानव प्रकृति

मूल प्रवृत्तियाँ—

स्वप्रेम—स्वरक्षा

सहानुभूति—सामाजिकता

अन्तःचेतना—अच्छे कार्यों की ओर ले जाने वाली शक्ति;

विवेक—अच्छे बुरे का ज्ञान।

इसलिये श्रेष्ठ मनुष्य वह है जिसमें विवेक और अन्तःचेतना द्वारा मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियों का उचित समन्वय होता है।

समाज में भी विवेकपूर्ण नियमों द्वारा मनुष्य का संचालन होता है। इसलिये समाज में ही व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है।

चेतना और विवेक ने मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का समन्वय किया है। यहाँ रूसो भी प्राकृतिक शब्द का प्रयोग अरस्तू के समान सर्वश्रेष्ठ के लिये करता है।

मनुष्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये समाज आवश्यक है। समाज में वह विधियों और कर्त्तव्यों से परिचित हो जाता है, और वह ऐसा कार्य नहीं करता जो उसकी स्वेच्छा द्वारा संचालित हों। इसलिये समाज में ही उसे नैतिक स्वतन्त्रता मिल सकती है। तब मनुष्य अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ क्यों नहीं बनाता उसका लक्ष्य पूरा क्यों नहीं होता?

वास्तविक समाज—

इस प्रश्न के उत्तर में हमें रूसो के वास्तविक समाज के प्रति घृणा का कारण मिल जाता है। वह लिखता है कि मनुष्य का स्वप्रेम जो वास्तव में उसकी आवश्यकता पूरा करने के लिये है गर्व बन जाता है और यह गर्व उसकी सहानुभूति के साथ मेल नहीं खाता। स्वप्रेम उसकी सीमित आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु जब वह अपनी आवश्यकताओं से अधिक अपने पड़ोसी के हिस्से को भी हथियाना चाहता है, तो गर्व का उदय हो जाता है। यह गर्व उसकी सहानुभूति के साथ मेल नहीं खाता क्योंकि इस गर्व के द्वारा वह दूसरे को लज्जित करने की कोशिश करता है और अपनी लालसाओं को बढ़ाता है। इस गर्व ने ही मनुष्य को बिगाड़ा है। इसी ने ही उसके स्वभाव के चारों ओर संस्कृति का निर्माण किया है।

वास्तविक समाजों में स्वप्रेम और सहानुभूति का उचित सामञ्जस्य नहीं होता। स्वप्रेम तीव्र होता है वह गर्व का रूप लेता है जिसमें सहानुभूति को तिलांजलि दे दी जाती है।

प्रारम्भिक कृतियों में समाज और सभ्यताओं के उदय का कारण रूसो इसी गर्व को बताता है कि इसी गर्व के कारण ही कुछ व्यक्ति समाज की रचना कर अपना हित साधन करते हैं और समाज से प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता और समानता समाप्त हो जाती है। मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव विकृत हो जाता है। समाज अप्राकृतिक मनुष्य बनाता है इसीलिये रूसो का कहना है—'प्राकृतिक बनो'[1] (Back to

---

१ चूँकि मनुष्य समाज नहीं छोड़ सकता इसलिये यह प्राकृतिक अवस्था उसकी प्रौढ़ कृति में राज्य के पूर्व की अवस्था नहीं है। प्राकृतिक अवस्था नई सामाजिक व्यवस्था होगी इसलिये यह समाज की पूर्ववर्ती नहीं उत्तरवर्ती अवस्था है।

nature)। यदि मनुष्य को पतित होने से बचना है तो उसे कर्म त्याग देना चाहिये और केवल स्वप्रेम से ही सन्तोष करना चाहिये जो उसका प्राकृतिक स्वभाव है।

स्वतन्त्रता का अर्थ—

मनुष्य का दूसरा गुण है स्वतन्त्रता। मनुष्य केवल विवेक और चेतना से ही सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त नहीं कर सकता है, जब तक मनुष्य को अपना रास्ता बनाने और कार्य करने की स्वतन्त्रता न हो। परन्तु स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नहीं है। जंगली असभ्य लोगों और जानवरों में भी मनचाहे कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु इसे स्वच्छन्दता (Independence) कहना उचित होगा क्योंकि वे प्राणी अपनी इच्छा और स्वेच्छा के दास होते हैं। केवल इच्छानुसार कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्रता कहते हैं। कर्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना समाज के नियमों के अन्तर्गत होती है, इसलिये इसे हम नागरिक स्वतन्त्रता कहते हैं।

स्वतंत्रता का अर्थ है कर्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित हो कर काम करना।

विवेक के अनुसार कार्य करने से नैतिक स्वतन्त्रता (सर्वश्रेष्ठ जीवन) मिलती है।

नागरिक स्वतन्त्रता के ऊपर भी नैतिक स्वतन्त्रता होती है। यह उस समय प्राप्त होती है जब व्यक्ति विवेक से कार्य करता है जब वह इच्छाओं का नहीं विवेक का गुलाम होता है। इसी के द्वारा ही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है।

(५)

सामाजिक समझौते की परंपरा और स्वीकृति सिद्धान्त

हाब्स आदि सामाजिक समझौते के विचारकों ने राज्य को समझौते का परिणाम माना है। उनके अनुसार प्रारम्भ में समाज नहीं था और मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। प्राकृतिक अवस्थाओं में कुछ असुविधायें थीं इसलिये लोगों ने आपस में समझौता कर हाब्स के अनुसार प्रथम समाज और राज्य, और लॉक के अनुसार सरकार का निर्माण किया।

रूसो ने भी सामाजिक समझौते की शब्दावली को अपनाया है। जिसकोर्स में उसने प्राकृतिक अवस्था का भी चित्रण किया है। चूँकि वह प्राकृतिक अवस्था को आज के वास्तविक समाजों से अच्छा मानता है, इसलिये उसकी प्राकृतिक अवस्था में किसी प्रकार की असुविधा न थी इसलिये प्रारंभिक कृतियों में वह सामाजिक समझौते की या समाज बनाने की चर्चा नहीं करता। पर सोशल कान्ट्रैक्ट में वह एक आदर्श समाज का गठन करता है, क्योंकि अब उसका यह विश्वास हो गया था कि नैतिकता का विकास समाज में ही संभव है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है, इसलिये उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। बल के ऊपर आधारित राज्य या अन्य कोई राज्य जिसमें उसकी स्वीकृति नहीं है, नैतिक राज्य नहीं हो सकता क्योंकि केवल अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार कार्य करना और संस्थायें बनाना ही नैतिक कार्य हो सकता है। इसलिये वह राज्य के निर्माण के लिये सामाजिक समझौते को आवश्यक समझता है। वह लिखता है :

चूँकि किसी आदमी के पास अपने साथी पर कोई प्राकृतिक सत्ता नहीं है और बल से अधिकार नहीं बन सकते इसलिये हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिये कि समझौता ही मनुष्यों के बीच न्यायोचित सत्ता का आधार है।"[1]

परन्तु क्या समझौते के द्वारा व्यक्ति अपने सारे अधिकार को केवल जीवन सुरक्षा के लिये किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप सकता है, जैसा हाब्स ने किया है ? यह तो मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध होगा। क्योंकि कोई भी मनुष्य केवल सुरक्षा के लिये अपनी नैतिक स्वतन्त्रता न खोना चाहेगा।

लॉक ने समाज के निर्माण करने और सामाजिक सत्ता का प्रयोग करने में स्वीकृति की आवश्यकता मानी है, परन्तु उसने इस स्वीकृति के सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या नहीं की। लॉक के अनुसार प्रथम राज्य बनाने में सबकी स्वीकृति (मौखिक या मूक) ली जाती है, परन्तु समाज का कार्य चलाने के लिए बहुसंख्यक लोगों की स्वीकृति काफी है।

रूसो लॉक के इस स्वीकृति सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं है। उसके अनुसार समाज का कार्य उसी समय नैतिक हो सकता है जब हर कार्य में प्रत्येक

1 "Since no man has a natural authority over his fellow and force creates no right, we must conclude that convention form the basis of all legitimate authority among men."

व्यक्ति की हर समय स्वीकृति रहे। यह सोचना कि बहुसंख्यक लोगों की स्वीकृति से काम चल सकता है, ठीक नहीं क्योंकि बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों पर उतना ही दुराचार कर सकते हैं या उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सकते हैं, जितना कोई एक मनुष्य सब मनुष्यों के विरुद्ध।

राज्य तभी नैतिक हो सकता है जब उसमें व्यक्ति की स्वीकृति हो।

पर यह स्वीकृति प्रत्येक व्यक्ति की हर कदम पर होना चाहिये।

रूसो की समस्या—

इस प्रकार रूसो के सामने यह समस्या थी कि राज्य का संगठन किस प्रकार हो

(१) जिसमें सभी व्यक्तियों की स्वीकृति न केवल राज्य की प्रथम स्थापना के समय हो वरन् राज्य के प्रत्येक कार्य में हर कदम पर हो

(२) जिसमें मनुष्य अपने विवेक के अनुसार कार्य कर नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके

(३) जिसमें वह किसी का दास न हो, वरन् अपनी बौद्धिक इच्छा के अनुसार ही कार्य करे, या दूसरे शब्दों में जहां उसकी इच्छा और राज्य की इच्छा एक हो जहां राज्य के नियम उसके बनाये नियम हों जहां राज्य की इच्छा उसके विवेक की इच्छा हो।

इस प्रकार रूसो के शब्दों में प्रथम समझौते का उद्देश्य था 'समुदाय के ऐसे रूप को प्राप्त करना जो अपने पूरे सामूहिक बल द्वारा प्रत्येक समुदाय बनाने वाले व्यक्ति के जीवन और माल की सुरक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ मिलकर उतना ही स्वतंत्र रहे, जितना पहिले।'[1]

इस तरह रूसो राज्य में प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान परिस्थितियां रखना चाहता है, प्रत्येक के नैतिक विकास और हित की रक्षा करना चाहता है, जिसमें वह इच्छाओं का गुलाम न रहकर कर्तव्य की पुकार सुन सके।

---

1 To find a form of association which may defend and protect *with the whole force of the community the person* and property of every associate and by means of which each, combining with all may nevertheless obey only himself and remain as free as before."

(६)

रूसो का सामाजिक समझौता

रूसो राज्य को एक सावयव मानता है, इसलिये यह हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि व्यक्ति समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि सावयव होने के कारण राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसके निर्माणकारी तत्व (मनुष्य) समझौते के आधार पर उसकी रचना नहीं कर सकते। लेकिन उसने राज्य के स्वरूप को समझाने के लिए ही सामाजिक समझौते की कल्पना को अपनाया है। चूंकि वह यह मानता है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति आवश्यक है, इसलिये वह अपने समय में प्रचलित सामाजिक समझौते को अपनाता है। इसलिये यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह समझौता न कभी हुआ है, न कभी होगा। समझौते के तथ्य केवल राज्य की प्रकृति को व्यक्त करने के लिये हैं।

सामाजिक समझौता ऐसा हो जिसमें—
(१) प्रत्येक की स्वीकृति हो (हर समय)
(२) जिसमें व्यक्ति अपने विवेक की आज्ञा माने और सदैव स्वतन्त्र रहे।

रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता इन शब्दों में हुआ है, "हममें से प्रत्येक अपना व्यक्तित्व और अपनी सारी शक्तियाँ सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत समूह को दे देते हैं और इस प्रकार समुदाय के सदस्य होने के नाते—पूर्णता का अंग होकर—हम फिर वह शक्ति पा लेते हैं।"[1] इस प्रकार प्रत्येक समझौता करने वाली वैयक्तिक इकाई के स्थान पर हम समुदाय निर्माण करके एक नैतिक और सामूहिक संस्था बना सके हैं। यह सामूहिकता एक नई इकाई एक सामूहिक व्यक्तित्व सामूहिक जीवन और सामूहिक इच्छा है।

रूसो का सामाजिक समझौता राज्य के स्वरूप को व्यक्त करता है राज्य की उत्पत्ति को नहीं।

सामाजिक समझौता नैतिक सावयव को जन्म देता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल सामान्य इच्छा को अपने सब अधिकार देता है।

1 "each of us puts his person and all his power in common under the supreme direction of the general will, and in our corporate capacity we receive each member as an indivisible part of the whole."

इस प्रकार हम देखते हैं कि

(१) समुदाय और राज्य के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी स्वीकृति दी है

(२) सभी व्यक्तियों के मेल से एक नई सामाजिक इकाई बनी है, जिसे हम सावयव कह सकते हैं

(३) इस सावयव की अपनी निजी इच्छा है, जिसे हम सामान्य इच्छा कहते हैं। सामान्य इच्छा वैयक्तिक इच्छाओं का समूह मात्र नहीं है। यह सबके हित की—विवेक की—इच्छा है

(४) इस सावयव (सार्वभौमिक व्यक्ति) की इच्छा से नियम बनते हैं जिन्हें हम विवेक के नियम कहेंगे

(५) इन नियमों के पालन करने से ही मनुष्य को न्याय और स्वतंत्रता मिलती है, क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ है, विवेक के अनुसार कार्य करना।

इस समझौते में हम निम्नलिखित विशेषतायें पाते हैं :

(१) प्रत्येक सदस्य अपने सब अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को नहीं वरन् पूरे समुदाय को देते हैं। और चूंकि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से वे अधिकार समवाय को देता है इसलिये (अ) समझौते में सबके लिये समान परिस्थितियां हैं (ब) इस समझौते के द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को अन्य व्यक्तियों पर सत्ता नहीं मिलती इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने को सबको देते हुए, किसी को नहीं देता।[1]

( ) जो अधिकार वह खोता भी है वही अधिकार वह दूसरों पर प्राप्त भी करता है इसलिये उसके लिये लाभ व हानि बराबर है। पर इस समझौते के द्वारा उसे बिना किसी मूल्य के अपना हित साधन करने के लिये सामाजिक बल मिल जाता है।

(३) यह एक पारस्परिक समझौता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के अनुसार सामान्य हित के लिये एक दूसरे से बंध जाता है।

(४) चूंकि सामान्य इच्छा विवेक की इच्छा है व्यक्ति की सर्वोत्तम इच्छा है, इसलिये इस समझौते के द्वारा व्यक्ति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। उसके कार्य अब मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित न होकर विवेक द्वारा समाज के

1 "each giving himself to all gives himself to none."

प्रति कर्तव्य की भावना द्वारा चलते हैं। इसलिये वह स्वच्छन्दता के स्थान पर नैतिक स्वतंत्रता पाता है, भौतिक इच्छाओं के स्थान पर कर्तव्य की पुकार सुनता है। वह विवेक की सलाह मानकर काम करने को बाध्य होता है।

(५) राज्य एक सावयव है, उसके पास सर्वोच्च शक्ति है। सब की भलाई के लिये प्रत्येक अंग को संचालित करने के लिये उसके पास सर्वोच्च शक्ति चाहिये।[2]

(६) चूंकि कर्तव्य की भावना या जनहित में कार्य करना ही स्वतंत्रता है इसलिये जब राज्य मनुष्य को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार नहीं वरन् जनहित के लिये कार्य करने को बाध्य करेगा तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होने के लिये बाध्य किया जायेगा। इसलिये इस असीमित शक्ति से व्यक्ति का दमन नहीं होगा। मनुष्य स्वच्छन्दता खोयेगा नैतिक स्वतंत्रता नहीं।

(७) इस प्रकार रूसो के अनुसार राज्य बल पर नहीं स्वीकृति पर आधारित है।

मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है

रूसो के राजनैतिक दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात् ही हम सोशल कान्ट्रक्ट के प्रसिद्ध प्रथम वाक्य का अर्थ समझ सकते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है लेकिन वह हर जगह बंधन में है (Man is born free; however he is everywhere in chains) यह वाक्य सोशल कान्ट्रक्ट के प्रथम प्रारम्भ में भी लिखा गया था जब रूसो वास्तविक सरकारों और सभ्यता की बुराई बताने में लगा हुआ था। उस समय इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट था कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है परन्तु समाज और रीतिरिवाजों ने उसे बंदी बना दिया है। परन्तु सोशल कान्ट्रक्ट के अंतिम प्रारूप में जब उसका उद्देश्य आदर्श समाज की रचना है, उस समय भी यह वाक्य ज्यों का त्यों पाया है। इस दृष्टिकोण से इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि मनुष्य स्वतंत्रता के लिये पैदा हुआ है (और वह स्वतंत्र तभी है, जब वह इस नैतिक समुदाय का अंग बनकर या विवेक के अनुसार कार्य करता है) लेकिन वह बंधनों में जकड़ा है

---

2. "If the State is a moral person whose life is in the union of its members, and if the most important of its cares is the care for its own preservation it must have a universal and compelling force in order to move and dispose each part as may be most advantageous to the whole"

(क्योंकि बहुत सी वास्तविक सरकारें इस पर आधारित हैं, सामान्य इच्छा पर नहीं)' सच्ची स्वतंत्रता तभी है, जब मनुष्य विधि और नियम को अपने ही विवेक की इच्छा समझकर स्वीकार करते हैं।

(७)

सामान्य इच्छा

रूसो अपने सामाजिक समझौते के द्वारा सारे अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं वरन् सामान्य इच्छा को देता है इसलिये हमें सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

मनुष्य के कुछ सार्वजनिक हित होते हैं जिसे पूरा करने के लिये ही मनुष्य समुदायों में रहता है। यह सार्वजनिक हित 'सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति' है इस प्रकार मनुष्य के सार्वजनिक हित या समुदाय का उद्देश्य नैतिक उद्देश्य होता है और इन नैतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिये ही मनुष्य समाज में रहता है। सर्वश्रेष्ठ जीवन को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है—परन्तु मनुष्य में कुछ अपनी निजी इच्छायें भी होती हैं जो पूरे समाज की नहीं वरन् व्यक्ति विशेष की आवश्यकताओं से संबन्धित होती हैं। इन इच्छाओं का केन्द्र मनुष्य होता है। ये व्यक्ति के अहम् और स्वार्थ से संबन्धित होती हैं।

इस प्रकार मनुष्य की दो इच्छायें हैं, एक स्वयं से संबंधित और दूसरी सार्वजनिक हित से संबंधित। जब मनुष्य सार्वजनिक हित में ही अपना हित देखता है या दूसरे शब्दों में जब मनुष्य की इच्छा सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिये होती है तब उस निजी स्वार्थ-साधन की इच्छा और सार्वजनिक हित साधन की इच्छा में कोई संघर्ष नहीं होता। परन्तु जब सार्वजनिक हित और मनुष्य के हित में विरोध होता है तो इन दो इच्छाओं का अलग अलग होना स्पष्ट दिखाई देता है।

सर्वश्रेष्ठ जीवन से संबंधित मनुष्य की इच्छा उसकी सच्ची इच्छा है (real will) है, और उसके स्वार्थ से संबंधित इच्छा उसकी वास्तविक इच्छा (actual will) है।

मनुष्य की इन दो प्रकार की इच्छाओं के अन्तर को समझने के पश्चात् हम सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझ सकते हैं। सामान्य इच्छा सब लोगों के

सार्वजनिक हित की इच्छा है। वह समुदाय में पाये जाने वाले व्यक्तियों की इच्छा का योग नहीं है। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक समुदाय में दस व्यक्ति हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति में दो इच्छायें होती हैं, इसलिये सबकी इच्छाओं का योग बीस हुआ। पर इन बीस में स्वार्थ की इच्छा भी मिली है इसलिये यदि हम स्वार्थ की इच्छाओं को निकाल दें तो वह सार्वजनिक हित की इच्छा होगी। इसे हम एक दूसरे सूत्र के द्वारा भी समझ सकते हैं।

(सबकी इच्छा—सबके स्वार्थ की इच्छा)—सामान्य इच्छा

चूँकि सार्वजनिक हित या सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हमारे विवेक की इच्छा है, इसलिए सामान्य इच्छा को हम विवेक की इच्छा भी कह सकते हैं। इस तरह एक ही मनुष्य की विवेक की इच्छा यदि वह पूरे सामाजिक कल्याण में अपना कल्याण देखता है, सामान्य इच्छा कही जा सकती है। समाज में जहाँ सभी व्यक्ति एक दूसरे के संपर्क में आते हैं और किसी विषय पर अपनी सामूहिक इच्छा बनाते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की स्वार्थी इच्छा केवल उसी व्यक्ति से संबंधित होने के कारण दूसरे व्यक्ति की इच्छा से कट जाती है, और इस तरह समूह की इच्छा में केवल सार्वजनिक हित की इच्छा ही रह जाती है। इसी कारण समुदाय की विवेकशील इच्छा को रूसो ने सामान्य इच्छा कहा है। भारतीय परम्परा के अनुसार भी हम सामान्य इच्छा को पंच परमेश्वर कहते हैं। पंचों का न्याय पाँच व्यक्ति के समुदाय का न्याय है जिसमें किसी व्यक्ति का निजी स्वार्थ नहीं होता। इसलिये पंचों का निर्णय विवेक का निर्णय है, सबके हित का निर्णय है, परमेश्वर का निर्णय है।

रूसो सबकी इच्छा और सामान्य इच्छा में अन्तर मानता है। सबकी इच्छा वैयक्तिक हितों का समूह-मात्र है। वह समुदाय के प्रत्येक सदस्य के केवल निजी हित को सामने रखती है। इसमें कोई सामान्य गुण नहीं है और न वे सार्वजनिक हित को सामने रखती है—इसलिए सबकी इच्छा व्यक्ति की इच्छाओं का केवल समूह-मात्र है। उनमें हमें कोई एकता—आवयवी एकता नहीं मिलती, जो सामान्य इच्छा में हमें दिखाई देती है।

ग्रीन कहता है कि सबकी इच्छा और सामान्य इच्छा तथा वास्तविक इच्छा और सच्ची इच्छा में अन्तर मानना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि सबकी

हित को पूरा करने के लिये कुछ प्रयत्न की आवश्यकता होती है, बलिदान की आवश्यकता होती है, शक्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु स्वार्थी या क्षणिक हित मनुष्य को कमजोर बनाता है, और अधिकतर मनुष्य इसी के अनुसार काम करते हैं। सामान्य इच्छा को चुनौती देना अपने सच्चे हित के विरुद्ध कार्य करना है अपनी सच्ची इच्छा की उपेक्षा करना है। हमारी नैतिक स्वतंत्रता अपनी सच्ची इच्छा या सामान्य इच्छा के अनुसार काम करने में है। इसलिये जब मनुष्य अपनी सच्ची इच्छा के विरुद्ध जाता हो तो सामान्य इच्छा (राज्य) उसे दंड देती है, जिसमें वह सही रास्ते पर आ जाय और अपनी सच्ची इच्छा को माने तथा सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। इस प्रकार रूसो के अनुसार राज्य में मनुष्य स्वतंत्र होने के लिये बाध्य किया जाता है।

सामान्य इच्छा पूरे समुदाय की इच्छा है। ध्यान रखने की बात है कि यह सामान्य इच्छा केवल व्यक्तियों की इच्छाओं का समूह-मात्र नहीं। व्यक्तियों के पारस्परिक मेल से ही इस नई इच्छा का जन्म होता है, इसलिये सामान्य इच्छा समुदाय बनाने वाले व्यक्तियों की इच्छा से परे और स्वतंत्र है। यह नई, नैतिक और व्यक्तियों से स्वतंत्र इच्छा राज्य की इच्छा है। इस प्रकार सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य का नया सामवय उत्पन्न होता है, जिसकी अपनी निजी इच्छा सामान्य इच्छा है। इस प्रकार सामान्य इच्छा पूरे समुदाय को एकता में बाँधती है। विवेकपूर्ण होने के कारण यह पूरे समुदाय को विवेक पूर्ण बनाती है।

सामान्य इच्छा सार्वजनिक हित साधन की इच्छा है, विवेक की इच्छा है।

यह पूरे समुदाय को एकता में बाँधती है।

इसके द्वारा मनुष्य को
(१) मूल प्रवृत्तियों के स्थान पर विवेक का शासन प्राप्त होता है
(२) शक्ति के स्थान पर अधिकार मिलता है
(३) स्वच्छन्दता के स्थान पर स्वतन्त्रता मिलती है।

सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझने के पश्चात् ही हम रूसो का यह कथन समझ सकते हैं कि सामाजिक समझौते द्वारा मनुष्य के जीवन और उसके व्यवहार में एक बड़ा परिवर्तन आ जाता है। रूसो लिखता है,

प्राकृतिक अवस्था से राजनैतिक अवस्था का परिवर्तन मनुष्य में बड़ा भारी अंतर ला देता है क्योंकि—

(१) मनुष्य राज्य में अपनी मूल प्रवृत्तियों द्वारा नहीं विवेक द्वारा शासित होता है।

(२) उसमें कर्तव्य की भावना जागृत हो जाती है और वह मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर नहीं समझ बूझकर कर्तव्य की पुकार सुनकर कार्य करता है, इसलिये अब मनुष्य का प्रत्येक कार्य नैतिक होता है।

(३) सामाजिक समझौते से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वच्छन्दता और प्रत्येक वस्तु को हड़प करने की असीमित सत्ता को खो देता है। इस स्वच्छन्दता के बदले में उसे मिलती है—नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात् कर्तव्य भावना और उत्तरदायित्व से प्रेरित होकर काम करने की प्रेरणा। उसे मिलती है स्वतन्त्रता, अर्थात् अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की परिस्थिति। इच्छाओं में बह जाना गुलामी है पर जिन नियमों को हम स्वयं बनाते हैं उनकी आधीनता स्वतन्त्रता है।

(८)

संप्रभुता

संप्रभुता का सिद्धान्त राष्ट्रीय राज्यों के साथ ही विकसित हुआ था। हाब्स ने सबसे पहिले संप्रभुता के उन लक्षणों को बताया था जिन्हें हम आज भी स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार संप्रभु की शक्ति असीमित अदेय अविभाज्य और सार्वभौमिक होती है। परन्तु हाब्स के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में व्यक्ति अपनी सारी शक्ति एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को देता है और वह शासक वर्ग प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इसलिये हाब्स में संप्रभु शक्ति निरंकुश राजा के हाथ में है प्रजा के हाथ में नहीं।

लाक ने हाब्स के सिद्धान्त में संशोधन किया और सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में रखी परन्तु लाक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में जनता इस शक्ति का उपयोग निरंतर नहीं करती।

रूसो लाक की जनप्रभुता और हाब्स की असीमित सत्ता का मेल करता है। अर्नेस्ट राइस (Earnest Rhys) लिखता है कि, 'रूसो हाब्स की निरंकुश

सत्ता और लाक की जन-स्वीकृति को जन संप्रभुता के दार्शनिक सिद्धान्त में मिलाता है।[1]

हाब्स के अनुसार समाज का संगठन संप्रभु पर निर्भर है। उसके हटते ही समाज समाप्त हो जाता है, और व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जाता है। सामाजिक समझौते की शर्त के अनुसार व्यक्ति अपना सब कुछ, सब अधिकार, और अपनी इच्छा भी संप्रभु को दे देते हैं। इस तरह हाब्स का संप्रभु जनता द्वारा स्थापित तो होता है, परन्तु जनता के पास अपनी कोई शक्ति नहीं रहती। संप्रभु सर्वशक्तिमान हो जाता है, उसके पास असीमित सत्ता है।

लाक हाब्स के सिद्धान्त में संशोधन करता है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते पर आधारित राज्य जनता के हित के लिये, और जनता की स्वीकृति पर बना है। यदि सरकार जनहित को पूरा नहीं करती तो वह पदच्युत की जा सकती है। समझौते की शर्तों के अनुसार व्यक्ति अपने अधिकारों का केवल एक भाग ही सरकार को समर्पित करते हैं—इस उद्देश्य से कि उनके शेष अधिकार सुरक्षित रह सकें। इस प्रकार लॉक द्वारा बनाई गई सरकार सीमित और अस्थायी है। एक सीमा तक लॉक सर्वोच्च सत्ता और सरकार में भिन्नता मानता है।

हाब्स इस अन्तर को नहीं मानता। लॉक ने सरकार की स्थापना इस उद्देश्य से अवश्य की है कि वह जनता के हित में शासन करेगी। परन्तु यदि सरकार इस प्रकार शासन नहीं करती तो सिवा विद्रोह के उसे हटाने के लिये लाक और कोई युक्ति नहीं बताता। वह तो यह भी मानकर चलता है कि जब तक विद्रोह नहीं होता सरकार के कार्य में जनता की स्वीकृति निहित समझी जायेगी। इसलिये यद्यपि जनता के पास में अंतिम शक्ति है, परन्तु वह निष्क्रिय रूप में पड़ी रहती है। सरकार जब बहुत अधिक अपने कर्तव्य से च्युत होने लगेगी तभी यह सुप्त जन संप्रभु क्रियात्मक जागेगा।

लॉक से भिन्न रूसो जन-संप्रभुता को निरंतर कार्य में करने वाली शक्ति बताता है और हाब्स से भिन्न रूसो की जनता संप्रभु नहीं बनाती, वरन् समझौते के द्वारा स्वयं संप्रभु हो जाती है, और निरंतर इस शक्ति का प्रयोग करती है।

---

1 "Rousseau unites the absolute sovereignty of Hobbes and the popular consent of Locke into the philosophical doctrine of popular sovereignty"

रूसो के अनुसार सम्प्रभु शक्ति अदेय है। लोग अपने शासनाधिकार को दूसरों को हस्तान्तरित नहीं कर सकते। सरकार उनकी एजेण्ट है, जिसे संप्रभु ने कुछ अधिकार दे दिये हैं। सरकार और उसके अधिकार जन-सम्प्रभु की इच्छानुसार अन्त सकते हैं। उनकी सामान्य इच्छा संप्रभु होने के कारण न तो लॉक की तरह सुप्त सम्प्रभु है और न हाब्स के संप्रभु की तरह सार्वजनिक कल्याण और व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा करने वाला। सामान्य इच्छा निरपेक्ष संप्रभु है। यह अविभाज्य है।

रूसो सरकार और संप्रभु को भिन्न भिन्न मानता है। क्योंकि यदि दोनों एक साथ लिये जांय तो सरकार संप्रभु बनकर निरंकुश हो सकती है। रूसो के अनुसार संप्रभु के पास असीमित सत्ता है, सरकार के पास नहीं। वह तो केवल जनता की एजण्ट मात्र है। कोल लिखता है कि सरकार और सम्प्रभु को अलग अलग रखकर वह हाब्स के निष्कर्षों से बच जाता है साथ ही लाक की मूक-स्वीकृति के स्थान पर रूसो समय-समय पर सरकार से सक्रिय समझौता कराता है।[1] जहां लाक जनता की शक्तियों और अधिकारों द्वारा सरकार की शक्ति सीमित करता है, और जनता की शक्ति को केवल समय पर काम आने वाली निधि मानता है, वहां रूसो जनता को सभी शक्तियों का स्रोत मानता है। सरकार सामान्य इच्छा की एजेन्ट है, सम्प्रभु नहीं। केवल सामान्य इच्छा में ही संप्रभुता के सभी गुण—निरपेक्षता, अदेयता, अविभाज्यता और असीमता पाये जाते हैं। यही सरकार को नियुक्त और पदच्युत करती है। यह स्वयं सदैव सक्रिय शक्ति है। लार्ड का कहना है, कि "लाक जनता के हस्तक्षेप को संविधान की अंतिम दवाई मानता है। रूसो के लिये यह प्रतिदिन का भोजन है। यह सरकार को कभी पदच्युत कर सकती है।

रूसो का सम्प्रभु में हाब्स की निरपेक्षता और लॉक की जनसम्प्रभुता मिलती है।

रूसो का संप्रभु शक्ति असीमित अदेय अविभाज्य और स्थायी है।

सरकार संप्रभु की एजण्ट मात्र है।

---

1 "It is by keeping the two conception separate that he avoids the conclusions of Hobbes. On the other hand for Lockes theory of tacit consent Rousseau substituted an active agreement periodically renewed." —*Cole*

चूँकि सम्प्रभु शक्ति पूरे जन-समूह को है इस कारण रूसो प्रतिनिधि सरकार को उचित नहीं मानता। चूँकि इच्छा अदेय है, इस कारण प्रतिनिधि सरकार को संप्रभुता नहीं मिल सकती। रूसो इङ्गलैंड की प्रतिनिधि सरकार का विरोधी था। उसका कहना था कि केवल पाँचवे वर्ष चुनाव के अवसर को छोड़कर इंग्लैंड की जनता कभी स्वतंत्र नहीं है।

(६)

रूसो का स्थान

रूसो का राजनैतिक सिद्धान्त केवल छोटे नगर राज्यों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि केवल इन्हीं राज्यों में जनता संप्रभु हो सकती है। रूसो के सिद्धान्त को राष्ट्रीय राज्यों मे लागू करना कठिन है। जिन राष्ट्रवादियों ने रूसो के विचारों को राष्ट्र पर लादने का प्रयत्न किया है, उन्होंने निरंकुशवाद को जन्म दिया है, क्योंकि ये लोग यह मानने लगते हैं कि शासक वर्ग सामान्य इच्छा को व्यक्त करता है, और उसकी आज्ञा मानने म ही लोग स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते हैं। ध्यान रखने की बात है कि राष्ट्रीय राज्यों मे सारी जनता शासक-वर्ग नहीं बन सकती। रूसो क अनुसार राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति आवश्यक है। इसलिये रूसो पूर्ण प्रजातंत्र का जन्मदाता है। पर जिन लोगों ने रूसो क सिद्धान्त को राष्ट्रीय राज्यों पर लागू किया है, उन्होंने प्रजातंत्र के स्थान पर, निरंकुशवाद को जन्म दिया है इसलिये इसम आश्चर्य की बात नहीं कि आधुनिक काल म रूसो एक ओर तो प्रजातंत्र का जन्मदाता है, और दूसरी ओर तानाशाही का। बीसवीं शताब्दी में हिटलर और मुसोलिनी के राजनैतिक सिद्धान्त रूसो की सामान्य इच्छा से प्रेरणा लेते हैं। दूसरी ओर प्रजातंत्र की स्वतंत्रता की भावनायें व्यक्ति की महत्ता कांट और ग्रीन का राजनैतिक दर्शन का स्रोत भी रूसो का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य को स्वतंत्र रहना चाहिये और मनुष्य की स्वतंत्र नैतिक इच्छा ही सब कुछ है।

रूसो तानाशाही और प्रजातंत्र का जनक इसी कारण है कि एक ओर तो उसने समाज को नैतिक इकाई माना है दूसरी ओर वह मनुष्य की नैतिकता पर जोर देता है। समाज में रहकर ही मनुष्य नैतिकता का उपभोग कर सकता है। इसलिये वह अरस्तू के विचारों को कि मनुष्य राजनैतिक प्राणी है, फिर

से प्रतिष्ठित करता है। साथ ही वह प्लेटो के विचारों को भी दुहराता है कि राज्य के अधीन होना नीति का विषय है, विधि का नहीं। राज्य की अधीनता में ही व्यक्ति सर्वोत्कृष्ट जीवन प्राप्त कर सकता है, इस कारण प्लेटो की भाँति वह सावयवी सिद्धान्त मानने वाला है।

पर रूसो व्यक्तिवादी है। क्योंकि व्यक्ति ही साध्य है, साधन नहीं। एमिली में जो भी शिक्षा सिद्धान्त रूसो देता है उसका उद्देश्य है—वैयक्तिकता का विकास। न्यूहेलायस नामक पुस्तक में रूसो का एक चरित्र यह कहता है "मनुष्य इतनी उच्च प्रकृति का होता है कि उसे दूसरों का साधन नहीं बनाया जा सकता। इस कारण मनुष्य का उपयोग हम बिना उसकी स्वीकृति के दूसरों के हित में नहीं कर सकते। एक व्यक्ति की भलाई के लिये दूसरों को नुकसान पहुँचाना अनुचित है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देता है—तो वह स्वयं मनुष्यत्व को त्यागता है।"

(१) रूसो ने अरस्तू के इस विचार को कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है फिर से स्थापित किया।
(२) रूसो पूर्ण प्रजातन्त्र और तानाशाही दोनों का जनक है।
(३) सावयवी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए भी उसने व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की है।
(४) उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आधुनिक आदर्शवाद को प्रभावित करता है।

रूसो के दर्शन में दो बातें स्पष्ट हैं

(१) राज्य एक सावयव—एक सामूहिक व्यक्ति है—उसकी आज्ञा मानने में हम अपनी उच्च इच्छा को मानते हैं—इस कारण हम स्वतन्त्र हैं। यह विचार उसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में व्यक्त होता है, विशेषकर वहाँ वह लिखता है कि राज्य मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करने के लिये बाध्य कर सकता है।

(२) राज्य केवल मनुष्य के हित पूरा करने का साधन है। यह बात उसके अनुबन्ध सिद्धान्त में स्पष्ट दिखाई देती है।

रूसो दोनों विचारों को मानता है इसी कारण वह राजनीति में दोनों विचारों का जनक है। परन्तु यदि हम रूसो के पूरे सिद्धान्त को देखें तो उसमें व्यक्ति को महत्ता, राज्य को गौण स्थान दिया गया है। राज्य साधन है, उसकी अपनी निजी इच्छा है उसके कार्य नैतिक हैं।

कथा में वह लिखता है "मेरे जीवन का उद्देश्य था—संसार का सुधारक बनना। मुझे यह सिखलाया गया था कि सुखी जीवन ही संसार का सत्य है, परन्तु मैं बीस वर्ष की आयु में जैसे एक सपने से जाग उठा। मैंने अपने से यह प्रश्न किया 'मानलो तुम्हारे जीवन के सब लक्ष्य पूरे हो जायें, और जिन परिवर्तनों को तुम संस्थाओं और लोक मतों में चाहते हो वे सब इसी क्षण पूरे हो जायें तो क्या यह तुम्हारे लिए सबसे अधिक सुख होगा?' मेरी अदमनीय स्वचेतना ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया—'नहीं'। इस पर मेरा दिल बैठ गया। जिस नींव पर मेरा पूरा जीवन ही निर्मित हुआ था वह नींव ही गिर गई। मेरा सारा सुख इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही तो था। परन्तु जब लक्ष्य में आकर्षण नहीं रहा तब उसके प्राप्त करने के साधनों में दिलचस्पी ही क्या? मेरे जीवन की सारी आकांक्षायें समाप्त हो गईं। वर्ड्सवर्थ कोलरिज और गेटे ने मुझे भावनाओं के क्षेत्र में उतारा और मुझे जीवन के दूसरे पहलू का दर्शन कराया।"

इस प्रकार मिल के जीवन में भावनाओं और सरसता को स्थान मिल गया। वेपिडसन लिखता है कि इस क्रान्ति से मिल एक नया ही व्यक्ति हो गया। उसमें गहन सहानुभूति, व्यापक बौद्धिक दृष्टिकोण, मानवीय भावनाओं को समझने की तीक्ष्ण बुद्धि और विवेक के साथ भावनाओं की भूख दिखाई देने लगी। जीवन में भावनाओं को उचित स्थान देने के कारण वह केवल बौद्धिक न रहा, बल्कि मानवीय हो गया।

मानवतावाद

उसकी शिक्षा उपयोगितावादी सिद्धान्त का नेतृत्व करने को हुई थी पर बीस वर्ष की आयु में उसने भावनाओं के महत्व को समझा जिससे उसने इस सिद्धान्त को अधिक मानवीय बना दिया।

जान मिल बचपन से ही प्रतिभा शाली लेखक था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में अच्छे पद पर नियुक्त होने के कारण उसने [illegible] का [illegible] कला को ही अपनी आय का साधन नहीं बना [illegible] विचारों को रखने में उसे जनता के दृष्टिकोण [illegible] का [illegible] रखना आवश्यक न था। सरकारी पद पर [illegible] व्यक्तियों का भी अनुभव था। जीवन की इस [illegible] विचारों और उसकी कृतियों पर पड़ा।

से प्रतिष्ठित करता है। साथ ही वह प्लेटो के विचारों को भी दुहराता है कि राज्य के अधीन होना नीति का विषय है, विधि का नहीं। राज्य की अधीनता में ही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है, इस कारण प्लेटो की भाँति वह सावयवी सिद्धान्त मानने वाला है।

पर रूसो व्यक्तिवादी है। क्योंकि व्यक्ति ही साध्य है साधन नहीं। एमिली में जो भी शिक्षा सिद्धान्त रूसो देता है उसका यह रूप है—वैयक्तिकता का विकास। न्यूहेलायस नामक पुस्तक में रूसो का एक चरित्र यह कहता है 'मनुष्य इतनी उच्च प्रकृति का होता है कि उसे दूसरों का साधन नहीं बनाया जा सकता। इस कारण मनुष्य का उपयोग हम बिना उसकी स्वीकृति के दूसरों के हित में नहीं कर सकते। एक व्यक्ति की भलाई के लिये दूसरों को नुकसान पहुँचाना अनुचित है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देता है—तो वह अपने मनुष्यत्व को त्यागता है।"

(१) रूसो ने अरस्तू के इस विचार को कि मनुष्य राजनैतिक प्राणी है फिर से स्थापित किया।
(२) रूसो पूर्ण प्रजातन्त्र और तानाशाही दोनों का जनक है।
(३) सावयवी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए भी उसने व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की है।
(४) उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आधुनिक आदर्शवाद को प्रभावित करता है।

रूसो के दर्शन में दो बातें स्पष्ट हैं :

(१) राज्य एक सावयव—एक सामूहिक व्यक्ति है—उसकी आज्ञा मानने में हम अपनी उच्च इच्छा को मानते हैं—इस कारण हम स्वतंत्र हैं। यह विचार उसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में स्पष्ट होता है, विशेषकर जहाँ वह लिखता है कि राज्य मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करने के लिये बाध्य कर सकता है।

(२) राज्य केवल मनुष्य के हित पूरा करने का साधन है। यह बात उसके अनुबन्ध सिद्धान्त में स्पष्ट दिखाई देती है।

रूसो दोनों विचारों को मानता है इसी कारण वह राजनीति में दोनों विचारों का जनक है। परन्तु यदि हम रूसो के पूरे सिद्धान्त को देखें तो उसमें व्यक्ति को नहीं राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। राज्य सावयव है, उसकी अपनी निजी इच्छा है उसके कार्य नैतिक हैं।

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आधुनिक राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित करता रहा है। जर्मन और इग्लैड के मार्क्सवाद और फैसिज्म पर उसके विचारों की स्पष्ट छाप है। स्वचेतना को महत्ता देकर उसने विवेक के युग को समाप्त कर दिया और न केवल राजनीति मे वरन् साहित्य और कला के क्षेत्र मे उसने रोमांटिक विचारधारा को प्रारम्भ किया जिसमें बुद्धि के स्थान पर चेतना या भावना को महत्त्व दिया जाता है।

रत्न ६

जान स्टुअर्ट मिल

(१८०६ – १८७३)

(१) जीवन । (२) जान मिल के समय का राजदर्शन ।
(३) जान मिल का उपयोगितावाद । (४) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ।
(५) विचार और भाषण की स्वतन्त्रता । (६) कार्य की स्वतंत्रता ।
(७) प्रतिनिधि सरकार । (८) समाज का महत्त्व ।
(९) मिल का स्थान ।

(१)

जीवन

जान स्टुअर्ट मिल प्रसिद्ध लेखक जेम्स मिल का लड़का था। उसके पिता की इच्छा थी कि वह बेन्थम के द्वारा चलाये गये 'उपयोगितावाद' के नेतृत्व का उत्तराधिकारी हो। इसलिए तीन वर्ष की आयु से ही पिता के कठोर अनुशासन में मिल की शिक्षा प्रारम्भ हो गई और आठ वर्ष में उसने ग्रीक भाषा का अध्ययन समाप्त कर लैटिन भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। बारह वर्ष की आयु में वह दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने लगा। मिल अपनी आत्म-कथा में लिखता है कि उसके पिता का सदैव यह प्रयत्न रहा कि वह अन्य बच्चों और भावनाओं के प्रभावों से बचा रहे। वह बुद्धिजीवी हो गया और जीवन की विषम भावनाओं से दूर रहने के कारण उसका जीवन शुष्क बन गया। बीस वर्ष की आयु उसके जीवन का संक्रमण-काल थी। अपनी आत्म

कथा में वह लिखता है "मेरे जीवन का उद्देश्य था—संसार का सुधारक बनना। मुझे यह सिखलाया गया था कि सुखी जीवन ही संसार का लक्ष्य है परन्तु मैं बीस वर्ष की आयु में जैसे एक सपने से जाग उठा। मैंने अपने से यह प्रश्न किया- 'मानलो तुम्हारे जीवन के सब लक्ष्य पूरे हो जायें, और जिन परिवर्तनों को तुम संस्थाओं और लोक मतों में चाहते हो वे सब इसी क्षण पूरे हो जायें तो क्या यह तुम्हारे लिए सबसे अधिक सुख होगा? मेरी अदमनीय स्वचेतना ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया—'नहीं'। इस पर मेरा दिल बैठ गया। जिस नींव पर मेरा पूरा जीवन ही निर्मित हुआ था वह नींव ही गिर गई। मेरा सारा सुख इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही तो था। परंतु जब लक्ष्य में आकर्षण नहीं रहा तब उसके प्राप्त करने के साधनों में दिलचस्पी ही क्या? मेरे जीवन की सारी आकांक्षायें समाप्त हो गईं। वर्ड्सवर्थ कोलरिज और गेटे ने मुझे भावनाओं के क्षेत्र में उतारा और मुझे जीवन के नये पहलू का दर्शन कराया।"

मानवतावाद

उसकी शिक्षा उपयोगितावादी सिद्धान्त का नेतृत्व करने को हुई थी पर बीस वर्ष की आयु में उसने भावनाओं के महत्व को समझा जिससे उसने इस सिद्धान्त को अधिक मानवीय बना दिया।

इस प्रकार मिल के जीवन में भावनाओं और सरसता को स्थान मिल गया। वैपिरसन लिखता है कि इस क्रान्ति से मिल एक नया ही आदमी हो गया। उसमें गहन सहानुभूति व्यापक बौद्धिक दृष्टिकोण मानवीय आवश्यकताओं को समझने की तीक्ष्ण दृष्टि और विवेक के साथ भावनाओं की महत्ता दिखाई देने लगी। जीवन में भावनाओं को उचित स्थान देने के कारण वह केवल बौद्धिक न रहा अधिक मानवीय हो गया।

जान मिल बचपन से ही प्रतिभाशाली लेखक था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में अच्छे पद पर नियुक्त होने के कारण उसने पत्रकारिता या लेखन कला को ही अपनी आय का साधन नहीं बनाया। इस कारण अपने इन विचारों को रखने में उसे जनता के दृष्टिकोण और लोक मतों का ध्यान रखना आवश्यक न था। सरकारी पद पर काम करने के कारण उसे शासन पद्धतियों का भी अनुभव था। जीवन की इन सभी बातों का प्रभाव उसके विचारों और उसकी कृतियों पर पड़ा।

मिल की कई पुस्तकें हैं। उसकी 'सिस्टम आफ लाजिक' १८४३ में प्रकाशित हुई और 'प्रिंसिपिल्स ऑफ पोलिटिकल एकानामी' १८४८ में। इन दोनों पुस्तकों से उसकी विद्वता की पैठ पूरे इंगलैंड में हो गई। राज्य शास्त्र की दृष्टि से उसके लेख 'आन लिबर्टी' और 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट' अधिक महत्वपूर्ण हैं जो क्रम से १८५९ और १८६१ में प्रकाशित हुए। तीसरी पुस्तक 'यूटिलिटेरियनिज्म' भी १८६१ में प्रकाशित हुई।

कृतियाँ	
सिस्टम आफ लाजिक	१८४३
प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल इकोनोमी	१८४८
आन लिबर्टी—	१८५९
रिप्रजेन्टेटिव गवर्नमेंट यूटीलिटेरियनिज्म	१८६१

(२)

जान मिल कालीन राज्य दर्शन

जान स्टुअर्ट मिल बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त को ही आगे बढ़ाने के लिए शिक्षित किया गया था क्योंकि उसके पिता जेम्स मिल इस सिद्धान्त को राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धान्त मानते थे। वे बेन्थम के अनुयायी थे इसलिए मिल के विचारों को समझने के लिए हमें बेन्थम के विचारों पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। बेन्थम का कहना था कि "प्रकृति ने मनुष्य को दो सम्प्रभु स्वामियों के शासन के अन्तर्गत रखा है वे हैं दुख और सुख। वे ही इस बात का निश्चय करते हैं कि हमें क्या करना चाहिए, और हम क्या करते हैं। सारी अच्छाई और बुराई की भावना तथा सब कार्यों के कारण और परिणाम इन सुख व दुख के सिंहासनों से बंधे हुए हैं।" सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे कार्य सुख और दुख से संचालित होते हैं। इसलिए बेन्थम के सिद्धान्त में हमें निम्नलिखित मान्यतायें मिलती हैं —

(१) मनुष्य सहजगामी है और वह केवल अपने स्वार्थ के लिए ही कार्य करता है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसका हित क्या है।

(३) विधान सभा का कार्य उन सभी नियंत्रणों को हटाना है जिससे मनुष्य के सभी स्वतंत्र कार्यों में बाधा पड़ती है।

(४) यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना सुख प्राप्त करता है तो पूरा समाज सुखी हो सकता है क्योंकि समाज व्यक्तियों की संख्या मात्र है। समाज का अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं है।

(२) शासक वर्ग का एक मात्र लक्ष्य है—'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' की व्यवस्था करना। इसलिये कोई भी सरकार चाहे वह निरंकुश हो या प्रजातांत्रिक उत्तम है। पर वे विशेष रूप से प्रजातन्त्र के पक्ष में थे और निर्वाचकों की संख्या बढ़ाना चाहते थे जिसमें शासक वर्ग अपना स्वार्थ साधन न कर सकें।

बेन्थम के उपयोगितावाद में कुछ भूलें थी। बेन्थम का उपयोगितावाद इस विचार को मान्यता देकर चलता है कि सभी सुख एक समान हैं—चाहे वह कविता पढ़ने का सुख हो या बच्चों का खेल हो। इसलिये प्रत्येक आदमी अपने विवेक से यदि अधिक से अधिक सुख की मात्रा प्राप्त कर लेता है तो वह अधिक सुखी है। उपयोगितावाद में व्यक्ति ही विचारों का केन्द्र है शासक तो केवल इसलिये आवश्यक है कि वे व्यक्ति को अधिकतम सुख प्राप्त कराने में सहायक होते है। अहम्‌वादी होने के कारण उपयोगितावादी प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र इकाई मानता है और उसका दूसरों से कोई संबंध नहीं बताता। इस प्रकार दूसरों की सहायता करना दूसरों के सुख के लिये अपना बलिदान करना आदि मनुष्योचित भावनाओं को इसमें कोई स्थान नहीं है। समाज सामाजिक लोक मत सामाजिक परम्पराओं को ये मान्यता नहीं देते। भावनाओं का इनके दर्शन में कोई स्थान नहीं है।

जान स्टुअर्ट मिल के जीवन में जो मोड़ आया था उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उसने युवक बौद्धिकवादी उपयोगितावाद को अधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न किया जिस के कारण उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल तर्क ही समाप्त हो गये। परन्तु मिल इसी उपयोगितावाद को पुष्ट करने के लिये ही तो शिक्षित हुआ था। उसके पिता ने यही तो उसके जीवन का लक्ष्य बनाया था। इस कारण जिस सिद्धान्त का समर्थन वह करने चला था, वह तो अनजाने ही उसने समाप्त कर दिया। परन्तु उपयोगिता वाद से अटूट निष्ठा रखने के कारण वह नया दर्शन न दे सका। मेक्सी (Maxey) लिखता है कि

उपयोगितावादी

अहंवादी तथा बौद्धिक थे वे सुख में केवल मात्रा का भेद मानते थे और राज्य को केवल व्यक्तियों का समूह। अधिक मानवीय बनाने के प्रयत्न में मिल द्वारा उपयोगितावाद का अंत। पर मिल नया सिद्धान्त नहीं दे सका।

"उपयोगितावादी दार्शनिकों से जिन्हें वह प्रेम और स्नेह की दृष्टि से देखता था उसे बौद्धिक दृष्टिकोण मिला। अपने जीवन के अनुभवों से उसने जो निष्कर्ष निकाले उनमें विरोध था, परन्तु मिल इस विरोध को समाप्त नहीं कर सका है।"[1] बात यह है कि अपने सामान्य दृष्टिकोण में वह पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त के अमूर्त मतों को अपनाता है परन्तु उन मतों को सामने रखने के पश्चात् वह इतने अपवाद और इतने नये अर्थ देता है कि अन्त में जाकर प्रारंभिक सिद्धान्त समाप्त हो जाते हैं, और उनके स्थान पर कोई नया सिद्धान्त नहीं रखा जाता।[2]

(२)

उपयोगितावाद

मिल अपने आत्म-चरित में लिखता है कि अपने जीवन में भावना की महत्ता स्वीकार करने के पश्चात् उसने एक निज जीवन-दर्शन बनाया। वह लिखता है "मैं इस विश्वास से कभी नहीं डिगा कि व्यवहार में सभी नियमों की कसौटी और जीवन का लक्ष्य सुख है। लेकिन अब मैं सोचने लगा कि इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सुख को सीधा लक्ष्य न बनाया जाय। वे ही मनुष्य सुखी हैं जो अपने सुख के स्थान पर किसी अन्य विषय पर अपने विचार को केन्द्रित करते हैं, चाहे वह दूसरों का सुख हो, मनुष्य जाति का सुधार हो या कोई कला हो, जिसे हम आदर्श लक्ष्य मानकर नकि केवल (अपने सुख का) साधन समझकर अपने सामने रखते हैं ...... दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो इस काल में मेरे विचारों में हुआ वह था मनुष्य की आंतरिक संस्कृति को मानव कल्याण के लिए उचित स्थान देना। मैंने बाह्य वातावरण के संगठन पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करना बन्द कर दिया।"[3] पर इन नये विचारों ने पूरे उपयोगितावाद के सिद्धान्त को ही बदल

---

[1] Mill exhibits an unresolved conflict between the intellectual furniture inherited from the utilitarian preceptors, whom he loved and revered and the conclusions, to which he was driven by his own open-minded and sympathetic observations of fact." Maxey *Political Philosophies* p. 477

[2] His general position was a highly abstract statement of the older utilitarian theory but having stated the principle, *he proceeded to make concessions* and re-statements until in the end the original theory was explained away without any new principal being put in its place.

See Sabine *A History of Political Theory*—p. 592

[3] Mill—Autobiography p. 120—122

किया । उपयोगितावाद के अनुसार मनुष्य अपना सुख चाहता है मनुष्य स्वकेन्द्रित है और उसका सीधा लक्ष्य अपना सुख है । वह दूसरे के सुख और दुख को नहीं समझ सकता । इसके स्थान पर मिल दूसरे के सुख को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है और दूसरे के सुख में अपना सुख देखता है । यह नया दृष्टिकोण उपयोगितावाद के मूलभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है ।

दूसरे बेन्थम ने विभिन्न सुखों में केवल मात्रा का अन्तर देखा था गुणों का नहीं । बेन्थम का कहना था कि यदि सुख की मात्रा बराबर है तो पुष्पिन नामक बच्चों के खेल से मिलने वाले सुख और कविता से मिलने वाले सुख में कोई अन्तर नहीं । इस प्रकार बेन्थम सभी सुखों को भौतिक समझता है । उसके आलोचकों ने इसी आधार पर उपयोगितावाद की आलोचना की थी। मिल ने यह अनुभव किया, और उसे स्वीकार किया कि सुखों के गुणों में भिन्नता है । कुछ सुख ऐसे होते हैं, जो मनुष्योचित हैं जैसे कर्तव्य करने का सुख वैज्ञानिक या कलाकार का सुख । वह लिखता है

"इस बात को मानना उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुरूप ही है कि कुछ प्रकार के सुख अन्य प्रकार के सुखों से अधिक अभीप्सित (desirable) और महत्त्व पूर्ण हैं, इसलिए जहाँ हम अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन में गुण और मात्रा दोनों का ध्यान रखते हैं, वहाँ सुख के मूल्यांकन को केवल मात्रा पर आधारित करना एक अजीब बात होगी ।"

इस प्रकार मिल के अनुसार कविता से होने वाला सुख पुष्पिन के खेल से प्राप्त सुख के समान नहीं है । कविता का सुख अधिक उच्च है । यह बात इस से स्पष्ट है कि अनुभवी लोग निम्न सुखों की अपेक्षा उच्च सुखों की आकांक्षा करते हैं । वह लिखता है कि

"एक सन्तुष्ट सूकर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव होना अच्छा । एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है । और यदि मूर्ख और सूकर दूसरा मत रखते हैं तो इसलिए कि वे केवल अपने पक्ष को जानते हैं जबकि दूसरा पक्ष (मानव और सुकरात) दोनों पक्षों को (दोनों प्रकार के सुखों को) जानता है ।"

इससे स्पष्ट है कि मिल ने उपयोगितावादी सिद्धान्त को अधिक मानवी बना दिया और उसे भौतिकवाद से मुक्त कर दिया । परन्तु इससे उपयोगिता वाद का सिद्धान्त बिल्कुल बदल जाता है क्योंकि अब हम सुख को नहीं सुख के स्रोत को महत्त्व देने लगते हैं । हमारे लिये यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि

हम सुख नर्दिता से ले रहे हैं या पुष्टिम से। उच्च और निम्न सुख की धारणा मनुष्यत्व के अनुरूप है क्योंकि उच्च सुख की धारणा में यह विचार निहित है कि मनुष्य होने के नाते हमें सुख की नहीं वरन् उन गुणों की आवश्यकता है—और हमें उन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए—जो हमें उच्च प्राणी बना सकें। परन्तु इस विचार से बेन्थम का यह सिद्धान्त कि मनुष्य सुख चाहता है—केवल सुख—समाप्त हो जाता है।

तीसरे बेन्थम ने सुख और दुख के जो स्रोत बतलाये थे वे सब बाह्य थे—जैसे प्राकृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक और नैतिक। मिल ने कर्तव्य भावना को भी सुख का स्रोत माना। उसका कहना था कि जब हम किसी अनुचित कार्य को करते हैं तो हमारी भावनाओं को ठेस पहुँचती है। इसी प्रकार जब हम कोई अच्छा कार्य करते हैं तो हमें आंतरिक सुख होता है। इस तरह मिल ने भावनाओं को भी सुख और दुख का स्रोत माना और इन्हीं के आधार पर व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध स्थापित किया। पर सुख और दुख के आंतरिक स्रोत को बताकर उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को चौपट कर दिया। क्योंकि हमारी चेतना उसी समय सुखी होती है जब हम किसी काम को निस्वार्थ भाव से करते हैं दूसरों के हित में कार्य करते हैं। इस तरह अहम्वाद के स्थान पर मिल का संशोधन परमार्थ की भावना को प्रतिष्ठित करता है, और सामाजिक जीवन को प्राकृतिक और मनुष्य के लिए आवश्यक मानता है। समाज का अपना निजी अस्तित्व और अपना मूल्य हो जाता है।

मिल द्वारा संशोधन

(१) वह प्रत्यक्ष सुख को नहीं अप्रत्यक्ष सुख या कर्तव्य पालन के सुख को महत्ता देता है, जिससे समाज की महत्ता स्थापित होती है।

(२) वह सुख को मात्रा द्वारा ही नहीं गुण द्वारा भी नापता है।

(३) अहम्वाद के स्थान पर परमार्थ को स्थान देता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि मिल उपयोगितावाद का समर्थन करने चला था परन्तु उसकी इतनी तीक्ष्ण बुद्धि थी उसका इतना व्यापक अनुभव था कि वह इस सिद्धान्त की कमियों को अच्छी तरह देख सका। मिल में सभी अच्छी बातों का ग्रहण करने की रुचि थी और कॉलरिज, कोलरेज और गेटे का प्रभाव उस पर पूर्ण रूप से था। इसलिए उनके प्रभाव में आकर उसने उपयोगितावाद में इतना संशोधन कर दिया कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गये। उपयोगितावाद की कमियों को दूर करने में मिल का

महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु बेन्थम और जेम्स मिल के प्रति उसकी इतनी निष्ठा थी कि यद्यपि वह उनके सिद्धान्त से बहुत दूर निकल गया पर इस निष्ठा के कारण वह अपने को उपयोगितावादी ही समझता रहा और किसी नये सिद्धान्त को नहीं दे सका। इससे खराब बात यह हुई कि उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत में संशोधन करके उसने इस सिद्धांत को भी अस्पष्ट बना दिया।

(४)

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

मिल की पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' उसकी 'यूटिलिटेरियनिज्म' से अधिक अच्छी है। इस पुस्तक में मिल स्वतंत्रता का सैद्धांतिक निरूपण नहीं वरन् स्वतंत्रता में निहित समस्याओं का विवेचन करता है। इस कारण वह अपनी पुस्तक को निबंध कहता है। इस निबन्ध में मिल स्वतंत्रता के स्वरूप व्यक्ति और समाज के लिये उसकी उपयोगिता नागरिक और राज्य तथा व्यक्ति और लोक मत के बीच पाये जाने वाले संघर्षों की चर्चा करता है। लेखक ने पुस्तक में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री दी है और कई राजनैतिक समस्याओं का उल्लेख भी किया है। परन्तु मकलुन का कहना ठीक ही है कि मिल की पुस्तक निबंध ही है राजदर्शन की पुस्तक नहीं।

मिल के समय तक इंगलैंड में निरंकुश शासन समाप्त हो गया था परन्तु पार्लियामेन्ट की शक्ति-विस्तार के कारण बहुसंख्यक दल की निरंकुशता की आशंका होने लगी थी और टॉकविली ने अमेरिका के संविधान आदि लेखक पर इस बढ़ती हुई निरंकुशता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। मिल के सामने यह समस्या थी कि बहुसंख्यकों की निरंकुशता से अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता को कैसे बचाया जाय? इसलिये ऑन लिबर्टी में वह प्रजातांत्रिक सरकारों की शक्ति को भी व्यक्ति के हित में सीमित करना चाहता है। वह लिखता है

"स्वशासित राज्यों में जो लोग शासन करते हैं वे सदैव ही उन लोगों का ध्यान नहीं रखते जिनके ऊपर शासन हो रहा है। इसलिये आज स्वशासन का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर शासन कर रहा है, वरन् यह है कि प्रत्येक के ऊपर अन्य शासन करते हैं .... राजनीतिक चिन्तन में बहुसंख्यक की निरंकुशता ऐसी बुराई समझी जाने लगी है जिससे समाज की रक्षा करना आवश्यक है।"

साथ ही मिल ने यह भी देखा कि पार्लियामेन्ट के बहुमत की निरंकुशता की अपेक्षा लोकमत अधिक खतरनाक है। लोकमत के दबाव में मनुष्य कोई स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता। समाज और लोकमत अपने ही विचार और व्यवहारों को व्यक्तियों पर लादता है जिससे मनुष्य सामाजिक मूल्यों और मर्यादाओं के अनुसार ही सोचता समझता और कार्य करता है। इससे मनुष्य में स्वयं सोचने समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। वह लिखता है,

"विचारशील मनुष्यों ने यह भी देखा कि जब समाज स्वयं निरंकुश हो जाता है—समाज को निर्माण करने वाले विभिन्न व्यक्तियों के ऊपर उन व्यक्तियों का समूहिक रूप निरंकुश होने लगता है—तो उसके दमन के साधन केवल राजनैतिक सत्ता के कार्यों और व्यवहारों तक ही सीमित नहीं रहते। समाज स्वयं अपने आदेशों का पालन कराता है इसलिये केवल मजिस्ट्रेटों की निरंकुशता से बचाव काफी नहीं है प्रचलित भावना (लोकमत) की निरंकुशता से भी बचने की आवश्यकता है।"

इसलिये मिल के अनुसार स्वतंत्रता की रक्षा हमें दो शत्रुओं से करना है—राज्य से और असंगठित पर अधिक शक्तिशाली लोकमत से। पर मिल अराजकतावादी नहीं वह सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता मानता है लेकिन एक सीमा तक ही। इसलिये लिबर्टी का मुख्य विषय है व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में उचित सामंजस्य करना।

"व्यक्ति की स्वतंत्रता में सामूहिक मत के उचित हस्तक्षेप की एक सीमा होती है इसलिये मानवीय व्यवहारों को ठीक परिस्थिति में रखने के लिये इस सीमा का जानना और सामाजिक आक्रमण से इसे सुरक्षित रखना उतना ही आवश्यक है जितना राजनैतिक निरंकुशता से व्यक्ति को सुरक्षित रखना।"

समाज में नियमों और लोकमत का महत्व है पर ये नियम क्या हों इस पर विचार नहीं किया गया। मिल के अनुसार केवल एक सिद्धान्त पर ही—केवल रक्षा के उद्देश्य से ही—कोई व्यक्ति निजी या सामूहिक रूप में किसी अन्य व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप कर सकता है। केवल उसी समय किसी सभ्य समाज में किसी सदस्य के ऊपर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग ठीक समझा जायेगा जबकि उस शक्ति प्रयोग का उद्देश्य हो—दूसरों को हानि से बचाना।

मिल की पुस्तक का मुख्य उद्देश्य निरंकुश शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता का समर्थन करना नहीं है वरन् व्यक्ति को अपने स्वयं के विचार रखने और उन्हें व्यक्त करने का अधिकार देना है। मिल के समय में मध्यम वर्ग को राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता मिल चुकी थी। इस मध्यम वर्ग के जीवन साहित्य सामाजिक संगठन के संबंध में अपने विचार थे इसलिए इन्हें परम्परागत विचारों की आलोचना करने नये विचार रखने, उन पर कार्य करने की स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। मिल इन्हीं सामाजिक माँगों को लेकर चलता है इसी कारण उसकी पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य सामाजिक व्यक्ति है इसलिये समाज में उसे रहना पड़ता है समाज को उसे मान्यता देनी पड़ती है—इसलिए उसके ऊपर समाज की शक्ति जरूरी है। परन्तु व्यक्ति भी तो स्वयं में स्फूर्ति और जीवन का केन्द्र है उसकी भी अपनी क्षमता है इसलिये जब व्यक्ति अपनी क्षमताओं को समझ लेगा तभी वह पूर्ण जीवन को समझ सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक उन्नति बहुत सीमा तक व्यक्ति की मौलिकता और स्फूर्ति पर निर्भर है।

व्यक्ति और समाज में संघर्ष किस प्रकार हो सकता है ? व्यक्ति ही तो समाज बनाता है ? इस संघर्ष को समझने के लिये हमें यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति के दो प्रकार के कार्य होते हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। जब कोई व्यक्ति अपने वैयक्तिक कार्य करता है और बहुसंख्यक व्यक्ति सामाजिक तभी इनमें संघर्ष दिखाई देता है इसलिए व्यक्ति और समाज के संघर्ष की समस्या अल्पमत और बहुमत के लोगों की समस्या है। पर ध्यान रखने की बात है कि यह अल्पमत अपना कोई वर्ग या दल नहीं बनाये रखता है। यह तो समाज के विभिन्न समुदायों में बिखरा होता है और समाज के विभिन्न कार्यों पर अलग अलग मत रखता है। मिल का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्तियों को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। बहुसंख्यक दल के लोगों को भी इनसे अपने वैयक्तिक जीवन का आभास होगा और वे अपने जीवन को वैयक्तिक और सामाजिक रूप में देख सकेंगे। हर मनुष्य में व्यक्तित्व की क्षमता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता समझ लेगा तभी वह पूर्ण जीवन को समझ सकेगा। मिल ने समाज के सामने यह नया विचार रखा क्योंकि उसके समय तक व्यक्ति के केवल सामाजिक जीवन पर ही जोर दिया जाता था वैयक्तिक जीवन पर नहीं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मिल सामाजिक जीवन के उत्तरदायित्व

और कर्तव्यों को तिलांजलि देता है। सामाजिक जीवन की अपनी महत्ता है लेकिन समाज को एक सीमा तक ही व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करना चाहिए। स्वयं समाज के हित में यह आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर मिले जिससे वह समाज को अपना पूर्ण सहयोग दे सके और समाज को अपनी विभिन्नता से धनी कर सके। लेकिन समाज सभी को एक ही साँचे में ढालना चाहता है जो समाज के हित में नहीं। इस प्रकार मिल की स्वतन्त्रता का मुख्य उद्देश्य सामाजिक जीवन को अधिक समृद्धिशाली बनाना है। उसका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त केवल सामान्य प्रतिभाओं से युक्त वयस्क व्यक्तियों के लिए है। पिछड़ी जातियों बच्चों और विकृत मस्तिष्क व चरित्र वालों के लिये मिल समाज और राज्य की निरंकुशता ही उचित बताता है। जिन राज्यों में प्रजातन्त्र है, वहाँ व्यक्तियों में स्वतन्त्रता और स्वयं उन्नति करने की भावना है केवल उन्हीं राज्यों में उसका स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धांत प्रयुक्त हो सकता है।

स्वतन्त्रता सिद्धान्त

स्वतंत्रता सिद्धान्त का नहीं वरन् उसकी समस्याओं का विवेचन।

पार्लियामेन्ट के बहुमत और समाज के लोकमत से स्वतंत्रता।

व्यक्ति और समाज की समस्या वस्तुतः बहुमत की समस्या यह समाज और व्यक्ति के बीच उचित सामंजस्य चाहता है।

उसकी स्वतंत्रता का लक्ष्य है वैयक्तिकता का विकास।

इसलिये यह सिद्धान्त प्रजातांत्रिक व सामान्य प्रतिभायुक्त समाजों के लिये ही है।

स्वतन्त्रता को मिल तीन भागों में रखकर परिभाषित करता है—(१) विचार और भाषण की स्वतन्त्रता (२) अपने जीवन से संबन्धित योजनाओं के बनाने और अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता और (३) समुदाय बनाने की स्वतंत्रता।

(५)

विचार और भाषण की स्वतन्त्रता

निबंध के पहिले भाग में मिल व्यक्ति के विचार और भाषण की स्वतन्त्रता की चर्चा करता है। मनुष्य को विचार करने और उनको प्रकट करने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किसी विचार का दमन करना सत्य का दमन करना है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सामान्य स्वीकृत विचार सत्य

हों। मिल के अनुसार किसी व्यक्ति का विचार सत्य हो सकता है या मिथ्या या आधा सत्य और आधा मिथ्या। यदि सत्य मत को रोका जाता है तो अधिकारी वर्ग और समाज संसार को सचाई जानने से रोकते हैं। यदि मत मिथ्या है तब भी उस मत पर रोक लगाना उचित नहीं क्योंकि सत्य मत मिथ्या मत को काट देगा जिससे मिथ्या मत रखने वाला भी सचाई जान सकेगा और मिथ्या मत को काटने के कारण सत्य अधिक चमकने लगेगा। मिथ्या मत को जनता स्वयं ही नहीं मानेगी इसलिए अधिकारी वर्ग का यह दावा कि वे समाज को हानि पहुँचाने वाले मतों को रोककर जनता की भलाई कर रहे हैं, उचित नहीं। जिस मत में केवल आधा सत्य ही है उसके ऊपर भी प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं क्योंकि उसमें कुछ तो सत्य है।

मिल सनकी या सनकी व्यक्तियों को भी विचार की स्वतंत्रता देने के पक्ष में है, क्योंकि उसका कहना था कि जिनको एक जमाने में सनकी समझा गया था वे आज महान व्यक्ति माने जाते हैं। सुकरात और ईसामसीह अपने जमाने में सनकी ही तो समझे जाते थे। इसलिए यदि किसी समाज में दस सनकी हों तो हो सकता है कि भी सनकियों का समाज पर कोई प्रभाव न पड़े किन्तु दसवां बिलकुल नई विचारधारा प्रतिष्ठित करने वाला हो। अगर समाज में पूरे समाज के विरुद्ध एक ही व्यक्ति भिन्न मत रखने वाला हो तो भी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना चाहिए।

सत्य को हम नित्य विरोधी विचारों के सम्पर्क में लाकर ही जीवित रख सकते हैं। विभिन्न मतों के होने से हम सत्य का ठीक ठीक दर्शन कर सकते हैं क्योंकि सत्य के कई पक्ष हैं। इसके विभिन्न पक्ष विरोधी नहीं पूरक हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों को देखने पर ही हम उसका पूर्ण रूप समझ सकते हैं। सत्य विचार के किसी एक पक्ष की बपौती नहीं है।

विचार और भाषण की स्वतन्त्रता व्यक्ति के विकास के लिए नितांत आवश्यक है। वह लिखता है 'इस बात का कोई विरोध न करेगा कि बचपन में बच्चों की शिक्षा दीक्षा हो जिसमें वे मानव के संचित ज्ञान को जान सकें और उससे लाभ उठा सकें। परन्तु वयस्क होने पर प्रत्येक मनुष्य के लिए यह बात उचित है कि वह इन अनुभवों को अपने ही तरीके से प्रयुक्त करे। उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह संचित अनुभवों का कौन अंश अपने चरित्र और परिस्थिति के लिये प्रयुक्त करे'............ ....

"मनुष्य की आनुभूतिक, निर्णय करने वाली विवेचनात्मक क्षमतायें, मानसिक क्रियायें और यहाँ तक कि नैतिक वरेण्यता (preference) मनुष्य की पसन्द करने की क्रिया में ही व्यक्त होती हैं। जो व्यक्ति किसी कार्य को केवल रीति-रिवाज का अनुकरण करते हुए करता है, वह वरण शक्ति का प्रयोग नहीं करता। उसे स्वयं सूझने बूझने और सर्वोत्तम के लिये इच्छा करने का कोई अभ्यास नहीं पड़ता" ... ... जो केवल दूसरों के बताये गये जीवन मार्ग को अपनाते हैं, उन्हें बंदर के समान अनुकरण करने की क्षमता के अलावा और कुछ नहीं चाहिए।"

विचार-स्वतंत्रता के सिद्धान्त में मिल का मूल भूत विचार यह है कि हम सत्य को केवल तर्क-वितर्क द्वारा जान सकते हैं। इसीलिये हमें किसी भी विचार या विश्वास को यों ही स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि विचारशील व्यक्ति समाज में बहुत कम होते हैं इसी कारण मिल साधारण व्यक्तियों को जिनमें मानसिक क्षमताएँ कम होती हैं हेय दृष्टि से देखता है। मिल की वास्तविक समस्या 'लिबर्टी' और 'रिप्रेज़ेन्टेटिव गवर्नमेंट' में यही थी कि किस प्रकार विचारशील व्यक्तियों का समाज बनाया जाय और उन्हें समाज में स्थान दिया जाय।

विचार स्वतंत्रता की आवश्यकता

(१) सत्य या अर्ध सत्य को रोकने से समाज को हानि

(२) मिथ्या मत को स्वयं जनता स्वीकार नहीं करेगी। मिथ्या मत सत्य मत को निखारता है, तथा मिथ्या मत रखने वाले को सत्य का दर्शन कराता है।

इन में से एक लाभ भी समाज को नया संदेश दे सकता है।

सत्य के विभिन्न पक्ष पूरक हैं इसलिये विचार स्वतंत्रता सत्य का हनन नहीं पुष्टि करती है।

नैतिकता का अर्थ ही है सत्य को चुनना।

परन्तु प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के द्वारा ही हम सत्य को पा सकते हैं? मनुष्य केवल विवेकशील प्राणी नहीं भावनायुक्त प्राणी भी है और उसका बहुत सा जीवन इन भावनाओं विश्वासों या कहना चाहिए कि अन्धविश्वासों के आधार पर ही चलता है। अधिकतर तो यही देखा जाता है कि तर्क वितर्क के द्वारा मनुष्य इन विश्वासों को हटाने का नहीं पुष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसलिए सत्य की खोज में तर्क-वितर्क पर बहुत अधिक निर्भर होना उचित नहीं है।

दूसरे सत्य केवल तर्क वितर्क से नहीं मालूम होता। गौतमबुद्ध ईसा-मसीह महात्मा गांधी ने चिन्तन या आत्मा की प्रेरणा से जो विचार रखे थे भी हमें सत्य का दर्शन कराते हैं। चिन्तन भी सत्य को खोजने का एक रास्ता है। कलाकार भी सत्य के दर्शन अपनी प्रतिभा से करता है। उसके जीवन में तर्क वितर्क को कोई महत्व नहीं।

तीसरे बहुत से नये विचार हम प्रचलित सिद्धान्तों को बिना तर्क वितर्क के स्वीकार कर समाज में रखते हैं, और वे समाज में प्रभावशील हो जाते हैं। प्लेटो का धारणा का सिद्धान्त या मार्क्सवाद तर्क की कसौटी पर खरे न उतरें परन्तु इन्होंने सामाजिक संस्थाओं को नये रूप देने में अपना बड़ा योग दिया है।

विचार की स्वतन्त्रता का समर्थक बनकर मिल ने वास्तव में इंग्लैंड की सांसदिक पद्धति और इंग्लैंड के विचार विमर्श में विश्वास को मान्यता दी है। विचार स्वतन्त्रता पश्चिमी संस्कृति का मूल मंत्र है। यदि पश्चिमी राज्य साम्यवादी देशों की पद्धति को स्वीकार नहीं करते तो केवल इसलिए कि साम्यवादी देशों में विचार स्वतन्त्रता नहीं।

आलोचना

पर तर्क वितर्क से हम सत्य की नहीं, अपने अंध विश्वासों की पुष्टि करते हैं। सत्य की प्राप्ति तर्क से ही नहीं चिन्तन से भी होती है।

तर्कविहीन सिद्धान्त भी समाज में अपना स्थान रखते हैं।

मिल इंगलैंड की संसदीय पद्धति का ही समर्थक है।

व्यक्तित्व की महत्ता—

मिल विचार-स्वतंत्रता के सिद्धान्त की पुष्टि प्राकृतिक अधिकारों के नाम पर कर सकता था और कह सकता था कि विचारों को व्यक्त करने का मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। परन्तु मिल उपयोगितावादी था और उपयोगितावादी प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। इसलिए मिल प्राकृतिक सिद्धान्त के आधार पर अपने विचारों की पुष्टि नहीं करता वरन् केवल उपयोगिता के आधार पर विचार स्वतंत्रता की महत्ता बताता है। वह लिखता है "यह बताना आवश्यक है कि मैं उपयोगिता से स्वतंत्र किसी अमूर्त अधिकार की धारणा से अपने मत की पुष्टि करने का कोई लाभ नहीं उठाना चाहता।" मनुष्य के व्यक्तित्व को वह कल्याण का एक तत्व समझता है। परन्तु व्यक्तित्व का अर्थ वह आत्म-ज्ञान ही लेता है। उसका कहना है

कि जिन कार्यों का प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता उसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। हम्बोल्ट के विचारों को उद्धृत करते हुए वह लिखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सारे प्रयत्न केवल एक लक्ष्य के लिये करने चाहिये और वह लक्ष्य है व्यक्तित्व का विकास। यदि समाज व्यक्ति पर बहुत अधिक नियंत्रण लगायेगा तो मनुष्य के सुख का मूल स्रोत समाप्त हो जायेगा, इसलिये मिल स्वतंत्रता को वैयक्तिकता के विकास के लिए आवश्यक समझता है और वैयक्तिकता के विकास को "सामाजिक और वैयक्तिक उन्नति" का मुख्य तत्व मानता है। इस प्रकार मिल के अनुसार स्वतंत्रता वैयक्तिक सुख और सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी है।

उपयोगितावादी आधार

विचार स्वतंत्रता की पुष्टि वह प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर नहीं, उपयोगितावाद के आधार पर करता है।

विचार स्वतंत्रता सामाजिक व वैयक्तिक उन्नति के लिये उपयोगी है।

(६)

कार्य की स्वतंत्रता

विचारों की स्वतंत्रता का अपना कोई महत्व नहीं जब तक इस स्वतंत्रता के साथ ही व्यक्ति को अपने विचारों के अनुकूल काम करने और तदनुसार बनाने की स्वतंत्रता न हो। परन्तु कार्य की स्वतंत्रता में एक विशेष परिस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारे कार्यों का प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पर भी पड़ता है।[1] इसलिये समाज या अन्य व्यक्ति अपनी आत्म-सुरक्षा के हित में दूसरे के कार्यों पर आपत्ति कर सकते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि कार्य स्वतंत्रता की सीमा उस जगह निश्चित की जा सकती है जहाँ दूसरे को बाधा पहुँचती हो। इसलिए मिल लिखता है कि "उसे दूसरे के रास्ते में बाधा नहीं बनना चाहिए। यदि वह अपने से संबन्धित कार्यों में दूसरों को बाधा नहीं पहुँचाता और केवल अपनी प्रवृति और निश्चय के अनुसार अपने से संबन्धित कार्यों को करता है तो उन्हीं कारणों पर जिन पर विचार स्वतंत्रता

[1] एक सज्जन छड़ी घुमाते हुए इंग्लैंड की सड़क पर घूम रहे थे। पीछे से एक व्यक्ति के नाक पर जब लगी उसने आपत्ति की तो उन सज्जन ने उत्तर दिया कि मैं स्वतंत्र देश में स्वतंत्रता से घूम रहा हूँ। प्रति उत्तर था कि महाशय यह ठीक है पर आप की स्वतंत्रता वहीं समाप्त होती है जहाँ मेरी नाक प्रारंभ होती है।

दी गई है उसे बिना किसी बाधा के अपने विचारों को अपनी जवाबदेही पर कार्यान्वित करने की अनुमति मिलना चाहिए।" इस प्रकार व्यक्ति के कार्यों को मिल स्वसंबंधी (Self regarding) और पर-संबंधी (Other regarding) में विभाजित करता है। स्वसंबंधी कार्यों में वह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है। यदि कोई व्यक्ति जुआ खेलता है या शराब पीना चाहता है तो इस पर समाज को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि समाज इसे व्यक्ति के हित में नहीं समझता तो वह उसको समझा सकता है, तर्क द्वारा उसके विचारों को बदल सकता है पर दण्ड देकर इस काम को छोड़ देने के लिये व्यक्ति को बाध्य करने का अधिकार समाज के पास नहीं है। पर-संबंधी कार्यों में व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित है विशेषकर जब व्यक्ति के कार्य से दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा पहुँचती हो।

मिल का विचार था कि इस प्रकार अलग अलग और अपने ढंग से जीवन यापन करने से ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है क्योंकि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को अलग अलग बनाया है। इसलिये सबके लिए एक सा जीवन रखना सामाजिक उन्नति और विकास में बाधा है। रीति रिवाजों या सामाजिक नैतिकता से स्वतंत्र होकर व्यक्ति समाज को नये प्रकार से रहने का तरीका बता सकता है। यदि उसका तरीका गलत है तो वह व्यक्ति अपने आप सुधर जावेगा और समाज को अपने रीति रिवाजों और अपनी नैतिकता पर विश्वास हो जावेगा।

डेविडसन के अनुसार व्यक्ति की कार्य स्वतन्त्रता के तर्कों को हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षेप में रख सकते हैं—(१) मनुष्य में बुद्धि के विकास भावनाएँ और इच्छाएँ भी होती हैं इसलिये कार्य स्वतंत्रता देकर हम उसकी भावनाओं और इच्छाओं को या व्यक्ति की सक्रिय और स्फूर्तिपूर्ण प्रकृति को मान्यता देते हैं (२) व्यक्ति का विकास मनुष्य के सुख और कल्याण के लिये आवश्यक है, (३) व्यक्तित्व के विकास को रोकने वाली सामाजिक रीति रिवाजों की निरंकुशता के विरुद्ध विद्रोह करना आवश्यक है।

कार्य की स्वतन्त्रता

व्यक्ति को स्वसंबंधी कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिये जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रकृति से समाज को विभिन्नता दे सके।

स्वसंबंधी कार्यों की स्वतन्त्रता व्यक्ति की भावनाओं को मान्यता देती है उसके व्यक्तित्व का विकास करती है और एक ही सांचे में ढालने वाले रीतिरिवाजों को हटाती है।

मिल की कार्य-स्वतंत्रता के संबन्ध में जो आपत्ति प्रायः उठाई जाती है वह यह है कि व्यक्ति के कार्यों को स्वसंबंधी और परसंबंधी में विभाजित नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यक्ति का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जो दूसरों को प्रभावित न करे। मिल इस आपत्ति को समझता था क्योंकि वह लिखता है, "स्वसंबंधी और परसम्बन्धी व्यक्ति के जीवन का यह विभाजन कई लोग स्वीकार न करें। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि समाज के किसी सदस्य के आचरण के एक भाग के प्रति अन्य सदस्य कैसे उदासीन रह सकते हैं? कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से अकेला नहीं है। यह सम्भव नहीं कि यदि कोई भी व्यक्ति अपने को हानि पहुँचाने वाला कोई गम्भीर और स्थायी कार्य करता है तो उस हानि का प्रभाव उसके निकट सम्बन्धी या अन्य लोगों पर नहीं पड़ेगा ---- यदि कोई मनुष्य अपने दुराचरण या बेवकूफियों से दूसरे को प्रत्यक्ष हानि नहीं भी पहुँचाता तो भी उसका उदाहरण दूसरों के लिये बुरा हो सकता है। इसलिए उस व्यक्ति के कार्यों को देख या सुनकर समाज के अन्य लोग भ्रष्ट हो सकते हैं और उन्हें बचाने के लिये उस व्यक्ति को नियंत्रित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है।"

इस प्रकार मिल यह जानता है कि व्यक्ति के जीवन में स्वसम्बन्धी और परसम्बन्धी कार्यों के बीच विभाजन रेखा खींचना असंभव है। मिल का केवल इतना ही कहना है कि यदि हम इस प्रकार की विभाजन रेखा न खींचें तो सामाजिक नियंत्रण का क्षेत्र बराबर बढ़ता जायगा व्यक्ति को अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने का अवसर न मिलेगा, और इस तरह उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जायेगा। उदाहरण के लिये कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसमें समाज रुचि न लेता हो। यदि वह शराब पीना चाहता हो तो अन्य व्यक्तियों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि वह अपने बच्चे को घर में पढ़ाना चाहता है तो लोग अंगुली उठा सकते हैं कि बच्चे को आवश्यक स्तर तक की शिक्षा नहीं दी जा रही है। यदि कोई घर के सामने बगीचा नहीं लगाता है और मकान को अपने की तरह नहीं रखता है तो पड़ोसियों को अपने मकानों के किराए कम होने की आशंका है—आदि आदि। इस प्रकार व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार से दूसरे लोगों को कुछ न कुछ असुविधाएँ होंगी। मिल का केवल इतना ही कहना है कि जब तक कोई व्यक्ति समाज को प्रत्यक्ष हानि नहीं पहुँचाता तब तक समाज को मानव स्वतन्त्रता के लिये कुछ न

कुछ असुविधायें सहनी ही पड़ेंगी।[1] स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की असुविधायें सहना आवश्यक है। यदि दक्षिण अफ्रीका में कोई नीग्रो श्वेत बस्तियों में जाता है तो उससे श्वेत जाति के लोगों को कोई शारीरिक हानि नहीं पहुँचती अवश्य ही उनकी सामाजिक स्थिति पर उनकी शान पर इसका प्रभाव पड़ता है। परन्तु तुलना में नीग्रो की घूमने फिरने की स्वतन्त्रता का मूल्य किसी की शान पर पड़ने वाले प्रभाव से अधिक है। मिल इस तर्क को भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य सामूहिक असुविधा से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। सच देखा जाये तो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

आशय

स्वसंबंधी और परसंबंधी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं आशय केवल इतना है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ असुविधायें अवश्य सहनी पड़ेंगी, पर यह स्वतंत्रता समाज के ही हित में है।

(७)
प्रतिनिधि-सरकार

अपनी पुस्तक 'रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट' में भी मिल समानता और व्यक्तित्व के विकास को शासन का उद्देश्य बताता है। प्रतिनिधि-सरकार प्रणाली इन दिनों इंग्लैंड में पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी इसलिए मिल के बहुत से विचार इंग्लैंड की शासन संस्था पर ही आधारित हैं पर इंग्लैंड की शासन संस्था का वर्णन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी काल में प्रकाशित बेजहाट की "इंग्लिश कान्स्टीट्यूशन" से भिन्न है। बेजहाट का मुख्य उद्देश्य इंग्लैण्ड की शासन संस्थाओं की परिसीमाएँ बताना है संभावनायें नहीं।

मिल "ऑन लिबर्टी" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय क्षमताओं का विकास करना है और वही सरकार अच्छी कही जायेगी जो अपने नागरिकों में स्वतन्त्र रूप से

[1] "The inconvenience is one, which society can afford to bear for the sake of the greater good of human *freedom*." पृष्ठ ११८

सोचने-समझने तथा गुण-दोष की विवेचना करने के गुणों का विकास करती हो। इस दृष्टि से प्लेटो के दार्शनिक राजा भी सर्वोत्तम सरकार नहीं बना सकते क्योंकि ऐसी निरंकुश शासन प्रणाली में शासित वर्ग ठीक उसी प्रकार सब कार्यों को सरकार पर छोड़ देते हैं जिस प्रकार हम ईश्वर पर सब छोड़े रहते हैं और भीषण परिणामों की परवाह नहीं करते। जब शासकों के कार्यों के बुरे परिणाम हमारे सामने आते हैं तो हम उन्हें प्राकृतिक शक्तियों के प्रकोप की भाँति चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं।[1] निरंकुश शासन सर्वश्रेष्ठ भी हो, तब भी शासितों की दृष्टि से बुरा है क्योंकि इसमें जनता की बौद्धिक और नैतिक क्षमताओं का विकास नहीं होता।

नागरिक स्वयं सरकार के कार्यों में भाग लेकर अपना बौद्धिक विकास कर सकता है क्योंकि शासन कार्य में भाग लेकर ही वह अपने गुण और दोषों को समझता है। इसलिए "आदर्श सरकार वह है जिसमें संप्रभुता या अन्तिम नियन्त्रण की शक्ति समुदाय के पूरे समूह में हो" (प्लेटो के समान जन-समूह में नहीं)। अपने मत की पुष्टि मिल दो तर्कों के आधार पर करता है जिनमें से एक को हम नकारात्मक और दूसरे को सकारात्मक कह सकते हैं। मिल कहता है कि जहाँ केवल एक वर्ग के हाथ में ही सत्ता होती है वहाँ शासक वर्ग कितना ही विवेकशील क्यों न हो वह शासितों के हित पूर्णरूप से नहीं समझ सकता। मिल एक वर्ग के शासन का विरोध इस आधार पर नहीं करता कि यह वर्ग अन्य वर्गों का दमन करेगा। उसका केवल यही कहना है कि यह शासक वर्ग आखिर मनुष्यों का ही बना है और वह शासितों के प्रति अच्छी भावना रखते हुए भी—उनके हित में शासन करने की इच्छा रखते हुए भी—केवल अपने हित को सामने रखता है और वह इसी आधार पर शासन कर सकता है कि जो उसके हित में है वही सबके हित में है। इसलिए मिल इस शासन की समस्या के राजनैतिक पक्ष को नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर देता है।

"हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जब शक्ति एक वर्ग में होती है तो वह वर्ग जानबूझ कर दूसरे वर्ग का बलिदान अपने हित में करेगा। यह कहना काफी है कि अपने हित की रक्षा करने वालों के अभाव में शासन वास्त वि

[1] "Leaving things to the government, like leaving things to Providence, is synonymous with caring nothing about them and accepting their results, when disagreeable, as visitations of nature."

कुछ असुविधायें सहनी ही पड़ेंगी।[1] स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की असुविधायें सहना आवश्यक है। यदि दक्षिण अफ्रीका में कोई नीग्रो श्वेत बस्तियों में जाता है तो उससे श्वेत जाति के लोगों को कोई शारीरिक हानि नहीं पहुँचती अवश्य ही उनकी सामाजिक स्थिति पर, उनकी शान पर इसका प्रभाव पड़ता है। परन्तु तुलना में नीग्रो की घूमने फिरने की स्वतन्त्रता का मूल्य किसी की शान पर पड़ने वाले प्रभाव से अधिक है। मिल इस तर्क को भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य सामूहिक असुविधा से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। जब देखा जावे तो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

आशय

स्वसंबंधी और परसंबंधी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं आशय केवल इतना है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ असुविधायें अवश्य सहनी पड़ेंगी पर यह स्वतंत्रता समाज के ही हित में है।

(७)

प्रतिनिधि-सरकार

अपनी पुस्तक रिप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेंट में भी मिल समानता और व्यक्तित्व के विकास को शासन का उद्देश्य बताता है। प्रतिनिधि-सरकार प्रणाली इन दिनों इंग्लैंड में पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी इसलिए मिल के बहुत से विचार इंग्लैंड की शासन संस्था पर ही आधारित हैं पर इंग्लैंड की शासन संस्था का वर्णन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी काल में प्रकाशित बेजहाट की "इंग्लिश कान्स्टीट्यूशन" से भिन्न है। बेजहाट का मुख्य उद्देश्य इंग्लैण्ड की शासन संस्थाओं की परिसीमायें बताना है संभावनायें नहीं।

मिल "ऑन लिबर्टी" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय क्षमताओं का विकास करना है और वही सरकार अच्छी कही जावेगी जो अपने नागरिकों में स्वतन्त्र रूप से

[1] "The inconvenience is one, which society can afford to bear for the sake of the greater good of human freedom." पृ० ११८

कुछ असुविधायें सहनी ही पड़ेंगी।[1] स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की असुविधायें सहना आवश्यक है। यदि दक्षिण अफ्रीका में कोई नीग्रो श्वेत बस्तियों में जाता है तो उससे श्वेत जाति के लोगों को कोई शारीरिक हानि नहीं पहुँचती अवश्य ही उनकी सामाजिक स्थिति पर उनकी शान पर इसका प्रभाव पड़ता है। परन्तु तुलना में नीग्रो की घूमने फिरने की स्वतन्त्रता का मूल्य किसी की शान पर पड़ने वाले प्रभाव से अधिक है। मिल इस तर्क को भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य सामूहिक असुविधा से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। सच देखा जावे तो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

आशय

स्वसंबंधी और परसंबंधी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं आशय केवल इतना है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ असुविधायें अवश्य सहना पड़ेंगी पर यह स्वतंत्रता समाज के ही हित में है।

(७)

प्रतिनिधि-सरकार

अपनी पुस्तक रिप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेंट में भी मिल समानता और व्यक्तित्व के विकास को शासन का उद्देश्य बताता है। प्रतिनिधि-सरकार प्रणाली इन दिनों इंग्लैंड में पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी इसलिए मिल के बहुत से विचार इंग्लैंड की शासन संस्था पर ही आधारित हैं पर इंग्लैंड की शासन संस्था का वर्णन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी काल में प्रकाशित बेजहाट की "इंग्लिश कान्सटीट्यूशन" से भिन्न है। बेजहाट का मुख्य उद्देश्य इंग्लैण्ड की शासन संस्थाओं की परिसीमायें बताना है संभावनायें नहीं।

। मिल "ऑन लिबर्टी" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय क्षमताओं का विकास करना है और वही सरकार अच्छी कही जावेगी जो अपने नागरिकों में स्वतन्त्र रूप से

[1] "The inconvenience is one which society can afford to bear for the sake of the greater good of human freedom." पृष्ठ ११८

शासन की संस्थायें—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ अवश्य है परन्तु यह आज के बृहद राष्ट्रीय राज्यों के लिये उपयुक्त नहीं। साथ ही मिल प्रतिभाशाली व्यक्तियों को समाज में एक निश्चित स्थान देना चाहता है इसलिये वह प्रतिनिधि-सरकार के पक्ष में है। पर इस प्रतिनिधि सरकार में दक्ष और कुशल व्यक्तियों को अपना स्थान नहीं मिल सकता इसलिये वह कुछ विशिष्ट शासन संस्थाओं की भी चर्चा करता है।

मिल लिखता है कि आज के विस्तृत राष्ट्रीय राज्यों में प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही लोगों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर मिल सकता है। "प्रतिनिधि सरकार वह है जिसमें राज्यों के सभी या बहुसंख्यक नागरिक समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनके द्वारा अपनी नियंत्रण शक्ति का प्रयोग करते हैं।" मिल इस बात की आशा करता है कि साधारण निर्वाचक अपने मताधिकार का प्रयोग उत्तरदायित्व की भावना से करेगा। इसलिए राज्य में वयस्क मताधिकार होना चाहिए। सामान्यतया लोगों में अच्छे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि बनाने की प्रवृत्ति होती है।

जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी हुई विधान सभा यद्यपि सामान्य निर्वाचकों से अधिक दक्ष होती है परन्तु यह साधारण नागरिकों की सभा है इसलिए इसमें प्रशासन करने तथा विधि बनाने की योग्यता की आशा करना व्यर्थ है। विधि बनाने का कार्य बड़े परिश्रम अनुभव और योग्यता का काम है इसलिए यह काम विधान सभा को न देकर एक छोटी संस्था को देना चाहिए जिसके सदस्य अधिक अनुभवी और दक्ष हों। इस संस्था में राजनैतिक दलों के नेता तथा दक्ष सरकारी कर्मचारी हों। विधान सभा का कार्य इस समिति या मन्त्री परिषद के कार्यों की आलोचना करना तथा अवसर पड़ने पर उन्हें पद से हटाने तक ही सीमित होना चाहिए।

"शासन करने की अपेक्षा जिसके लिए यह पूर्ण अयोग्य है, प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्य है—सरकार का नियन्त्रण या उसकी देखरेख करना उसके कार्यों का विज्ञापन करना जिन कार्यों पर किसी को सन्देह हो उनका स्पष्टीकरण करना विभिन्न कार्यों की आलोचना करना और यदि सरकार का निर्माण करने वाले व्यक्ति उनमें रखे गये विश्वास का दुरुपयोग करते हैं या राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध कार्य करते हैं तो उन्हें पद से हटाना और उनके

वंचित वर्ग के हितों की उपेक्षा होने का भय रहता है और जब उनके हितों की चिन्ता की जाती है तो उस वर्ग से प्रत्यक्ष संबंध रखने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से उनके शुभ चिन्तकों का दृष्टिकोण भिन्न होता है"।[1]

सकारात्मक दृष्टि से प्रजातन्त्र में ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित सुरक्षित करने का अवसर मिलता है। 'प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और हित उसी समय सुरक्षित रह सकते हैं और उनकी अवहेलना नहीं हो सकती जब मनुष्य में अपने अधिकारों के लिए खड़े होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो'[2]। या दूसरे शब्दों में प्रजातंत्र में ही व्यक्ति का व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र वही शासन है जिसमें न केवल सबके हित सुरक्षित होते हैं वरन् जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिलता है। प्रजातंत्र में काम करते हुए व्यक्ति अपना हित तो देखेगा ही साथ ही वह दूसरों के साथ रह कर काम करना भी सीखेगा सामान्य हित को समझेगा और उस सामान्य हित में अपना हित देखेगा। वह अपने को नागरिक समूह का अंग समझेगा और उसके हित में अपना हित मानेगा"[3]।

यहाँ एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। रूसो की शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में अपने व्यक्तित्व को विलीन कर देता है और वह अपने को—स्वार्थगत हित को सामान्य इच्छा के विवेकपूर्ण हित में लीन कर देता है। मिल की यह भावना नहीं है। मिल का इतना ही कहना है कि पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रजातन्त्र में व्यक्ति न केवल अपना हित देखता रहेगा वरन् वह सामाजिक हित को भी समझने लगेगा। मिल की शासन व्यवस्था में राज्य स्वयं एक नैतिक इकाई नहीं है वरन् वह विभिन्न व्यक्तित्व रखने वाले व्यक्तियों का केवल समूह मात्र ही है।

प्रतिनिधि सरकार

यह इस प्रणाली की संभावनाओं की विवेचना करता है।

प्रजातंत्र ही अच्छी सरकार है, क्योंकि इसमें सभी व्यक्ति अपने हित को सुरक्षित रख सकते हैं और दूसरों के साथ मिलकर सामाजिक हित को स्वीकार करते हैं।

वर्ग सरकार इसलिये बुरी है कि उसे दूसरे वर्गों के हित का अनुभव नहीं।

---

[1]रिप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेंट पृष्ठ २ ६

[2]वही पृष्ठ १०८

[3]वही पृष्ठ २१७

शासन की संस्थायें—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ अवश्य है परन्तु वह आज के बृहद राष्ट्रीय राज्यों के लिये उपयुक्त नहीं। साथ ही मिल प्रतिभाशाली व्यक्तियों को समाज में एक निश्चित स्थान देना चाहता है इसलिये वह प्रतिनिधि-सरकार के पक्ष में है। पर इस प्रतिनिधि सरकार में दक्ष और कुशल व्यक्तियों को अपना स्थान नहीं मिल सकता इसलिये वह कुछ विशिष्ट शासन संस्थाओं की भी चर्चा करता है।

मिल लिखता है कि आज के विस्तृत राष्ट्रीय राज्यों में प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही लोगों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर मिल सकता है। "प्रतिनिधि सरकार वह है जिसमें राज्यों के सभी या बहुसंख्यक नागरिक समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनके द्वारा अपनी नियंत्रण शक्ति का प्रयोग करते हैं।" मिल इस बात की आशा करता है कि साधारण निर्वाचक अपने मताधिकार का प्रयोग उत्तरदायित्व की भावना से करेगा। इसलिए राज्य में वयस्क मताधिकार होना चाहिए। सामान्यतया लोगों में अच्छे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि बनाने की प्रवृत्ति होती है।

जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी हुई विधान सभा यद्यपि सामान्य निर्वाचकों से अधिक दक्ष होती है परन्तु यह साधारण नागरिकों की सभा है इसलिए इसमें प्रशासन करने तथा विधि बनाने की योग्यता की आशा करना व्यर्थ है। विधि बनाने का कार्य बड़े परिश्रम अनुभव और योग्यता का काम है इसलिए यह काम विधान सभा को न देकर एक छोटी संस्था को देना चाहिए जिसके सदस्य अधिक अनुभवी और दक्ष हों। इस संस्था में राजनतिक दलों के नेता तथा बड़े सरकारी कर्मचारी हों। विधान सभा का कार्य इस समिति या मन्त्री परिषद के कार्यों की आलोचना करना तथा अवसर पड़ने पर उन्हें पद से हटाने तक ही सीमित होना चाहिए।

"शासन करने की अपेक्षा जिसके लिए यह पूर्ण अयोग्य है, प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्य है—सरकार का नियन्त्रण या उसकी देखरेख करना उसके कार्यों का विज्ञापन करना जिन बातों पर किसी को सन्देह हो उनका स्पष्टीकरण करना विभिन्न कार्यों की आलोचना करना और यदि सरकार का निर्माण करने वाले व्यक्ति उनमें रखे गये विश्वास का दुरुपयोग करते हैं या राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध कार्य करते हैं तो उन्हें पद से हटाना और उनके

उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करना। देश की स्वतन्त्रता के लिए विधान सभा के पास ये शक्तियाँ और सुरक्षायें हैं।"[1]

शासन की इन विभिन्न संस्थाओं की स्थापना करने में मिल का मुख्य उद्देश्य दक्षता या बौद्धिकता से प्रजातन्त्र का सम्बन्ध करना है। शासन का कार्य तो दक्ष और अनुभवी लोगों के हाथ में होगा परन्तु विधान सभा अपने वाद-विवाद द्वारा प्रस्ताव के प्रत्येक पहलू पर विचार करेगी और जनता में पाये जाने वाले विभिन्न मतों को सरकार के सामने रखेगी। प्रतिनिधि-सरकार की यह विशेषता है कि इसके द्वारा सरकार के कार्यों पर बौद्धिक व्यक्तियों का प्रभाव रहता है।

बौद्धिकता और प्रजातंत्र का समन्वय—

प्रजातंत्र औसत मनुष्य को अपने हित में शासित होने का अधिकार देता है परन्तु औसत मनुष्य अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को नहीं समझता वह केवल अपनी इच्छा को समझता है आज की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न करता है। केवल विवेकशील प्राणी ही मनुष्य की अन्तिम आवश्यकताओं (needs) और स्थायी हितों को जानता है इसलिए शासन में दक्ष और कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। ये कर्मचारी जनता के प्रतिनिधियों को समाज की आवश्यकताओं का ज्ञान कराते हैं और जनता के प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र को इस प्रकार का ज्ञान देते हैं। इसलिये समाज के लिये नीति निर्धारण और विधियाँ बनाने में इन कर्मचारियों का हाथ होना चाहिये।

शासन के इन कर्मचारियों की नियुक्ति निर्वाचन प्रणाली से कभी भी नहीं होना चाहिए क्योंकि औसत मनुष्य अपने समान ही औसत व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बनाता है। जो विवेकशील हैं जिनमें प्रतिभा है ऐसे लोग कभी भी निर्वाचन में स्थान नहीं पा सकते। इस लिये मिल का कहना था कि कर्मचारियों की नियुक्ति परीक्षा लेकर एक स्वतंत्र आयोग द्वारा होनी चाहिये। इसी प्रकार जनता को इन्हें पदच्युत करने का अधिकार न हो। यह अधिकार

शासन संस्थायें

वयस्क मताधिकार।

विधान सभा के कार्य सरकार का नियन्त्रण, जनता के विभिन्न विचारों को सरकार के सामने रखना सरकार की नीति को निर्वाचन क्षेत्रों में समझाना।

---

[1] रिप्रिजेन्टेटिव गवर्मेंट पृष्ठ २११

विधान सभा को दिया जा सकता है। विधान सभा को ही इस कर्मचारी वर्ग पर नियंत्रण रखना चाहिये क्योंकि विधान सभा जनता की प्रतिनिधि है और वह अपने नियंत्रण से कर्मचारी वर्ग को बता सकती है कि जनता चाहती क्या है। यदि सारी शक्ति कर्मचारी वर्ग के हाथ में ही आ गई तो वह अपने हित को जनता का हित समझने लगेंगे साथ ही वे जनता की आम की इच्छाओं की भी उपेक्षा करेंगे। शासन जनता के लिये है इसलिये हमें इच्छाओं और आवश्यकताओं का उचित सम्मिश्रण करना आवश्यक है।

मंत्री परिषद का कार्य :—विधि बनाना।
कर्मचारी : इनकी नियुक्ति परीक्षा लेकर आयोग द्वारा हो
कार्य जनता के स्थायी हितों को विधान सभा के सामने रखना तथा विधि बनाने में सहयोग देना।

बहुसंख्यक दल की निरंकुशता—

मिल यह मानता था कि प्रायः प्रतिनिधि सरकार बहुमत दल के नेतृत्व में चलती है। मिल स्वभाव से ही किसी वर्ग विशेष की सरकार का विरोधी है। वह लिखता है वास्तव में बहुदल की निरंकुशता की समस्या इस बात में है कि बहुदल के सदस्य अपने व्यक्तित्व को वर्ग में विलीन करके काम करते हैं। वे वैयक्तिक रूप में काम नहीं करते। इसलिये सामाजिक निर्णय में हमें वर्गहितों पर नहीं वैयक्तिक हितों पर जोर देना चाहिए। जब हम वर्ग हित को महत्ता देते हैं तो यह आशंका होने लगती है कि शासनारूढ़ वर्ग दूसरे वर्ग की उपेक्षा करेगा। पर यदि हम वैयक्तिक हितों पर जोर दें तो समाज की विभिन्न समस्याओं का हल करने में व्यक्ति एक स्थायी वर्ग नहीं बनायेंगे वरन् वे समस्याओं के अनुसार अलग अलग व्यक्तियों से मिलकर काम करेंगे। परन्तु औसत आदमी अपने हित को वैयक्तिक हित के रूप में नहीं देखता। वह अपने हित को समान हित रखने वाले व्यक्तियों के साथ मिल कर पूरा करता है। तब सरकार को वर्ग सरकार से कैसे मुक्ति मिल सकती है? इसके दो उपाय हैं—(१) विधान सभा में स्वतंत्र रूप से निर्वाचित सदस्य और (२) अनुपातिक प्रतिनिधि प्रणाली। स्वतंत्र सदस्य किसी दल के नहीं होते और मिल के अनुसार इनके उच्च आदर्श होते हैं। ये अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं और यद्यपि इनकी संख्या विधान सभा में कम होती है परन्तु वे विभिन्न वर्गों के बीच संतुलन रखते हैं और किसी वर्ग हित में विधियाँ नहीं बनने देते।

साथ ही विभिन्न दलों के साथ सहयोग कर के विधान सभा का ध्यान स्थायी हित की ओर आकर्षित करते हैं। इसलिये विधान सभा में स्वतंत्र सदस्यों के लिये स्थान होना चाहिए और ये सदस्य विश्वविद्यालय या अन्य विशेष हितों द्वारा निर्वाचित हो सकते हैं।

बहुसंख्यक की निरंकुशता

[जहाँ हित देखती है वैयक्तिक हित नहीं यदि व्यक्तिगत हित देखा जाने लगे तो दल स्थायी न हो सकेगा]

स्वतंत्र सदस्य और आनुपातिक प्रतिनिधित्व भी इस निरंकुशता को समाप्त कर सकते हैं।

फिर बहुमत को नियंत्रित करने तथा उसकी आलोचना करने के लिये अल्पमत भी विधान सभा में होता है जो अपने कार्यों से भविष्य में बहुमत बनाने की आशा रख सकता है। अल्पमत को स्थान देने के लिये मिल ने हेयर प्रणाली (या आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली) का समर्थन किया है।

इस प्रकार अपनी प्रतिनिधि सरकार में मिल ऑन लिबर्टी में प्रतिपादित वाद-विवाद और व्यक्तित्व की महत्ता पर ही जोर देता है। लिबर्टी की तुलना में उसकी रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट आकार में बड़ी पुस्तक अवश्य है पर राज्य दर्शन की दृष्टि से ऑन लिबर्टी अधिक अच्छी पुस्तक है।

(८)

मिल का स्थान

मिल ने 'स्वतंत्रता' और 'प्रतिनिधि सरकार' में वैयक्तिकता पर इतना अधिक जोर दिया है कि ऐसा मालूम होता है कि मिल सामाजिक पक्ष को बिलकुल ही भूल गया है। लिबर्टी में वह व्यक्ति को सामाजिक रीति-रिवाजों और लोकमत की निरंकुशता से मुक्ति दिलाना चाहता है। कोमटे ने जब डाकविमी के सामाजिक अनुरूपता (Conformities) के विश्लेषण की सराहना की थी तो मिल ने कोमटे पर यह आरोप लगाया था कि कोमटे व्यक्ति पर समाज की निरंकुशता स्थापित करना चाहता है। मिल व्यक्ति के आचरण और विचारों में हस्तक्षेप करने का अधिकार समाज को नहीं देता। तब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति को यह स्वतंत्रता कौन देगा? यदि प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली समाज की ही एजेन्ट है तो यह आशा नहीं की जा सकती कि समाज की निरंकुशता से राज्य द्वारा व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी। मिल के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है। उसका अपना निजी अस्तित्व नहीं।

इसलिये वह समाज और व्यक्ति के बीच सामंजस्य संबंध स्थापित नहीं कर सका और न बता सका कि समाज में रहकर ही समाज के द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मिल के इस अभाव की पूर्ति आगे चलकर ग्रीन ने की है। परन्तु समाज और व्यक्ति के आपसी संबंधों का निरूपण न करने के कारण बार्कर के शब्दों में मिल केवल "खोखली स्वतंत्रता का पैगम्बर" ही रहा है। वह स्वतंत्रता के सच्चे अर्थ को नहीं देख सका।

परन्तु समाज का अपना निजी स्थान है, अपना निजी अस्तित्व है, इसलिये तीक्ष्ण दृष्टि वाला मिल उसकी अवहेलना भी नहीं कर सका है। कई स्थानों पर उसने समाज के इस स्वरूप को मान्यता दी है जिसके कारण उसके विचारों में विरोध भी दिखाई देता है। बढ़ती हुई आबादी पर विचार व्यक्त करते हुए वह लिखता है कि लोकमत परिवारों बड़े कुटुम्बों का विरोध करे तो व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति कम करेगा। "जो भी व्यक्ति यह सोचता है कि लोकमत का प्रभाव मनुष्य के आचरण पर नहीं पड़ेगा वह मानवीय प्रकृति से पूर्ण अनभिज्ञ है।" रिप्रिजेन्टेटिव गवर्नमेंट में वह गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान का समर्थन करता है और लिखता है कि मताधिकार जनता द्वारा दिया गया है इसलिये उसका प्रयोग जनता के सामने और उसकी आलोचना के अंतर्गत होना चाहिये। आर्थिक क्षेत्र में भी मिल नम्र समाजवाद का पोषक है।

खोखली स्वतन्त्रता

मिल राज्य को व्यक्तियों का समूह ही मानता है पर कहीं कहीं उसका स्वतंत्र अस्तित्व भी मानता है। मिल व्यक्ति और समाज में सामञ्जस्य संबंध स्थापित न कर सकने के कारण खोखली स्वतन्त्रता का पैगम्बर है।

जान स्टुअर्ट मिल को उपयोगितावादी सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए ही सारी शिक्षा दी गई थी इसलिये वह अपने जीवन में बेंथम द्वारा दिये गये उपयोगितावादी सिद्धान्त का ही समर्थक रहा। परन्तु मिल अपने व्यापक अनुभव और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से उपयोगितावादी सिद्धान्त की कमियों को अच्छी तरह देख सकता था। इन त्रुटियों को हटाने में उसने इस सिद्धान्त को भावनाओं और नैतिकता का मिश्रण कर अधिक मानवीय तो अवश्य बना दिया परन्तु इससे प्रारम्भिक उपयोगितावादी सिद्धान्त अपना रूप बनाये न रख सका। सेबाइन का कहना है जिस सिद्धान्त का मिल समर्थन करने बैठा था उस सिद्धान्त से अलग हटने में या उपयोगितावादी परम्परा का संशोधन

करने में मिल के दर्शन की महत्ता है।[1] उसने यह बताया कि मनुष्य केवल सुख नहीं चाहता मनुष्योचित या नैतिक सुख चाहता है। लिबर्टी में भी उसका यही सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उसका कहना है कि मानवीय स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी है परन्तु स्वतंत्रता का केवल उपयोगिता के आधार पर ही वह समर्थन नहीं करता। स्वतंत्रता मनुष्य को अपनी वैयक्तिकता विकास करने का अवसर देती है जिससे मनुष्य का नैतिक चरित्र बनता है। इस प्रकार मिल ने उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिकता और उच्च आदर्शों को स्थान दिया।

प्रजातांत्रिक सरकार की चर्चा करते हुए मिल समाज को मनुष्य की स्वतंत्रता का मुख्य शत्रु बताता है। वह व्यक्ति को समाज की रीति रिवाजों की निरंकुशता से मुक्ति दिलाना चाहता है। इसी प्रकार वह प्रारंभिक व्यक्तिवादियों के समान व्यक्ति को सरकार की निरंकुशता से नहीं वरन् बहुमत की निरंकुशता से मुक्त कराना चाहता है। पर अपने इन विचारों में मिल ने सबसे पहिले यह विचार रखा कि प्रजातांत्रिक सरकार केवल प्रजातांत्रिक समाज में ही संभव है। राजनैतिक संस्थायें वास्तव में सामाजिक संस्थाओं का ही अंग है और सामाजिक वातावरण ही उनके संगठन या कार्य प्रणाली को निश्चित करता है। इस प्रकार मिल ने व्यक्ति और राज्य के संबन्धों का विवेचन करते तथा व्यक्ति स्वतंत्रता के लिए समाज को भी महत्ता दी।

सेबाइन के अनुसार उदारवादी दर्शन में मिल का योगदान चार बातों में है (१) उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिक भावना का मिश्रण कर उसने कान्ट के समान ही मानव व्यक्तित्व को मान्यता दी और उसका संबंध नैतिक उत्तरदायित्व से स्थापित किया (२) उसने सामाजिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता को स्वयं में अच्छा बताया। स्वतंत्रता इसलिए अच्छी नहीं कि इसको हम अन्य साध्यों का साधन बना सकते हैं वरन् इसलिए अच्छी है कि यह उत्तरदायी मनुष्य के जीवन का अंग है। स्वतन्त्र रूप से अपने विचार रखना उनके अनुसार कार्य करना अपनी क्षमताओं का विकास स्वयं अच्छी बातें हैं न कि हम इनसे सुख प्राप्त कर सकते हैं। (३) स्वतन्त्रता केवल वैयक्तिक नहीं सामाजिक अच्छाई है। किसी विचार के दमन से व्यक्ति को नहीं समाज को हानि पहुँचाती है। (४) स्वतंत्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य

---

[1] सेबाइन—पृष्ठ ५६१

व्यक्ति को अकेले छोड़ देना नहीं है वरन् उसका काम है अपने नियमों से व्यक्ति के कार्य करने के अवसरों को बढ़ाना।

मिल का राजनैतिक दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। वहाँ [redacted] प्रजातांत्रिक भावना में उसने बुराइयों को देखा था। उसका उद्देश्य था इन बुराइयों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना। डि टाकविले ने अपने अमेरिकन संविधान के अध्ययन से यह स्पष्ट कर दिया था कि ज्यों ज्यों प्रजातन्त्र विकसित होगा त्यों त्यों मनुष्य में स्वतन्त्रता की नहीं दासता की भावना जाग्रत होगी, मनुष्य अपने व्यक्तित्व को; अपने नैतिक साहस को और अपनी स्वतन्त्रता की गरिमा को खो देगा। मिल ने इसी कारण वैयक्तिकता के विकास पर अधिक जोर दिया। साथ ही उसने यह देखा था कि वयस्क मताधिकार के बढ़ने से प्रजातन्त्र मूर्खों की सरकार हो जायेगी। मिल मनुष्य की प्रकृति को बहुत ही हीन समझता है। इसलिए उसे इस बात की चिन्ता थी कि उच्च विचार वाले व्यक्ति समाज के शिकार न बन जायें। वे समाज की निरंकुशता से मुक्त रखे जायें तभी समाज का कल्याण हो सकता है। मिल का उद्देश्य था प्रजातन्त्र को बुराइयों से सुरक्षित करना।

मिल की देन

उपयोगितावाद को अधिक मानवी बनाया। स्वतन्त्रता वैज्ञानिक और वैयक्तिक जीवन के लिये आवश्यक है स्वतन्त्रता का स्वयं अपना मूल्य है।

प्रजातांत्रिक सरकार के लिये प्रजातांत्रिक समाज की आवश्यकता है।

कार्ल-मार्क्स

(१८१८—१८८३)

(१) जीवन और समस्या
(२) विचारों का स्रोत
(३) आर्थिक नियतिवाद
(४) भौतिक द्वन्द्ववाद
(५) वर्ग संघर्ष
(६) भौतिक वादी द्वन्द्ववाद की आलोचना
(७) आर्थिक सिद्धान्त
(८) नई सामाजिक व्यवस्था
(९) मार्क्स का स्थान

(१)
जीवन और समस्या

कार्ल-मार्क्स का जन्म जर्मनी के ट्रीव्ज़ नगर में १८१८ में हुआ था। इसका पिता यहूदी था जिसने १८२४ में प्रोटेस्टेन्ट धर्म अपना लिया था। १८४१ में मार्क्स अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर प्रोफेसर बनने के लिये प्रयत्नशील हुआ परन्तु सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण जिससे ब्रूनोबावर को भाषण देने की मनाही करदी गई थी मार्क्स ने प्रोफेसर बनने का विचार छोड़ दिया। इस समय वामपक्षीय हीगलवादियों की विचार धारा जोरों पर थी और लुडविग फ्यूयरबैक भौतिकवादी दर्शन प्रतिष्ठित कर रहा था। एंजिल्स लिखता है कि इस समय हम फ्यूयरबैक के अनुयायी हो गये। १८४२ में मार्क्स एक पत्र का प्रधान संपादक बना परन्तु मार्क्स के क्रांतिकारी विचारों के कारण उसे यह पत्र त्यागना पड़ा।

१८४४ में मार्क्स फ्रेडरिक एंजिल्स के सम्पर्क में आया। ये दोनों समान विचारों के कारण जीवन-पर्यन्त मित्र बन गये। दोनों ने पेरिस में क्रान्तिकारी

दल में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। १८४५ में खतरनाक क्रान्तिकारी समझे जाने के कारण मार्क्स पेरिस से निकाल दिया गया। १८४७ में मार्क्स और एंजिल ने कम्युनिस्ट लीग की गुप्त कार्यवाहियों में भाग लेना प्रारंभ किया और इस लीग की विचारधाराओं को 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' नामक पुस्तक में १८४८ में प्रकाशित किया। इस पुस्तक में ही मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास केपिटल' है।

क्रान्तियों में भाग लेने के कारण मार्क्स यूरोप के एक राज्य से दूसरे राज्यों में भागता रहा। अन्त में वह लन्दन आया और अपनी मृत्यु तक इसी देश में रहा।

अन्य राजनीतिक दार्शनिकों की तुलना में मार्क्स का आधुनिक राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। मार्क्स लिखता है कि अभी तक सभी दार्शनिक जगत का विश्लेषण करने में लगे रहे हैं परन्तु दार्शनिकों का मुख्य काम जगत का विश्लेषण करना नहीं वरन् उसे बदलना है। मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं और इतिहास का न केवल एक नये दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है वरन् उसने समाज किन नियमों से परिवर्तित हो रहा है और किस ओर जा रहा है उसकी रूपरेखा भी वैज्ञानिक तरीके से दी है। उसके विचारों को उसके जीवन-काल में ही मान्यता दी जाने लगी थी। परन्तु १९१७ की रूसी क्रान्ति के पश्चात् जब उसके विचारों को व्यवहारिक रूप दिया जाने लगा तो विश्व की राजनीति पर उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। आज मार्क्सवाद संसार की राजनीति और दर्शन के लिए एक बड़ी चुनौती बन गया है।

विश्व राजनीति पर मार्क्सवाद के इतने प्रभावशाली होने के कई कारण हैं। मार्क्स उस युग में लिख रहा था जब विज्ञान और मशीनों ने समाज में बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। पूँजीपतियों ने औद्योगिक क्रान्ति से लाभ उठाकर वस्तुओं का उत्पादन अधिक मात्रा में करना प्रारम्भ कर दिया था। मार्क्स मशीन के द्वारा लाये गये इस चमत्कारिक परिवर्तन को स्वीकार करता है। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में वह लिखता है कि, "पूँजीपतियों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य अपने कार्यों से कितना चमत्कार कर सकता है। आज के चमत्कार ईजिप्ट के पिरामिड से महान हैं। पूँजीपतियों ने सारे राष्ट्रों में सभ्यता का विकास किया है बड़े-बड़े शहर बनाये हैं, और इस प्रकार संसार की बहुत आबादी को देहातीपन की जिन्दगी से बचा लिया है-- --प्रकृति पर

विजय पाकर, रसायन शास्त्र का कृषि में उपयोग कर, रेल-तार द्वारा नदियों से नहरें निकाल कर, इन सौ वर्षों में मनुष्य ने वह प्रगति की है जो अठारहवीं शताब्दी तक संभव नहीं दिखाई देती थी। यह सब मनुष्य के श्रम का परिणाम है।"

परन्तु मार्क्स पूँजीवाद के द्वारा लाई गई बुराइयों को भी देख सका था। इस पूँजीवाद ने मनुष्यों के बीच केवल स्वार्थ के अलावा और कोई संबंध नहीं रहने दिया है। पूँजीपति ने रुपये के कुछ टुकड़े देकर श्रमिकों को अपना दास बना लिया है। स्नेह ममता आदि समाप्त हो गई हैं और अब मनुष्य के सारे संबंध केवल रुपये के आधार पर चलते हैं। इस प्रकार इस विज्ञान के चमत्कारिक युग ने मनुष्य समाज में शोषण और दुखी जीवन को भी जन्म दिया है।

पूँजीवाद की इन बुराइयों को अन्य लोग भी जानते थे। प्रोधों का कहना था कि संपत्ति चोरी है। सेंट साइमन वर्ग संघर्ष के विचारों को मानता है, और सिसमांडी पूँजीवादी व्यवस्था में आने वाले संकटों को देखता है। ये सब लेखक भी नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु मार्क्स इन सब लेखकों को 'काल्पनिक जगत के समाजवादी" या "यूटोपियन सोशलिस्ट" कहता है। वह इनकी कटु आलोचना करता है। उसके अनुसार ये समाजवादी पूँजीवाद की बुराइयों को तो हटाना चाहते हैं, स्वयं पूँजीवाद को नहीं। दूसरे, ये यह बताने में भी असमर्थ हैं कि उनका समाजवाद और नई सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार स्थापित हो सकती। इन काल्पनिक समाजवादियों के विरुद्ध में मार्क्स अपने को वैज्ञानिक समाजवादी कहता है, क्योंकि वह सामाजिक संस्थाओं को तथा उनमें होने वाले परिवर्तन को वैज्ञानिक नियमों द्वारा समझाता है। उसका कहना है कि समाज के सारे परिवर्तन कुछ नियमों के कारण होते हैं और यही नियम अन्तिम समाजवाद की स्थापना करेंगे। मार्क्स के इस वैज्ञानिक पक्ष को वैज्ञानिक युग के लोगों ने स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लिया है।

ग्रन्थ

कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (१८४८)।

दास कैपिटल (१८६७)।

पूँजीवादी व्यवस्था के गुण दोषों की विवेचना और सामाजिक परिवर्तन का वैज्ञानिक नियम।

समाज को नया मार्ग।

मार्क्स का सामाजिक-परिवर्तन का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्णरूप से तो वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता परंतु उसने श्रमिकों के लिए अवश्य एक नया धर्म

एक नया नारा दिया है। एक मसीहा की भांति वह आने वाले युग का चित्र प्रदर्शित करता है और कहता है कि 'संसार के श्रमिको एक हो जाओ, तुम्हें अपनी बेड़ियों के अलावा और कुछ नहीं खोना है।" इस प्रकार मार्क्सवाद एक नया धर्म हो गया है। धर्म और विज्ञान के इस विचित्र मिश्रण ने संसार के बहुत से लोगों को मोह लिया है और आज मार्क्सवाद राजनीति की महान् शक्ति बन बैठा है। मार्क्स का अनुयायी लेनिन लिखता है "मार्क्सवादी सिद्धान्त सर्वशक्तिमान है क्योंकि वह सत्य है। यह पूर्ण और समन्वित सिद्धान्त है, और मनुष्यों को अविकल विश्वविचार देता है जो प्रत्येक प्रकार के अन्धविश्वास प्रतिक्रियावाद और पूँजीवादी दमन के समर्थन का विरोधी है। १९वीं शताब्दी में मानव द्वारा बनाई गई सर्वश्रेष्ठ विचारधाराओं का यह उत्तराधिकारी है।"[1]

(२)
विचारों का स्रोत

मार्क्स अपने विचार जर्मन दर्शन इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों और फ्रांस के समाजवादियों से लेता है, और इन तीनों विचारधाराओं को मिलाकर नया दर्शन उपस्थित करता है।

जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल से वह द्वन्द्ववाद की पद्धति को अपनाता है। परन्तु हीगल के दर्शन में विचार और विवेक को प्रधानता दी गई है। इसके विपरीत मार्क्स भौतिक जगत को महत्ता देता है। मार्क्स का कहना है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था ही सारे सामाजिक संगठन साहित्य कला और विचारों को निश्चित करती है, इसलिए यदि हीगेल आदर्शवादी है तो मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी है। वह आर्थिक नियति (economic determinism) में विश्वास करता है।

---

[1] "The Marxian doctrine is omnipotent because it is true. It is complete, and harmonious, and provides men with an integral world conception which is irreconcilable with any form of superstition reaction or defence of bourgeois oppression. It is the legitimate successor of the best that was created by humanity in the nineteenth century."

Karl Marx—Selected Works, Vol. I. Moscow page 45.

चूँकि समाज परिवर्तनशील है, और उसमें परिवर्तन होता रहता है इसलिए समाज के स्वरूप को क्रियात्मक रूप में समझना आवश्यक है। १६वीं शताब्दी के दार्शनिक समाज के क्रियात्मक रूप का ही विश्लेषण करते हैं। हीगल ने इस विश्लेषण में द्वन्द्ववाद की रीति का ही उपयोग किया था, मार्क्स भी इसी रीति को अपनाता है इसलिये भौतिकवादी होने के कारण उसकी रीति 'भौतिकवादी द्वन्द्ववाद' कही जाती है।

चूँकि मार्क्स के दर्शन में आर्थिक नींव पर ही पूरा समाज आधारित है, इसलिए मार्क्स आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण को ही प्रमुखता देता है। इस संबंध में वह यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के बराबर है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आदम-स्मिथ और रिकार्डो ने सबसे पहिले मूल्य का श्रम-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इसलिए मार्क्स के दर्शन में इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का भी योग है।

इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने श्रम सिद्धान्त का प्रयोग केवल दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए किया था कि किस प्रकार हम दो वस्तुओं की विनिमय (या अदला बदली) की दर उस पर लगे श्रम के आधार पर निश्चित कर सकते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का अधिक व्यापक उपयोग किया है। इसके द्वारा वह केवल वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को ही नहीं वरन् मनुष्य के पारस्परिक संबंधों को भी स्पष्ट करता है। वह लिखता है कि वस्तु के आदान-प्रदान से मनुष्य भी संबंधित होते हैं और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी आर्थिक व्यवस्था के अंग बन जाते हैं। श्रम सिद्धान्त से वह पूंजी की भी विशेषता बताता है। पूँजी के द्वारा मनुष्य का श्रम खरीदा जाने लगता है। मजदूर पूंजीपतियों को अपना श्रम बेचने लगते हैं। इस प्रकार श्रम स्वयं एक खरीदने और बेचने वाली वस्तु हो जाती है। मजदूर, पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचकर उस श्रम का एक भाग अपनी जीविका चलाने के लिये और दूसरा भाग पूंजीपतियों के मुनाफे के लिए काम में लाता है। इस प्रकार श्रमिक अपने परिश्रम से पूंजीपतियों के लिये अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी मार्क्स का अपना निजी सिद्धान्त है।

पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को देखकर ही फ्रांस में समाजवादी धारा चली थी जो पूँजीवाद में सुधार करना चाहती थी। इनमें से कुछ नेताओं ने वर्गसंघर्ष की भी चर्चा की थी। मार्क्स ने इस समाजवादी धारा को

अपनाकर एक नया रूप दिया। इसीलिए वह अपने सिद्धान्त को साम्यवादी सिद्धान्त कहता है। उसका कहना है कि हमारा सारा सामाजिक परिवर्तन ही नई सामाजिक व्यवस्था की ओर जा रहा है और चूँकि सारी सामाजिक व्यवस्था आर्थिक नींव पर आधारित है इसलिए नई साम्यवादी व्यवस्था में पूँजीवाद की कोई स्थान न रहेगा। इसलिए जहाँ फ्रांस के समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था में सुधार करना चाहते थे वहाँ मार्क्स इस व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है। दूसरे जहाँ इन समाजवादियों में वर्गसंघर्ष की केवल चर्चामात्र हुई थी वहाँ मार्क्स ने वर्गसंघर्ष को बड़ी महत्ता दी है और यह कहा कि संसार का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष पर आधारित है।

विचारों के स्रोत

जर्मन दर्शन—हीगेल का द्वन्द्ववाद (सामाजिक परिवर्तन का नियम, क्रांति)

फ्रांस—समाजवादी सिद्धान्त (वर्ग संघर्ष)।

इंग्लैंड—मूल्य का श्रम सिद्धान्त (पूँजी और शोषण)।

इस प्रकार मार्क्स के राजनीतिक दर्शन के मुख्य तत्व हैं—

(१) आर्थिक नियतिवाद (२) भौतिक द्वन्द्ववाद (३) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (४) वर्ग-संघर्ष (५) साम्यवादी व्यवस्था।

(१)
आर्थिक नियतिवाद

साधारणतः लोगों का यह विचार है कि महापुरुष, धर्म, युद्ध, दर्शन और विचार समाज के स्वरूप का निर्माण करते हैं। इतिहास हमें इस प्रकार के कई उदाहरण देता है जिनसे इन विचारों का समर्थन होता है। नेपोलियन, गौतम-बुद्ध, अशोक, सिकन्दर महान आदि ने इतिहास और समाज को प्रभावित किया है। ईसाई-धर्म, मुस्लिम धर्म, बौद्ध धर्म का भी सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इसलिये इस कथन में काफी सत्य है कि इतिहास का निर्माण युद्ध, धर्म, नेता और विचारों द्वारा हुआ है।

परन्तु मार्क्स इस कथन पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि युग विशेष की आर्थिक-व्यवस्था पूरे समाज के स्वरूप को बनाती है। समाज का

चूँकि समाज परिवर्तनशील है, और उसमें परिवर्तन होता रहता है इसलिए समाज के स्वरूप को गत्यात्मक रूप में समझना आवश्यक है। १९वीं शताब्दी के दार्शनिक समाज के गत्यात्मक रूप का ही विश्लेषण करते हैं। हीगल ने इस विश्लेषण में द्वन्द्ववाद की रीति का ही उपयोग किया था, मार्क्स भी इसी रीति को अपनाता है इसलिये भौतिकवादी होने के कारण उसकी रीति 'भौतिकवादी द्वन्द्ववाद' कही जाती है।

चूँकि मार्क्स के दर्शन में आर्थिक नींव पर ही पूरा समाज आधारित है इसलिए मार्क्स आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण को ही प्रमुखता देता है। इस संबंध में वह यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के बराबर है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आदम-स्मिथ और रिकार्डो ने सबसे पहिले मूल्य का श्रम-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इसलिए मार्क्स के दर्शन में इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का भी योग है।

इग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने श्रम सिद्धान्त का प्रयोग केवल दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए किया था कि किस प्रकार हम दो वस्तुओं की विनिमय (या अदला बदली) की दर उस पर लगे श्रम के आधार पर निश्चित कर सकते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का अधिक व्यापक उपयोग किया है। इसके द्वारा वह केवल वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को ही नहीं वरन् मनुष्य के पारस्परिक संबंधों को भी स्पष्ट करता है। वह सिखाता है कि वस्तु के आदान-प्रदान से मनुष्य भी संबंधित होते हैं और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी आर्थिक व्यवस्था के अंग बन जाते हैं। श्रम सिद्धान्त से वह पूँजी की भी विशेषता बताता है। पूँजी के द्वारा मनुष्य का श्रम खरीदा जाने लगता है। मजदूर पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचने लगते हैं। इस प्रकार श्रम स्वयं एक खरीदने और बेचने वाली वस्तु हो जाती है। मजदूर, पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचकर उस श्रम का एक भाग अपनी जीविका चलाने के लिये और दूसरा भाग पूँजीपतियों के मुनाफे के लिए काम में लाता है। इस प्रकार श्रमिक अपने परिश्रम से पूँजीपतियों के लिये अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी मार्क्स का अपना निजी सिद्धान्त है।

पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को देखकर ही फ्रांस में समाजवादी धारा चली थी जो पूँजीवाद में सुधार करना चाहती थी। इनमें से कुछ लेखकों ने वर्गसंघर्ष की भी चर्चा की थी। मार्क्स ने इस समाजवादी धारा को

अपनाकर एक नया रूप दिया। इसीलिए वह अपने सिद्धान्त को साम्यवादी सिद्धान्त कहता है। उसका कहना है कि हमारा सारा सामाजिक परिवर्तन [illegible] नई सामाजिक व्यवस्था की ओर जा रहा है, और चूंकि सारी सामाजिक व्यवस्था आर्थिक नींव पर आधारित है इसलिए नई साम्यवादी व्यवस्था में पूंजीवाद को कोई स्थान न रहेगा। इसलिए जहाँ फ्रांस के समाजवादी पूंजीवादी व्यवस्था में सुधार करना चाहते थे, वहाँ मार्क्स इस व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है। दूसरे जहाँ इन समाजवादियों में वर्गसंघर्ष की केवल चर्चामात्र हुई थी वहाँ मार्क्स ने वर्गसंघर्ष को बड़ी महत्ता दी है और यह कहा कि संसार का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष पर आधारित है।

विचारों के स्रोत

जर्मन दर्शन—हीगेल का द्वन्दवाद (सामाजिक परिवर्तन का नियम, क्रांति)

फ्रांस—समाजवादी सिद्धान्त (वर्ग सघर्ष)।

इंग्लैंड—मूल्य का श्रम सिद्धान्त (पूंजी और श्रम)।

इस प्रकार मार्क्स के राजनैतिक दर्शन के मुख्य तत्त्व हैं—

(१) आर्थिक नियतिवाद (२) भौतिक द्वन्दवाद (३) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (४) वर्ग-संघर्ष (५) साम्यवादी व्यवस्था।

(१)

आर्थिक नियतिवाद

साधारणतः लोगों का यह विचार है कि महापुरुष, धर्म युद्ध दर्शन और विचार समाज के स्वरूप का निर्माण करते हैं। इतिहास हमें इस प्रकार के कई उदाहरण देता है, जिनसे इन विचारों का समर्थन होता है। नेपोलियन गौतम-बुद्ध अशोक, सिकन्दर महान आदि ने इतिहास और समाज को प्रभावित किया है। ईसाई-धर्म, यहूदी धर्म बौद्ध धर्म का भी सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इसलिये इस कथन में काफी तत्त्व है कि इतिहास का निर्माण युद्ध, धर्म नेता और विचारों द्वारा हुआ है।

परन्तु मार्क्स इस कथन पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि युग विशेष की आर्थिक-व्यवस्था पूरे समाज के स्वरूप को बनाती है। समाज का

साहित्य कला विचार, दर्शन नियम राजनैतिक संगठन आदि सब आर्थिक-व्यवस्था नियत करते हैं। मार्क्स के इस विचार को हम आर्थिक नियतिवाद कहते हैं।

आर्थिक नियतिवाद को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। यदि हम किसी कृषि समाज को देखें तो उसकी आर्थिक-व्यवस्था कृषि पर अवलंबित है। मनुष्य वस्तुओं का उत्पादन भूमि बैल श्रम और कृषि कार्य की दक्षता द्वारा करता है। इन सब साधनों को हम उत्पादन साधन(productive forces) कह सकते हैं।

इन्हीं उत्पादन साधनों के अनुरूप जमींदार और किसान किसान और किसान तथा किसान और अन्य लोगों के संबंध बनते हैं। इन्हें हम उत्पादन संबंध कह सकते हैं।

उत्पादन साधनों के अनुरूप ही उत्पादन के संबंध होते हैं। उत्पादन के साधन और उत्पादन संबंध दोनों समाज की आर्थिक व्यवस्था बनाते हैं।

ऐसे कृषि समाज में बड़े-बड़े जमींदार ही सम्मानित प्रतिष्ठित और शक्तिशाली व्यक्ति समझे जायेंगे। सामाजिक संगठन पर उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देगा उनका निर्णय सबको मान्य होगा और समाज के नियम बनाने में उनका हाथ होगा। इसलिये सामाजिक व्यवस्था न्याय विधि व सरकार के संगठन पर जमींदारों के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखाई देगी, जो मुद्रा होगी उस पर गाय बैल या हल का चित्र अंकित होगा। इस समाज में गाय भूमि या कृषि पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों की पूजा होगी साहित्य और कला का भी विषय कृषि से संबंधित होगा। नैतिक विचार, दर्शन धर्म न्याय सामाजिक संस्थाएं, सब आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होंगी।

मार्क्स का कहना है कि आर्थिक व्यवस्था यदि नीचे की मंजिल (Sub-Structure) है तो पूरी सामाजिक-व्यवस्था—धर्म नियम दर्शन आदि—दूसरी मंजिल (Super Structure) है और जिस प्रकार दूसरी मंजिल की बुनियाद पहली मंजिल की बुनियाद पर आधारित होती है उसी प्रकार आर्थिक व्यवस्था समाज के स्वरूप को निर्दिष्ट करती है।

आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होने से समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाते हैं उत्पादन के साधन।

उदाहरण के लिये कृषि-समाज में यदि वस्तुओं का उत्पादन नये ढंग से होने लगे या उत्पादन क्षेत्र में नई खोज या नये अन्वेषण हो जाय तो उसका पूरे समाज पर प्रभाव पड़ेगा। उदाहरण के लिये यदि ऐसे समाज में कोयले और लोहे की खानें मिल जायें लोग इन वस्तुओं से मशीनें बनाने और चलाने लगें तो वस्तुओं के उत्पादन साधनों में परिवर्तन हो जायेगा। अब संपत्ति का उत्पादन भूमि या पशुओं पर अवलंबित नहीं है वरन लोहा, कोयला और मशीनों पर अवलंबित है। इन उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होते ही उत्पादन संबंधों में परिवर्तन हो जायेगा और जमींदार, किसान के आपसी संबंधों के स्थान पर श्रमिक और उद्योगपति के संबंध स्थापित हो जायेंगे। इन उत्पादन संबंधों के अनुरूप ही समाज का पूरा स्वरूप बदल जायगा।

आर्थिक नियतिवाद

आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था बनाती है।

उत्पादन साधन के अनुरूप उत्पादन संबंध।

उत्पादन साधन और संबंध (*आर्थिक व्यवस्था*) पर धर्म समाज साहित्य विचारों की मंजिल आधारित।

आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन।

इस प्रकार मार्क्स अपने आर्थिक नियतिवाद द्वारा यह बताता है कि समाज का पूरा स्वरूप उत्पादन के साधनों पर अवलंबित है।

(४)
भौतिक द्वन्द्ववाद

मार्क्स के अनुसार मानव इतिहास में पाँच प्रकार की आर्थिक व्यवस्था हो सकती है—

(१) आदिम साम्यवाद, (२) दासों पर आधारित व्यवस्था (३) सामंतवाद (४) पूँजीवाद और (५) आगे आने वाला समाजवाद।

प्रश्न यह उठता है कि एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था में कैसे परिवर्तित हो जाती है? परिवर्तन का क्या नियम है?

१९वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने समाज के इस गत्यात्मक रूप की विवेचना की चेष्टा की थी। डार्विन का विकासवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक था

और वह प्रकृति के विकास की विवेचना करता है। कुछ लोगों ने डार्विन के इस विकासवादी सिद्धान्त के अनुरूप सामाजिक डार्विनवाद भी प्रारंभ किया था। हीगल ने दर्शनशास्त्र में द्वन्द्ववाद की रीति द्वारा परिवर्तन क्रम को समझने की चेष्टा की थी। द्वन्द्ववाद का अर्थ होता है—विरोधी तत्त्वों के एकीकरण का सिद्धान्त। मार्क्स ने हीगल के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अपना लिया। परन्तु हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद में अन्तर है। हीगल विचार या दर्शन को प्रमुख मानता है और मार्क्स भौतिक जगत को या आर्थिक व्यवस्था को। हीगल के अनुसार आत्मा सारे संसार को अनुप्राणित करती है और इस सारे संसार की गति इसी आत्मा की ओर हो रही है। पिछले समाज आत्मा से दूर हैं परन्तु आधुनिक राज्य अधिक विकसित होने के कारण आत्मा के निकट हैं, और उनमें आत्मा की अभिव्यक्ति अधिक हो रही है। इस प्रकार हीगल के अनुसार सारे संसार के विकास को हम आत्मा की अभिव्यक्ति के आधार पर समझ सकते हैं।

मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद के अनुसार सारे समाज का स्वरूप आर्थिक व्यवस्था पर अवलंबित है इसलिये समाज के विकास को हम आर्थिक व्यवस्था या भौतिक जगत के द्वारा समझ सकते हैं। मार्क्स के अनुसार स्वयं आत्मा या विचार आर्थिक व्यवस्था या भौतिक जगत से प्रभावित होते हैं। इसी कारण हीगल से अपनाई गई द्वन्द्ववाद की रीति को वह भौतिकवादी द्वन्द्ववाद कहता है और उसे हीगल की रीति से भिन्न मानता है। कैपिटल के प्रथम खंड की भूमिका में वह लिखता है, "मेरी स्वयं की द्वन्द्वात्मक रीति हीगल की रीति से न केवल भिन्न है, वरन् पूर्ण विरोधी है। क्योंकि हीगल के लिए विचार वास्तविक जगत का सृष्टा है और वास्तविक जगत केवल विचार की बाह्य-अभिव्यक्ति है। परन्तु मेरे लिये विचार-जगत और कुछ नहीं केवल भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क पर प्रतिबिम्ब है और भौतिक जगत का यह प्रतिबिम्ब ही विचार बनाता है।

मार्क्स ने भौतिक जगत को विचारों का सृष्टा कहा है। हीगल विचारों को भौतिक जगत का सृष्टा कहता है। इसलिये मार्क्स लिखता है कि हीगल सिर के बल खड़े होकर संसार को देखा करता था, मैंने अपनी रीति में हीगल को उसके पैरों के ऊपर खड़ा कर दिया है।

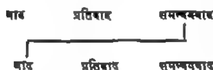
द्वन्द्वात्मक रीति का हम तीन नियमों के अंतर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

(ग) मात्रा व गुण में, और गुण का मात्रा में होता परिवर्तन होना—जगत के सारे परिवर्तन शनैः शनैः होते हैं, और इन परिवर्तनों का कारण वस्तु की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण होता है। पर इस परिवर्तन क्रम में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब वस्तु दूसरा रूप लिये बिना अपने को परिवर्तित नहीं कर सकती। उदाहरण के लिये पानी ठंड की थोड़ी थोड़ी मात्रा पाकर धीरे धीरे ठंडा होता जाता है पर एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि पानी बर्फ का रूप ले लेता है। इसी प्रकार धीमे धीमे गर्म करने पर एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब पानी भाप बन जाता है। इसी तरह प्रत्येक धातु की भरत अवस्था होती है। उस अवस्था के पीछे पहिले तक तो धातु ठोस अवस्था में रहती है परन्तु उस अवस्था के बाद ही धातु पिघलकर अपना रूप बदल लेती है। इस प्रकार मात्रा से होने वाला परिवर्तन एक विशिष्ट अवस्था में पहुंचकर गुणात्मक परिवर्तन कर देता है। इस अचानक परिवर्तन (Sudden Jumps) को मार्क्स क्रान्ति कहता है। सारे समाज के परिवर्तनों में इस प्रकार की क्रान्तियां होना अनिवार्य है। इन क्रान्तियों के परिणाम स्वरूप ही हम प्रारंभिक साम्यवादी अवस्था से दासों की अवस्था सामंतवादी और पूंजीवादी अवस्था में आये हैं। और इसी प्रकार की क्रांति से हम समाजवादी अवस्था में पहुंचेंगे।

(घ) विरोधी तत्वों की एकता का नियम—वस्तु में परिवर्तन का कारण वस्तु में विरोधी तत्वों का एक साथ होना है। इस कथन को भी हम कुछ उदाहरणों से स्पष्ट कर सकते हैं। पूर्व और पश्चिम विरोधी तत्व हैं परन्तु मार्क्स का कथन है कि पूर्व में पश्चिम विरोधीतत्व निहित है, क्योंकि यदि हम पूर्व की ओर चलते चले जायें तो पश्चिम में पहुंच जायेंगे। बिजली में भी हम नैगेटिव और पाजिटिव तत्व साथ ही साथ पाते हैं और परमाणु भी प्रोटोन और न्यूट्रोन दो विरोधी तत्वों से बना है। इस तरह मार्क्स का कहना है कि (१) प्रत्येक इकाई में दो बिलकुल विरोधी तत्व निहित होते हैं तथा (२) ये विरोधी तत्व एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। पूंजीवादी समाज में हम श्रमिक और पूंजीपति दो विरोधी वर्ग पाते हैं, परंतु इनमें से कोई भी वर्ग बिना दूसरे वर्ग के विकास नहीं कर सकता। पूंजीपति के लिये श्रमिक आवश्यक है जिससे कि वे उनका शोषण कर सकें और श्रमिक के लिये पूंजीपति आवश्यक है जिससे वे अपना श्रम पूंजीपति को बेच सकें।

(घ) विरोध के विरोध का नियम—इस नियम को हम वाद-विवाद प्रतियोगिता से समझ सकते हैं। वाद-विवाद प्रतियोगिता में पहला भाषणकर्ता अपने विचार मत या वाद रखता है। दूसरा उसका प्रतिवाद करता है। तीसरा भाषणकर्ता इन दोनों के विचारों का सामंजस्य करता है या दूसरे शब्दों में वह प्रतिवाद का प्रतिवाद करता है। तीसरे भाषणकर्ता के विचार पहिले दो भाषणकर्त्ताओं के विरोधी विचारों के सामंजस्य के कारण पहिले विचारों से अधिक उच्च और परिष्कृत होते हैं। चौथा भाषणकर्ता तीसरे भाषणकर्ता का प्रतिवाद करता है। इस प्रकार तीसरे भाषणकर्ता का सामंजस्यता वाद बन जाती है और उसका फिर विरोध होता है। पाँचवां भाषणकर्ता तीसरे और चौथे का समन्वय करता है और उसके विचार तीसरे भाषणकर्ता से अधिक विकसित होते हैं।

इस प्रकार विचारों के विकास का क्रम निम्न चित्र से दर्शाया जा सकता है।



विचारों के इस विकासक्रम में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) हर बार जो विचार रखे जाते हैं वे पुराने अच्छे विचारों को ले लेते हैं। इसलिये प्रत्येक अवस्था पिछली अवस्था से प्रगतिशील है। (२) विचारों की प्रगति यदि इस प्रकार होती रहे तो हम ऐसी अवस्था में पहुँच जायेंगे जब उनका विरोध होना संभव न होगा और जब विरोध न होगा तो प्रगति भी रुक जायेगी क्योंकि हम पूर्ण अवस्था को पहुँच जायेंगे।

अब हम मार्क्स के भौतिकवादी द्वन्दवाद को अच्छी तरह समझ सकेंगे। मार्क्स ने (१) उत्पादन के साधनों पर उत्पादन संबंध आधारित बताया है (२) उत्पादन के साधन समाज के स्वरूप को निश्चित करते हैं। इसलिये जब एक सामाजिक व्यवस्था में खोज के कारण नये उत्पादन के साधन आते हैं तो उनमें संपत्ति व्यवस्था और उत्पादन-संबंध बदल जाते हैं। जो लोग उत्पादन के साधन के मालिक होते हैं उन्हें एक नये वर्ग का सामना करना पड़ता है क्योंकि वह नया वर्ग नए उत्पादन साधनों का प्रयोग अधिक अच्छी तरह कर

सकता है और इस प्रकार इन दो विरोधी वर्गों में संघर्ष होता है। ध्यान रखने की बात है कि प्रत्येक सामाजिक अवस्था में नये उत्पादन के साधनों में क्रमिक और मात्रिक परिवर्तन ही होता है। परन्तु एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब पूर्ण क्रान्ति होती है और समाज नया रूप ले लेता है। यह नया समाज पुराने समाज से अधिक विकसित होता है क्योंकि वह पुराने समाज की सब अच्छाइयों को लेकर चलता है।

इस प्रकार पूरा मानव-इतिहास पाँच अवस्थाओं में से गुजरेगा। सामंतवाद के आंतरिक विरोध के कारण नई पूँजीवादी व्यवस्था आई, जो सामंतवाद से अधिक विकसित अवस्था है। समाजवाद इस विरोधी पूँजीवाद का प्रतिवाद करेगा और वह पूँजीवाद की उद्योग व्यवस्था और टैक्निकल ज्ञान को अपनाये रखेगा। इस प्रकार विकासवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त है। यह बात हम पाँच आर्थिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी स्पष्ट कर सकते हैं। (१) आदिम समुदायों में उत्पादन कम था और, कभी जिनसे शिकार होती थी हर एक मनुष्य की सम्पत्ति थी इसलिये उत्पादन के साधनों पर केवल कुछ ही लोगों का अधिकार न था। (२) दास व्यवस्था में कुछ मनुष्य दूसरे मनुष्यों के मालिक बन गये और दासों से उत्पादन कार्य कराने लगे। (३) सामंतवादी व्यवस्था में जमींदार का कुछ भूमि और कृषकों पर अधिकार रहता था, लेकिन कृषकों के पास उनकी भी भूमि होती थी और वे जमींदार के दास न होते थे। (४) आधुनिक युग में पूँजीपति का केवल उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व है श्रमिकों पर नहीं यद्यपि श्रमिकों को पूँजीपति के पास काम करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। (५) साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिक उत्पादन के साधनों के मालिक होंगे और पूर्ण स्वतंत्र होंगे।

भौतिक द्वन्द्ववाद

आर्थिक नियतिवाद + द्वन्द्ववाद

द्वन्द्वात्मक नियम

(१) मात्रा का गुण में परिवर्तन।

(२) प्रत्येक तत्त्व में विरोधी तत्त्व।

(३) विरोध का विरोध।

समाज का परिवर्तन क्रम—

आदिम साम्यवाद—दास प्रथा—सामन्तवाद—पूँजीवाद — समाजवाद और साम्यवाद।

प्रत्येक व्यवस्था पिछली व्यवस्था से प्रगतिशील।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक अवस्था पहिली अवस्था से अच्छी है

क्योंकि हर आगे आने वाली अवस्था में उत्पादन और स्वतंत्रता अधिक है, और प्रत्येक अवस्था पिछली अवस्था के अच्छे तत्वों को अपनाते है।

(५)

वर्ग संघर्ष

वर्ग संघर्ष की चर्चा फ्रांस के कुछ लेखकों ने मार्क्स के पहिले की थी लेकिन मार्क्स ने (१) वर्ग संघर्ष को भौतिकवादी द्वन्द्व का अंग बनाया और इसके आधार पर यह नियम बनाया कि सारे संसार का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है, (२) वर्ग-संघर्ष ही समाज में विरोध लाता है और यही परिवर्तन करता है (३) वर्ग विभाजन समाज की उत्पादन व्यवस्था पर अवलम्बित है और (४) यह वर्ग संघर्ष मजदूरों की तानाशाही और अंत में वर्ग विहीन समाज की स्थापना करेगा।

प्रारम्भ में प्रत्येक मनुष्य के पास उत्पादन के साधन थे, परंतु आदिम-युग में ही एक समय ऐसा आया जब उत्पादन के साधनों को कुछ लोगों ने हथिया लिया इसलिए समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया—(१) जिनके पास उत्पादन के साधन थे और (२) जिनके पास केवल अपना श्रम था।

इस प्रकार उत्पादन के साधन उत्पादन संबंधों को निर्दिष्ट करते हैं। उत्पादन सम्बन्ध सदा ही शोषक और शोषित के बीच होते हैं। इनका विरोध ही समाज में द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार परिवर्तन लाता है।

चूंकि प्रत्येक वर्ग केवल अपने हित को समझता है, इसलिए हम इस वर्ग संघर्ष को या वर्गों को अपने हित साधन के लिये दोषी नहीं ठहरा सकते। वर्ग व्यवस्था समाज का नियम है समाज का अंग है इसलिए हम इसे परिवर्तित भी नहीं कर सकते और न इसमें संशोधन ही कर सकते हैं। इसी कारण मार्क्स इस बात को नहीं मानता कि कोई भी सरकार या सुधारक इस वर्ग संघर्ष में सुधार कर सकता है या उसे समाप्त कर सकता है। परन्तु यह वर्ग संघर्ष ही समाज में परिवर्तन कर रहा है। समाज में जब नये उत्पादन के साधन पैदा होते हैं तो उन्हें नियंत्रित करने वाले या उन्हें सुचारु रूप से चलाने वाले नये श्रमिकों का वर्ग प्रारम्भ होता है। ये पुराने उत्पादन

साधन के स्वामियों को चुनौती देने लगते है, और इस प्रकार समाज की दूसरी व्यवस्था आ जाती है।

यद्यपि कोई भी वर्ग इस वर्ग व्यवस्था से मुक्ति नहीं पा सकता है, क्योंकि वर्ग-व्यवस्था समाज का ही अंग है फिर भी प्रत्येक वर्ग में वर्ग चेतना है और इस बात की चेतना भी कि सामाजिक परिवर्तन लाने में उसका अपना एक स्थान है।

आज हम पूंजीवादी व्यवस्था में हैं इसलिये वर्ग-संघर्ष पूंजीपतियों और श्रमिकों के बीच में है। श्रमिकों की चेतना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। धीरे धीरे वह समय आयेगा जब क्रान्ति होगी और श्रमिकों के हाथ में उत्पादन के सारे साधन आ जायेंगे। इस प्रकार श्रम और उत्पादन साधन का मेल हो जायगा और यह साम्यवादी व्यवस्था होगी।

चूंकि आज के श्रमिकों के नीचे और कोई श्रमिक वर्ग नहीं दिखाई देता और न कोई नये उत्पादन के साधन दिखाई देते हैं इसलिये साम्यवादी व्यवस्था में कोई विरोधी शक्ति न रहेगी। इसमें दो वर्ग न होने इसलिये समाज का यह अंतिम रूप वर्ग विहीन होगा।

वर्ग संघर्ष

दो वर्ग—उत्पादन के साधन के स्वामी
उत्पादन साधन हीन।

वर्ग व्यवस्था समाज में विरोध लाती है परिवर्तन करती है।

वर्ग संघर्ष स्वाभाविक नियम है, इससे बचाव नहीं।

चूंकि द्वन्द्ववाद के नियम के अन्तर्गत सारे परिवर्तन विरोधी तत्वों के कारण होते हैं, इसलिये साम्यवादी व्यवस्था में कोई परिवर्तन न होगा क्योंकि यह बिना किसी विरोधी तत्व के होगी। यह समाज की अंतिम अवस्था है।

वर्ग संघर्ष की आलोचना करते समय हमारे सामने निम्नलिखित बातें आती हैं—

(१) मार्क्स प्रत्येक समाज मे केवल दो वर्ग ही बताता है जबकि हमारा अनुभव समाज में कम से कम तीन वर्गों का है। मध्यम वर्ग समाज में स्थायित्व लाने वाला महत्वपूर्ण वर्ग है। इसकी चर्चा मार्क्स नहीं करता।

मार्क्स समाज में स्थान के अनुसार कई वर्गों के अस्तित्व को मानता अवश्य है परन्तु द्वन्द्ववाद के नियम की पुष्टि के लिये वह प्रतिवाद के रूप में

केवल दो ही वर्गों को मान्यता देता है और मध्यम वर्ग की या तो उपेक्षा करता है, या उसे मजदूर वर्ग के अन्तर्गत रख देता है।

(२) मार्क्स प्रत्येक वर्ग में एक वर्ग चेतना पाता है। उसका कहना है कि इस वर्ग चेतना के कारण संसार भर के श्रमिक एक हैं और वे एक होकर पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं। व्यावहारिक जीवन में हम इस वर्ग चेतना का पूर्ण अभाव पाते हैं। मजदूर-वर्ग में स्त्री और पुरुष कारीगर और साधारण मजदूर, श्वेत जाति तथा अन्य मजदूर में पारस्परिक द्वेष आसानी से देखा जा सकता है। उन्नतिशील देशों के मजदूर, जिन्हें अधिक पारिश्रमिक मिलता है कभी यह नहीं चाहते कि पिछड़े देशों के कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक उनके देश में काम करें। इस लिये संसार भर के मजदूरों में कोई वर्ग चेतना नहीं है।

आलोचना

(१) समाज में दो ही वर्ग नहीं होते।

(२) वर्ग चेतना वर्गों में नहीं होती।

(३) वर्ग संघर्ष भी राष्ट्रीय संकट काल में नहीं दिखाई देता।

(४) वर्ग संघर्ष ही इतिहास का निर्माण नहीं करता।

(३) यह सोचना कि संसार का सारा संघर्ष केवल मजदूर और पूँजीपतियों के बीच है बड़ी भारी भूल है। दो महायुद्धों के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय संकट में एक राष्ट्र के मजदूर और पूँजीपति एक साथ मिलकर दूसरे राष्ट्र के मजदूरों और पूँजीपतियों का विरोध करते हैं।

(४) यह सोचना कि संसार का सारा इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है, ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं। संसार में संघर्षों के कई कारण हैं।

(६)

आलोचना

भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की आलोचना करने के पूर्व मार्क्स के विचारों को संक्षेप में दुहरा लेना अच्छा होगा। मार्क्स के अनुसार—(१) समाज में आर्थिक तत्व सबसे महत्वपूर्ण है विशेषकर उत्पादन के साधन। यही सामाजिक संगठन सरकार, विचार, दर्शन साहित्य के स्वरूप को निर्मित करता है।

(२) समाज का सारा परिवर्तन द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त पर होता है। वर्ग-सघर्ष समाज में विरोधी तत्व हैं और जब नये उत्पादन के साधन धीरे धीरे मात्रा में बढ़ते जाते हैं, तब एक समय ऐसा आ जाता है, जब नये साधनों का प्रभुत्व हो जाता है और उसके पश्चात् उन साधनों के अनुरूप पूरी सामाजिक व्यवस्था बदल जाती है। द्वन्द्वात्मक विकास सदैव उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है इसलिये नई सामाजिक व्यवस्था पिछली सामाजिक व्यवस्था से सदैव अच्छी है।

(३) अंतिम विकास की अवस्था साम्यवादी व्यवस्था होगी जिसमें कोई विरोधी तत्व न होंगे। यह वर्ग विहीन समाज होगा।

मार्क्स के इस ऐतिहासिक भौतिकवाद में जो दो प्रमुख तत्व हैं, उसमें पहिला तत्व कि समाज में आर्थिक तत्व प्रमुख है विशेष महत्वपूर्ण है। आज के इतिहासकार भी मार्क्स के इस विचार से प्रभावित हो समाज के अध्ययन में आर्थिक तत्व की महत्ता स्वीकार करने लगे हैं। परन्तु दूसरा तत्व कि परिवर्तन क्रम द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त पर आधारित है आज के लेखकों द्वारा (केवल मार्क्सवादियों को छोड़कर) महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस प्रकार आलोचना की गई है—

(१) इतिहास एक अविरल धारा है जिसमें न तो हमें कोई अंतिम अवस्था दिखाई देती है और न कोई क्रांति द्वारा हुए भिन्न भिन्न परिवर्तनों की अवस्थाएं। मार्क्स ने जो विभिन्न सामाजिक अवस्थायें बताई हैं वे किसी एक विशिष्ट समय पर अचानक नहीं आई। एक अवस्था दूसरी अवस्था में सैकड़ों वर्षों के पश्चात् परिवर्तित हुई है इसलिए मार्क्स की वाद प्रतिवाद और समन्वयवाद की दशायें केवल कल्पना मात्र हैं।

(२) इतिहास का क्रम सदैव उन्नति की ओर नहीं रहा है। मनुष्य का इतिहास उत्थान और पतन का इतिहास है।

(३) द्वन्द्वात्मक रीति खतरनाक भी है क्योंकि इसमें हम इस बात को मानकर चलते हैं कि मनुष्य बाह्य शक्तियों का—आर्थिक शक्तियों का—दास है। उसमें इतिहास के क्रम को बदलने की शक्ति नहीं। उसके ध्यान और विचार में आदर्श और नये समाज की कल्पना व्यर्थ है।

(४) यदि विचार, विज्ञान और मस्तिष्क आर्थिक व्यवस्था द्वारा बने हैं तो इसका यह अर्थ हुआ कि नये उत्पादन के साधन आपसे आप उत्पन्न हुए हैं,

पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। नये आर्थिक साधन मनुष्य के मस्तिष्क और विचार द्वारा बनाये जाते हैं।

(५) वास्तव में समाज की रचना विचारों द्वारा होती है।। मार्क्स को भी कहीं कहीं इस बात को स्वीकार करना पड़ा है। मार्क्स पूर्ण रूप से यह भी सिद्ध नहीं कर सका है कि आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था बनाती है। उसने जो भी उदाहरण अपने मत की पुष्टि के लिये दिये हैं—वे केवल आदिम समुदायों के हैं जिनके जीवन पर भौतिक जगत और प्राकृतिक शक्तियों का बहुत अधिक प्रभाव रहता है।

(६) मार्क्स ने समाज के विकास का कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया और न यह जानने की चेष्टा की कि इस विकास के पीछे कौन तत्व हैं। उसने इतिहास में इधर उधर जहाँ भी कोई प्रमुख आर्थिक तत्व देखा उसे ही उस विकास का कारण बता दिया। एक लेखक लिखता है कि न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण के नियम को खोजने की प्रेरणा सिर पर सेब गिरने से मिली थी क्योंकि उस समय की आर्थिक परिस्थिति के लिए इस प्रकार की खोज आवश्यक थी। वास्तव में इतिहास एक जटिल विषय है और ऐतिहासिक घटनायें कई शक्तियों के परिणामस्वरूप होती हैं। आर्थिक तत्व सदैव ही प्रमुख नहीं होता।

(७) मार्क्स भी आर्थिक व्यवस्था को नहीं वरन् टेकनिक को—प्राविधिकता को—महत्वपूर्ण मानता है लेकिन प्राविधिकता आर्थिक व्यवस्था नहीं। इस दृष्टि से उसका दृष्टिकोण और भी सीमित हो जाता है।

भौतिक द्वंद्ववाद की आलोचना

(१) मार्क्स की वाद प्रतिवाद समन्वय वाद की अवस्थायें कल्पित हैं।
(२) इतिहास उन्नतोन्मुखी नहीं है।
(३) द्वंद्ववाद मनुष्य को भौतिक शक्तियों का दास समझता है।
(४) आर्थिक साधन विचारों से उत्पन्न होते हैं।
(५) समाज की रचना विचारों से होती है।
(६) द्वंद्ववाद अवैज्ञानिक है।
(७) मार्क्स प्राविधिकता को महत्ता देता है आर्थिक व्यवस्था को नहीं।

सच बात तो यह है कि मार्क्स और एंजिल्स अन्य तत्वों की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं। एन्जिल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यदि उसने आर्थिक तत्व को महत्ता दी है तो केवल इसलिए कि उसके समय में इस तत्व की उपेक्षा की जा रही थी।

(७)

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (theory of surplus value) की चर्चा की है। इस सिद्धान्त के मूल विचार उसने इङ्गलैंड के अर्थशास्त्रियों से लिए थे। परन्तु अपने विचारों के उपयुक्त बनाने के लिए उसने इङ्गलैंड के अर्थशास्त्रियों के विचारों को काफी विकसित किया है।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लाक ने यह विचार रखा था कि मनुष्य जब अपना श्रम लगाता है तो उस श्रम के कारण ही वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। इसे हम मूल्य का श्रम-सिद्धान्त कह सकते हैं। रिकार्डो ने इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए यह कहा था कि किसी वस्तु की कीमत उस पर खर्च किये गये श्रम के बराबर होती है। लासाल (Lassalle) ने मजदूरी के लौह नियम (Iron law of wages) की चर्चा की थी जिसके अनुसार किसी श्रमिक की मजदूरी उसके जीवन-निर्वाह के खर्च के बराबर होती है।

मार्क्स इन विचारों के आधार पर यह नियम बनाता है कि समान श्रम वाली दो वस्तुओं की विनिमय दर समान होगी अर्थात यदि दो वस्तुओं के बनाने में समान श्रम खर्च हुआ है, तो उनका विनिमय हो सकता है। इस प्रकार मार्क्स ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त को वस्तु के विनिमय से सम्बन्धित किया।

अन्य अर्थशास्त्रियों ने वस्तु के मूल्य को उस पर व्यय किये गये श्रम घन्टों की मात्रा के बराबर बताया था। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता था कि एक पूँजीपति जब किसी मजदूर को काम पर लगाता है और जितने घंटे वह काम करता है यदि उतने ही मूल्य की वस्तु का वह उत्पादन करता है तो पूँजीपति को इस श्रमिक को काम पर लगाने से क्या फायदा हो सकता है। इसलिये मार्क्स ने लासाल के सिद्धान्त को अपनाते हुए यह कहा कि पूँजीपति श्रम को नहीं श्रम शक्ति को खरीदता है, और चूँकि श्रम-शक्ति स्वयं एक वस्तु है इस लिये उसका मूल्य उतने घंटों की मजदूरी है जिनसे मनुष्य अपना और अपने कुटुंब का निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार पूँजीपति श्रम का मूल्य अर्थात जीवन निर्वाह के लिये मजदूरी (Subsistence wages) देकर श्रम-शक्ति खरीदता है।

चूँकि श्रमिक में अपनी जीविका-निर्वाह के लिये आवश्यक श्रम से अधिक

श्रम करने की क्षमता होती है इसलिये पूँजीपति अधिक श्रम कराके अपना लाभ करता है। उदाहरण के लिए एक मजदूर पाँच घण्टे काम करके अपनी जीविका निर्वाह के लिये धन उत्पन्न कर लेता है। पूँजीपति उससे दस घंटे काम लेता है और उसे केवल पाँच घण्टे के श्रम के बराबर अर्थात् उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य चुकाता है। जो पाँच घण्टे मजदूर अतिरिक्त कार्य करता है इस अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति अपने पास रख लेता है। यह अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति का मुनाफा है। यह अतिरिक्त मूल्य अर्थात पाँच घण्टे का अतिरिक्त कार्य श्रमिक का शोषण है, क्योंकि यद्यपि उसने अधिक कार्य करके नई वस्तु का उत्पादन किया है परन्तु उसका मूल्य श्रमिक को नहीं मिलता। व्यवहार में श्रमिक को मुद्रा में मजदूरी मिलती है, इसलिये हम इस परिस्थिति को ठीक ठीक नहीं समझ पाते कि मजदूर को अपने श्रम के लिए कितना दिया गया है और उसे कितना श्रम बिना कीमत लिये करना पड़ता है। आदम-स्मिथ ने इस अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है, परन्तु इसको स्पष्ट करने का श्रेय मार्क्स को ही है।

श्रम-शक्ति को मार्क्स अस्थिर पूँजी कहता है। पूँजीपति इस अस्थिर पूँजी को मशीन कच्चे माल आदि स्थिर पूँजी (Constant capital) के साथ लगाता है,परन्तु मार्क्स के अनुसार केवल अस्थिर पूँजी ही मूल्य निर्मित करती है। यदि हम सोना चाँदी आदि अन्य धातुओं को मूल्यवान समझते हैं तो केवल इसलिए कि उनमें मूल्य की सम्भावना है। वास्तव में उनका वर्तमान मूल्य कुछ भी नहीं। ध्यान रखने की बात है कि अर्थशास्त्री किसी वस्तु का मूल्य भूमि (कच्चा माल) श्रम पूँजी और संगठन पर आधारित बताते हैं, परन्तु मार्क्स केवल श्रम को ही मूल्य का कारण मानता है और अन्य तत्वों को कोई महत्व नहीं देता।

चूँकि अतिरिक्त मूल्य से ही मुनाफा बनता है इसलिये अस्थिर पूँजी और स्थिर पूँजी के अनुपात पर मुनाफे की दर अवलम्बित होगी। इसलिये ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण होगा नई नई मशीनें आयेंगी त्यों त्यों कम श्रमिकों को काम पर लगाया जायेगा। श्रमिकों की संख्या जैसे जैसे कम होती जायेगी वैसे-वैसे पूँजीपति का मुनाफा भी कम होता जायेगा।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से मार्क्स तीन नियम निकालता है—

(१) स्थायी पूँजी के संचय का नियम

पूँजीपति अन्य पूँजीपतियों से प्रतियोगिता करता है, और वह अधिक

वस्तुओं के निर्माण करने के लिये ऐसी मशीनें खरीदता है जिनसे श्रम की बचत हो। लेकिन श्रमिकों के कम होने से उसके मुनाफे का अनुपात कम हो जाता है। स्थायी पूंजी का यह संचय पूंजीपति किसी मनोवृत्ति के कारण नहीं वरन् सामाजिक व्यवस्था के नियमों से बाध्य होकर (जिनसे वह बच नहीं सकता) करता है।

(२) पूंजीपतियों की संख्या में कमी का नियम

पूंजीपतियों की प्रतियोगिता के कारण छोटे-छोटे पूंजीपति समाप्त होते जायेंगे क्योंकि वे बड़ी-बड़ी मशीनें स्थापित नहीं कर सकते और इस तरह एक पूंजीपति कई पूंजीपतियों को समाप्त करता है ('One capitalist kills many")। छोटे-छोटे पूंजीपति श्रमिकों की श्रेणी में आ जाते हैं। इस प्रकार पूंजीपतियों की संख्या दिन प्रतिदिन कम होती जाती है और श्रमिकों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

(३) मजदूरों की दुर्गति वृद्धि का नियम

पूंजीपति अपने कम होते हुए मुनाफे को पूरा करने के लिये श्रमिकों से और अधिक घंटे काम लेना प्रारम्भ करता है और इस प्रकार श्रमिक या सर्वहारा वर्ग की अवस्था दिन प्रतिदिन खराब होती जाती है।

इन नियमों के कारण सर्वहारा वर्ग अपनी सुरक्षा के लिए अपना संगठन बनाते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में एक ही फेक्टरी में बहुत से मजदूर एक साथ काम करते हैं जिसके कारण संगठन करने में सुविधायें मिलती हैं। पूंजीवाद की व्यवस्था जब पूर्ण विकसित हो जाती है तो हमें पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में दो स्पष्ट वर्ग दिखाई देने लगते हैं जिससे वर्गसंघर्ष तीव्रतम हो जाता है और सर्वहारा वर्ग क्रान्ति करके इस पूरी व्यवस्था को नष्ट कर देता है। इस प्रकार मार्क्स अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त के आधार पर भौतिक द्वन्द्ववाद के नियम की पुष्टि करता है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

लॉक श्रम वस्तु का मूल्य बनाता है।
रिकार्डो श्रम=मूल्य।
लासाल : मजदूरी का लौह नियम।
मार्क्स श्रम—विनिमय दर
श्रम शक्ति=जीवन निर्वाह की मजदूरी
अतिरिक्त मूल्य=पूंजीपति का लाभ
(१) ज्यों २ नई मशीनें आयेंगी कम मजदूर काम कर सकेंगे और मुनाफा कम होता जायेगा।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। इसके आधार पर ही वह समाज को शोषित और शोषक वर्गों में विभाजित करता है और यह बताता है कि समाज में शोषण कार्य किस तरह होता है।

(९) इसलिये पूँजीपतियों की संख्या कम होती जावेगी।

(१) मजदूरों की दुर्गति दिन प्रतिदिन बढ़गी।

वर्ग संघर्ष तीव्र होगा और क्रांति होगी।

पर मार्क्स के इस सिद्धान्त में कई भूलें हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स का कहना है कि मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य हैं, वरन् आधुनिक युग में उनका कोई मूल्य नहीं है। वेपर लिखता है कि दास कैपिटल के आर्थिक सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले अध्याय निम्न कोटि (dullest) के हैं —

मार्क्स के सिद्धान्त में हमें निम्नलिखित भूलें दिखाई देती हैं —

(१) श्रम अकेला ही कोई मूल्य नहीं बना सकता। बिना पूंजी के श्रम का कोई अर्थ नहीं।

(२) श्रमिक वर्ग बिना क्रान्ति के पूँजीपतियों से उचित मजदूरी पा सकता है। आधुनिक युग में राज्य और मजदूरों के संगठन ने पूंजीपतियों को उचित वेतन दर और कार्य के घंटे निश्चित करने को बाध्य किया है।

(३) मार्क्स के अनुसार मजदूरों की दुर्गति दिन प्रतिदिन बढ़ती जायेगी। लेकिन मार्क्स की यह भविष्यवाणी गलत मालूम होती है क्योंकि १९वीं शताब्दी की अपेक्षा आज का मजदूर अधिक सुखी है।

(४) पूंजी भी कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित नहीं हो रही है। ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों में साझेदारियों की संख्या बढ़ जाने से पूंजी समाज के बहुत से लोगों में वितरित हो गई है।

(५) छोटे-छोटे पूँजीपति या व्यापारियों की संख्या भी कम नहीं हो रही है। कहना तो यह चाहिए कि नये नये व्यापार और उद्योगों को खुलने से इनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

(६) मार्क्स ने इस सिद्धान्त के द्वारा वैज्ञानिक तरीके से जो यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि समाज में केवल दो ही वर्ग रह जायेंगे उसकी यह चेष्टा भी विफल होती दिखाई देती है, क्योंकि न केवल मध्यम-वर्ग की स्थिति

मजबूत हो गई है वरन् उद्योग के क्षेत्र में भाग मनेजर, दस्त शिल्पी, सलाहकार, आदि के रूप में नये वर्गों का भी जन्म हुआ है।

(७) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह श्रमिकों की बढ़ती हुई दुर्गति को माँग और पूर्ति के नियम द्वारा स्पष्ट कर सकता था।

मार्क्स के इस सिद्धान्त से अवश्य ही कुछ बातें स्पष्ट हुई हैं। उसका विश्लेषण भले ही ठीक न हो परन्तु उसने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था में कुछ मूलभूत विरोध हैं। मशीनों के बढ़ जाने से एक ओर वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो जाता है—दूसरी ओर मजदूरों में वस्तु खरीदने की क्षमता न होने से उन वस्तुओं के बाजार बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार देश में आर्थिक संकट आ जाते हैं। आंतरिक आर्थिक संकटों से बचने के लिये पूँजीपति विदेशों में बाजार ढूंढते हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संकट आते हैं, और समाज की सुरक्षा का प्रश्न खड़ा हो जाता है।

आलोचना

(१) बिना पूँजी श्रम मूल्य नहीं बना सकता।

(२) श्रमिक शांति रीतियों से दुर्गति से बच सकता है।

(३) न तो मजदूरों की हालत दिन प्रतिदिन बिगड़ रही है न पूँजीपतियों की संख्या कम हो रही है और न पूँजी केन्द्रित हो रही है।

(४) मध्यम वर्ग शक्तिशाली हो रहा है।

(५) मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त बिना अपने विचार रख सकता था।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में कोई मूल्य भले ही न हो परन्तु राजनैतिक और सामाजिक नारे के रूप में इसका बड़ा प्रभाव रहा है। मैकवियर का ये कहना ठीक ही है कि अपने आर्थिक सिद्धान्त में मार्क्स मुख्यतया आन्दोलनकर्ता (agitator) है।

(८)

राज्य

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मार्क्स का विचार है कि जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधन हैं उन्हीं के पास स्वतंत्रता होती है और उत्पादन के साधनों को सुरक्षित रखने के लिये वे समाज के दूसरे वर्ग पर दमन कार्य

करते हैं, और इस दमन कार्य के लिये उन्होंने राज्य का निर्माण किया है। इस प्रकार दमन और बल प्रयोग राज्य के लक्षण हैं। ज्यों २ नई सामाजिक व्यवस्थायें आती हैं, त्यों २ राज्य का यह दमनकारी रूप स्पष्ट होता जाता है।

"वर्ग संघर्ष की अधिक उन्नतिशील व्यवस्था में जो प्रत्येक क्रान्ति के पश्चात् आती है, राज्य का यह दमनकारी विशुद्ध स्वरूप अधिक स्पष्ट दिखाई देता है।"

पूँजीवादी समाज में पूँजीवादियों ने राज्य की सारी संस्थाओं पर अपना नियंत्रण कर रखा है। राज्य इन पूँजीपतियों के हितों का पोषक है इसलिये अन्तिम क्रान्ति के पश्चात्, जब सर्वहारा वर्ग उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लेगा तब नई सामाजिक व्यवस्था बनेगी।

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

नई सामाजिक व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जायगी और उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जायेगा परन्तु पूँजीपति आसानी से अपने अधिकारों को छोड़ने वाले नहीं इसलिये उनका दमन करने के लिये सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित की जायेगी। यह तानाशाही दमन कार्य करेगी और इस प्रकार इस तानाशाही में राज्य का स्वरूप बना रहेगा। परन्तु यह दमन पूँजीवादी व्यवस्था के दमन से भिन्न होगा। इसमें बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग अल्पसंख्यक पूँजीपतियों पर दमन करेगा। इसलिये पूँजीवादी राज्यों की तुलना में यह राज्य अधिक प्रजातांत्रिक होगा। पूँजीवादी प्रजातंत्र को मार्क्स प्रजातंत्र नहीं कहता क्योंकि उसका कहना है कि जिस समाज में दो वर्ग हों, और अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग का दमन करता हो, वहाँ प्रजातंत्र कैसे हो सकता है। नये समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम के अनुसार वस्तुएँ मिलेंगी व किसी भी प्रकार का शोषण न होगा। परन्तु यह समाज का अंतिम विकास नहीं है। यह समाजवादी व्यवस्था है अंतिम व्यवस्था साम्यवादी होगी।

साम्यवादी व्यवस्था

समाजवादी व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था में अपने आप प्रस्फुटित हो जायगी। चूँकि समाजवादी व्यवस्था में कोई विरोध नहीं है इसलिये समाजवादी व्यवस्था का यह परिवर्तन क्रान्ति के द्वारा नहीं होगा। इस व्यवस्था में

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही समाप्त हो जायेगी, राज्य समाप्त हो जायेगा

राज्य

पूंजीपतियों ने मजदूरों का दमन करने के लिये ही राज्य बनाया है।

इसलिये क्रांति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग की तानाशाही बनेगी जो अधिक प्रजातांत्रिक होगी।

यह तानाशाही साम्यवादी व्यवस्था में बदल जायेगी जो राज्य और वर्ग विहीन होगी।

वर्ग समाप्त हो जायेंगे। इस प्रकार साम्यवादी व्यवस्था राज्य-विहीन वर्ग विहीन—पूर्ण स्वतन्त्रता की व्यवस्था है। इस साम्यवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ पायेगा।

मार्क्स ने राज्य के विलीन होने के क्रम का और इस साम्यवादी आदर्श समाज की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है।

(६)

मार्क्स की देन

मार्क्स आधुनिक युग का महान दार्शनिक माना जाता है। संसार में और किसी अन्य दार्शनिक के विचार न तो इतने क्रांतिकारी हुए हैं, और न इतने प्रभावपूर्ण। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करने वालों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है, क्योंकि इसने श्रमिकों को एक नया नारा दिया और एक नई सामाजिक व्यवस्था का चित्र उपस्थित किया। पूर्ण रूप से वैज्ञानिक न होते हुए भी इसने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया और इसके अनुयायी इस सिद्धान्त को पूर्ण वैज्ञानिक मानते हैं। १६वीं शताब्दी में जब लोग निरंतर उन्नति की भावना विज्ञान की महानता में विश्वास करते थे जब श्रमिकों की अवस्था दिन प्रतिदिन खराब होती जा रही थी उस समय मार्क्स नये धर्म के पैगंबर के रूप में अवतरित हुआ, और उसने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक प्रगतिवादी और श्रमिकों की उनकी दुर्गति से छुटकारा दिलाने वाला सिद्धान्त बताकर समाज में एक नई चेतना पैदा करदी। उसका यह नारा "विश्व के श्रमिकों एक हो जाओ, तुम्हें अपने बंधनों के सिवा और कुछ नहीं खोना है" नये समाज के लिये बड़ा प्रभावशाली बन गया।

मार्क्स के सिद्धान्त में कुछ भूलें हैं परन्तु मार्क्स की महानता इसमें है कि
वह भावी समाज के विकास-पथ को समझ सका। उसने उन महत्वपूर्ण तथ्यों
को स्पष्ट किया जो उसके समकालीन दार्शनिक न देख सके थे। वह प्रथम
दार्शनिक था जिसने—

(१) व्यापारिक चक्र (Trade cycle), अति उत्पादन और बेकारी में
संबंध देखा

(२) यह बताया कि औद्योगिक व्यवस्था इतनी बढ़ जायेगी कि उसे राष्ट्र
की सीमाओं के बाहर जाकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ढूंढना पड़ेगा

(३) व्यापार की मात्रा के आधार पर राष्ट्र को समतिशील, या राष्ट्र
की अवस्था को अच्छी बताना अनुचित समझा

(४) यह स्पष्ट किया कि पूंजीवादी व्यवस्था से मजदूरों का संगठन दृढ़
होगा

(५) औद्योगीकरण से सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे, और

(६) ऐतिहासिक अध्ययन में आर्थिक तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है।

मार्क्स के विचारों में कुछ भूलें हैं, जिन्हें हम पहले ही विभिन्न शीर्षकों के
अन्तर्गत स्पष्ट करते आये हैं। फिर भी कुछ प्रमुख दोषों को दुहरा देना
आवश्यक है।

(१) उसके आर्थिक नियतिवाद के अनुसार मनुष्य उसका समाज और
उसकी संस्कृति आर्थिक शक्तियों की दास है। पर यह बात ठीक नहीं है। एंजिल्स
का यह कथन कितना भ्रमपूर्ण मालूम होता है कि यदि नैपोलियन पैदा नहीं
हुआ होता तो आर्थिक व्यवस्था ऐसी थी कि उसका कार्य करने के लिये कोई
दूसरा व्यक्ति पैदा होता। सच बात यह है कि मनुष्य आर्थिक व्यवस्था का
दास नहीं है।

(२) मार्क्स का कहना कि आर्थिक स्थिति ही समाज में प्रतिष्ठा देती है
ठीक नहीं। महात्मा गांधी ईसा मसीह सुकरात कोई पूंजीपति न थे फिर भी
उनका समाज में महान स्थान है।

(३) मार्क्स के अनुसार समाज दो वर्गों में बंटा है, और कोई व्यक्ति
अपना वर्ग नहीं बदल सकता। परन्तु आज के समाज में व्यक्ति निम्न वर्ग से

मध्यम वर्ग में और मध्यम वर्ग से उच्च वर्ग में आने का प्रयत्न करता रहता है। वर्ग-व्यवस्था स्थायी नहीं अपितु परिवर्तनशील है।

(४) मार्क्स ने जो इतिहास में चार सामाजिक व्यवस्थायें बताई हैं वे काल्पनिक हैं क्योंकि एक व्यवस्था के समाप्त होने और दूसरी व्यवस्था के पैदा होने में शताब्दियों का समय लगा है। फिर अगली व्यवस्था सदैव ही पिछली व्यवस्था से अच्छी नहीं रही है। यूनान और रोम की सभ्यता की तुलना में सामंतवादी व्यवस्था बड़ी निम्न स्तर की थी। मार्क्स जिस प्रारम्भिक साम्यवाद की चर्चा करता है आधुनिक मानव शास्त्र (Anthoropology) उसकी पुष्टि नहीं करता।

(५) यदि भौतिक साधन ही इतिहास निर्मित करते हैं तो सारे संसार में एक साथ ही यह सामाजिक व्यवस्था क्यों नहीं आई और पूँजीवादी व्यवस्था केवल योरोप में ही क्यों है अन्य देशों में क्यों नहीं ?

(६) मार्क्स ने विचार, दर्शन और मनोवैज्ञानिक तत्वों की पूर्ण अवहेलना की है।

इन दोषों के होते हुए भी मार्क्स ने न केवल आधुनिक राजनैतिक दर्शन को वरन् राजनैतिक संगठनों व्यवहारों और राजनयिक सम्बन्धों को प्रभावित किया है। उसने राजनीति को एक नया सन्देश दिया है।

दल ८

टामस हिल ग्रीन

(१८३६ – १८८२)

(१) जीवन और समकालीन परिस्थितियाँ।
(२) सामाजिक नियमन और स्वतन्त्रता।
(३) मानव प्रकृति और राज्य।
(४) स्वतंत्रता।
(५) अधिकार।
(६) संप्रभुता।
(७) राज्य का आधार इच्छा है, बल नहीं।
(८) राज्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त।
(९) राज्य का विरोध करने का अधिकार।
(१०) जीवन अधिकार, युद्ध और विश्व नैतिकता।
(११) ग्रीन का स्थान।

(१)
समकालीन परिस्थितियाँ

ग्रीन यार्कशायर के रेक्टर के पुत्र थे उनकी शिक्षा आक्सफोर्ड के बैलियल कालेज में हुई थी। १८७८ में वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इस पद से उन्होंने जो भाषण दिये वे उनकी मृत्यु के पश्चात् "प्रालीगामिना टु एथिक्स" और "प्रिंसिपिल्स आफ पोलिटिकल आब्लीगेशन" नामक पुस्तकों में प्रकाशित हुए। ग्रीन के राजदर्शन संबंधी विचार दूसरी पुस्तक में ही मिलते हैं।

ग्रीन ने राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति में भी थोड़ा बहुत भाग लिया था विशेषकर शिक्षा प्रसार और नशाबन्दी के आन्दोलनों में। १८८१ में

मद्रास के अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिये वे "लैक्चर्स ऑन लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ कान्ट्रैक्ट" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन व्याख्यानों के पढ़ने से मालूम होता है कि ग्रीन उदार प्रकृति के व्यक्ति थे व्यक्तिवादी सिद्धान्त में विश्वास करते थे परन्तु वे अपने से पूर्व व्यक्तिवादियों के समान राज्य को एक आवश्यक बुराई नहीं समझते थे। उनका मत था कि राज्य व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक संस्था है इसके द्वारा ही समाज की संस्थाओं में सुधार किया जा सकता है और व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित की जा सकती है। इस तरह समकालीन परिस्थितियों के अनुसार इंग्लैण्ड के उदारतावादी सिद्धान्त (Liberalism) में परिवर्तन कर उन्होंने इस सिद्धान्त को नई परिस्थितियों में भी मान्य बनाया।

कृतियाँ

(१) प्रिंसिपिल्स आफ पॉलिटिकल आब्लीगेशन।

(२) लैक्चर्स आन लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम आफ कांट्रैक्ट।

ग्रीन की समकालीन परिस्थितियाँ

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह विचार बारम्बार प्रकट हुए कि यदि राज्य हस्तक्षेप न करे तो व्यक्ति आर्थिक जीवन में बड़ा विकास कर सकता है। उन दिनों आर्थिक जीवन को नियमित करने के लिये सारे यूरोप में बहुत से नियम पाये जाते थे जिनके कारण आर्थिक विकास संभव न था। इसलिये 'व्यक्ति को अकेला छोड़ दो' (लैसेफेयर) का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। इंग्लैण्ड में 'कार्नलाज' को समाप्त करने के आन्दोलन चले। आर्थिक व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन के लिए स्पेंसर ने वैज्ञानिक तथा मिल ने नैतिक तर्क उपस्थित किये थे। इन सब का केन्द्रीय विचार यह था कि व्यक्ति अपना हित जानता है अपने कार्यों से अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है इसलिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए और राज्य को व्यक्ति के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। परन्तु १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम स्पष्ट होने लगे। उद्योगपतियों की स्वतन्त्रता में श्रमिकों की स्वतन्त्रता देखना व्यर्थ था। श्रमिकों की हालत दिन प्रतिदिन खराब हो रही थी। परन्तु व्यक्तिवादी सिद्धान्त अभी भी राज्य के हस्तक्षेप को बुरा समझता था। एक नये दर्शन की आवश्यकता थी जो समाज के

सुधारों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक बताये। मिल की कृतियों में हमें इस परिवर्तन का संकेत मिलता है परन्तु मिल में समाजवादी प्रवृत्ति होते हुए भी समाज का अपना निजी महत्व नहीं दिखता। वह व्यक्ति को ही अपने विचार का केन्द्र मानता है और राज्य को केवल व्यक्तियों का समूह मात्र। समाज में रहकर और समाज के कार्यों द्वारा व्यक्ति अपना विकास कर सकता है सामाजिक व्यक्ति ही वास्तविक व्यक्ति है यह विचार मिल के दर्शन से बहुत दूर है। बार्कर लिखता है कि मिल केवल अपूर्ण व्यक्ति और खोखली स्वतंत्रता का पैगम्बर है। उसने अधिकारों का कोई स्पष्ट दर्शन नहीं दिया जिसके द्वारा ही स्वतन्त्रता की भावना ठोस रूप ले सकती है। उसमें उन सामाजिक पूर्णता के विचारों का अभाव है जिसके द्वारा ही राज्य और व्यक्ति का विरोध हटता है।

१८७० ईसवी में इंग्लैंड ने लैसे फेयर सिद्धान्त को छोड़ सामाजिक नियमन अपनाया।

सामाजिक नियमन स्वतंत्रता के लिये आवश्यक था।

नई परिस्थिति में काम के घण्टे सीमित करने मजदूरों का वेतन निश्चित करने और फैक्टरियों में स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक नियमन आवश्यक था। इस नए युग में वैधिक नियमन स्वतन्त्रता के लिए उतना ही आवश्यक था जितना १८४० में अनाज संबंधी नियमों (corn laws) को हटाना। इसलिए १८७० में राज्य ने श्रमिकों के हित में नियम बनाने आरम्भ कर दिये। ये नियम स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक समझे गये परन्तु इन परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल कोई दर्शन न था। यह दर्शन ग्रीन ने दिया।

(२)
नियम और स्वतन्त्रता

सामाजिक नियमन पुराने व्यक्तिवादी विचारों के विरुद्ध है परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रत्येक उदारवादी इसकी आवश्यकता मानता है। इसलिए ग्रीन ने उदारवादी सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्यता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ग्रीन व्यक्तिवादी ही है पर वह नई परिस्थितियों के अनुरूप संशोधित व्यक्तिवाद देता है। लैसेफेयर से वह सामाजिक नियमन

की ओर आदर्शवादी सिद्धान्त के सहारे जाता है और समाज को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक मानता है।

ग्रीन का कहना है कि पुराने व्यक्तिवादी विचारक सामाजिक नियमन के विरुद्ध हैं क्योंकि उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होती है। इसलिए वे समाज द्वारा किये गये सुधारों के भी विरुद्ध हैं। इसमें संदेह नहीं कि व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रारम्भिक वर्षों में नियमों का विरोध करना आवश्यक था, क्योंकि इन नियमों से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित होती थी। परंतु आज के युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक नियमन आवश्यक है। इसलिए पुरानी व्यक्तिवादी विचारधारा आज के लिये उपयुक्त नहीं है। व्यक्तिवादी विचारधारा से केवल पूंजीपति वर्ग का हित साधन हुआ है, सर्वसाधारण का नहीं। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ होता है—अपना रास्ता स्वयं चुनना। परंतु पूंजीवादी समाज में यदि केवल दो ही रास्ते हैं—कम वेतन पर काम करना या भूखों मरना तो इनमें किसी रास्ते को चुनना व्यक्ति के विकास या उसकी स्वतन्त्रता के लिये घातक है।

ग्रीन लिखता है कि सही अर्थों की स्वतंत्रता मानव को सबसे बड़ी देन है—और स्वतंत्रता को प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का सही उद्देश्य भी है। परन्तु स्वतंत्रता का अर्थ केवल नियन्त्रण से मुक्ति पाना नहीं है—और न स्वतंत्रता का अर्थ है—स्वेच्छा या मनचाहा कार्य करना। साथ ही हम उसे भी स्वतन्त्रता नहीं कह सकते—जब एक व्यक्ति या कोई वर्ग दूसरे की स्वतंत्रता की बलि देकर स्वतंत्रता का उपभोग करे। हम उसी स्वतन्त्रता को मूल्यवान मानते हैं जिससे हमें उस काम को करने की सुविधा मिले उन क्षमताओं को बढ़ाने की सुविधा मिले जो मनोवांछित हैं जो मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। इसलिए हमारे काम दूसरे मनुष्यों के कार्यों से संबंधित हैं। 'स्वतन्त्रता से हमारा अर्थ उस शक्ति से होता है जो प्रत्येक मनुष्य को दूसरों की सहायता या अन्य साथियों द्वारा दी गई सुरक्षा द्वारा मिलती है—और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों को सुरक्षा देता है"।* हम उस समय समाज की स्वतन्त्रता में वृद्धि मानते हैं जब प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक और अपनी भलाई करने की शक्तियों में वृद्धि होती है। यदि यह शक्ति कुछ लोगों के पास ही होती है,

* We mean by it a power which each man exercises through the help or security given him by his fellow men and which he in turn helps to secure for them.

तो इसे हम स्वतन्त्रता नहीं कह सकते क्योंकि अन्य व्यक्तियों को सामाजिक भलाई में अपना योग देने का अवसर नहीं रहता।

इस प्रकार स्वतंत्रता केवल साधन है और साध्य है सामाजिक कल्याण में समान योगदान देने के लिये सबकी शक्तियों को मुक्त करना। इसलिये कोई मनुष्य किसी की संपत्ति नहीं हो सकता और न कोई मनुष्य दूसरे का साधन बन सकता है। चूँकि श्रम मनुष्य के व्यक्तित्व से संबंधित है इसलिये यदि पूँजीपति और मजदूरों के संबन्धों से सामाजिक भलाई में स्वतंत्र योगदान देने में व्यक्ति को कोई बाधा पड़ती है तो श्रम के बेचने पर नियंत्रण करना आवश्यक है। रोशनी और स्वच्छ वायु की कमी वाली फैक्टरियाँ अधिक श्रम के घंटे मनुष्य के इस योगदान को सीमित करते हैं इसलिये फैक्टरियों के अस्वस्थ वातावरण को हटाने वाली श्रम के घंटे निर्धारित करने वाली तथा अनिवार्य शिक्षा का आयोजन करने वाली विधियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित नहीं करतीं वरन् मनुष्य को अपनी शक्ति प्रयोग करने की सुविधा देती हैं।

पुरानी व्यक्तिवादी धारा में सामाजिक नियमन का विरोध आवश्यक था क्योंकि सामाजिक नियम व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित करते थे परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों की स्वतंत्रता के लिये सामाजिक नियमन आवश्यक हो गया।

स्वतंत्रता का अर्थ है मनुष्योचित क्षमता का विकास करना और सामान्य हित में अपना योग देना।

'हमारा आधुनिक नियमन जो श्रम शिक्षा और स्वास्थ्य से संबंध रखता है और जिसके कारण हमारे समझौते की स्वतन्त्रता में अधिकाधिक हस्तक्षेप मालूम होता है इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक अच्छाई बढ़ाना नहीं है फिर भी वह उन परिस्थितियों को बनाता है जिनके बिना मानवीय शक्तियों का स्वतंत्र रूप से कार्य करना असंभव है।'*

* Our modern legislation, then, with reference to labour and education and health, involving as it does, manifold interference with freedom of contract, is justified on the ground that it is the business of the State, not indeed directly to promote moral goodness, for that from the very nature of moral goodness it cannot do but to maintain the conditions without which a free exercise of human faculties is impossible.

इस प्रकार ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये समाज और राज्य के नियमों को आवश्यक मानता है।

(३)

मानव प्रकृति और राज्य

नीति दर्शन के प्रोफेसर होने के नाते ही ग्रीन ने अपने राजनीति दर्शन संबंधी विचार रखे हैं इसलिये ग्रीन के राजनैतिक विचारों को हम आचार संबंधी विचारों की पृष्ठभूमि में ही आसानी से समझ सकते हैं। ग्रीन व्यक्तिवादी है और व्यक्ति को साध्य मानता है साधन नहीं। उसके आचार व राजनीति संबंधी विचार व्यक्ति से ही प्रारंभ होते हैं।

ग्रीन के अनुसार आत्म विकास ही परम मंगल या सर्वश्रेष्ठ अच्छाई है। आत्मकल्याण वासनाओं और इच्छाओं को बुद्धि के अधीनस्थ करने में है। इसलिये व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य वासनाओं का गुलाम न हो वरन् इन वासनाओं और भावनाओं का विकास बुद्धि के अन्तर्गत करे।

आत्म विकास समाज के अन्य व्यक्तियों के घनिष्ठ सहयोग से ही संभव है। आदर्श आत्मा सामाजिक आत्मा भी है। इसलिये व्यक्ति यदि अपना एकाकार कुटुम्ब कबीले मानवता और उनके हितों से कर सके तो वह अपने आप अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से अपने को ऊपर उठा सकता है। इस लिये केवल समाज में ही व्यक्ति आत्म कल्याण प्राप्त करता है। वासना और इच्छा का जीवन निम्न जीवन है। जहां मनुष्य वासना का गुलाम होता है वहां मनुष्यों के हितों में विरोध रहता है। जब वे विवेकशील हो जाते हैं तो उनके हित समान हो जाते हैं और व्यक्ति में सामान्य हित की चेतना हो जाती है क्योंकि विवेक के द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों में अपना ही

व्यक्ति साध्य है साधन नहीं।

व्यक्ति आत्म विकास अर्थात् विवेक द्वारा वासनाओं का नियमन चाहता है।

आत्म विकास कुटुम्ब कबीले आदि समुदायों के हित में काम करने से ही होता है।

इसलिये आदर्श आत्मा सामाजिक आत्मा है और स्वार्थ और परार्थ में कोई भेद या विरोध नहीं।

प्रतिबिम्ब देखता है इसलिये नैतिक जीवन वह है जिससे मनुष्य की उच्च और हीन प्रवृत्तियों का विरोध समाप्त होता है और जिसके द्वारा हीन प्रवृति उच्च प्रवृति में बदल जाती है। उच्च प्रवृति बुद्धिमय आत्मा है यह हमें समाज द्वारा ही मिलती है। जितना ही अधिक व्यक्ति अपने स्वार्थ अपनी संकीर्णता का नाश करता है और समाज जाति और मानवता के साथ एकाकार करता है उतना ही अधिक उसे उच्च आदर्श या बौद्धिक आत्मा की प्राप्ति होती है। सर्वश्रेष्ठ वैयक्तिक मंगल और उच्चतम सामाजिक मंगल स्वार्थ और परार्थ में कोई विरोध नहीं दोनों एक हैं।

इस तरह सामाजिक संस्थायें वे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम अपना विकास कर सकते हैं। समाज में रहकर ही हम अपना नैतिक जीवन प्राप्त करते हैं। ग्रीन के विचार यहां बिलकुल प्लेटो और अरस्तू के विचारों से मिलते हैं।

पूर्ण आत्म विकास एक आदर्श है। जब मनुष्य की आत्मा परम लक्ष्य प्राप्त कर लेती है तो उसे हम परमात्मा कहते हैं। इसलिये दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आत्मा की पूर्णता का अर्थ है मनुष्य के भीतर परमात्मा की अभिव्यक्ति। इसलिये मनुष्य जब विकास के लिये प्रयत्नशील होता है तो इसका अर्थ है अमर चेतना (परमात्मा) का उसमें प्रादुर्भाव होता यही मानव चेतना को सामाजिक मंगल का विचार देती है जिसमें व्यक्ति अपनी आत्मा का एकाकार समाज के साथ कर सके।

समाज के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी ग्रीन व्यक्तिवादी ही है। वह लिखता है कि 'राष्ट्र के जीवन की अपनी कोई वास्तविकता नहीं वह तो राष्ट्र को निर्मित करने वाले व्यक्तियों का जीवन है।'* राष्ट्र की महानता का अपना कोई अर्थ नहीं। राष्ट्र की महानता से अर्थ होता है व्यक्ति की उन्नति राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों का विकास। इस प्रकार ग्रीन हीगेल के विचारों को स्वीकार नहीं करता। हीगेल राज्य को ही परमात्मा का स्वरूप मानता है और उसकी आज्ञा मानने में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्ति का विकास देखता है।

समाज नैतिक इकाई है

प्रश्न यह उठ सकता है कि व्यक्ति में आत्म विकास की भावना कहां से

*"The life of the nation has no real existence except as the life of the individuals composing it."

जाती है ? और वह समाज में रहकर और समाज के द्वारा यह विकास कैसे कर सकता है ? इन बातों को समझाने मे ग्रीन जैसा उदार आत्म तत्त्व दार्शनिक नहीं है। वह गंभीर यथार्थवादी है। वह लिखता है कि प्रत्येक समाज में हम यही प्रवृत्ति देखते हैं। इन्हीं वास्तविक प्रवृत्तियों को देखकर ही हम मनुष्य की सम्भावनाओं को समझ सकते हैं। "बिना वास्तविक परिस्थितियों के आदर्श संभावना का विचार हो ही नहीं सकता।"

व्यक्ति कुटुम्ब में रहता है और हम यह हमेशा देखते हैं कि कुटुम्ब का स्वामी या सभी सदस्य एक दूसरे के कल्याण में लगे रहते हैं। प्रत्येक अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है, प्रत्येक कुटुम्ब के सुख में अपना सुख देखता है। कुटुम्ब के विकास में उसका विकास निहित होता है। यही भावना हमें परिवारों और कबीलों में दिखाई देती है। इसी भावना से सामाजिक नैतिकता का जन्म होता है।

सामाजिक नैतिकता समाज के रीति रिवाज नियम एवं संस्थाओं में व्यक्त होती है और मनुष्य को नैतिक कार्य करने को बाध्य करती है। इस तरह समाज की नैतिकता हमारे पूर्वजों की नैतिक भावना ही है और यह नैतिकता हमें आगे बढ़ने और उच्च होने को प्रेरित करती है। इस प्रकार समाज एक नैतिक इकाई है। सामाजिक नैतिकता के मान्य नियम समाज के हित में होते हैं और समाज में रहकर मनुष्य अपनी ही इच्छा से वह कार्य करता है जिसकी समाज उससे आशा करता है इसलिये मनुष्य के कार्यों और समाज के उद्देश्य में सामंजस्यता रहती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की इच्छा सामाजिक इच्छा द्वारा निर्दिष्ट होती है।

सामाजिक नैतिकता और अपने अनुभवों के आधार पर तथा अपने कामों पर चिंतन कर मनुष्य उन आदर्श कर्त्तव्यों की धारणा बनाता है जो उससे अपेक्षित हैं। इस प्रकार वह परम मंगल या सामाजिक मंगल में अपना कल्याण देखता है। यह आदर्श ही उसे बताता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिये। यह परम मंगल विश्वात्मा है जिसमें विवेक और इच्छा का पूर्ण सामंजस्य होता है। यही परम मंगल या शाश्वत चेतना मनुष्य को आत्म विकास या आत्म बोध करने के लिए प्रेरित करती रहती है। इसलिये बार्कर लिखता है कि ग्रीन के राजनैतिक विचारों के परे उसका तत्त्वदर्शन है और ग्रीन की राज्य की धारणा के पीछे एक शाश्वत चेतना (eternal self consciousness)

आत्म विकास का अर्थ है पर आत्मा की अभिव्यक्ति अमर चेतना मानव चेतना को सामाजिक भवन का विचार देती है।

व्यक्ति कुटुम्ब के सुख में अपना सुख देखता है; कुटुम्ब या समुदायों के प्रति कर्तव्य भावना सामाजिक नैतिकता बनाती है, जो समाज के रीति रिवाजों में व्यक्त होती है। इस तरह समाज नैतिक इकाई है।

सामाजिक नैतिकता पर चिंतन कर मनुष्य परम मंगल की धारणा बनाता है। का विचार पाया जाता है जो मनुष्य की चेतना को सामाजिक भलाई का ज्ञान कराती है।

इस संबंध में ग्रीन के विचार हीगेल से मिलते दिखाई देते हैं। हीगेल के अनुसार राज्य नैतिकता की मूर्ति है और यही व्यक्ति को नैतिक बनाता है ग्रीन के अनुसार भी समाज व्यक्ति को नैतिक बनाता है क्योंकि समाज ही व्यक्ति की चेतना के सम्मुख इस नैतिकता के लिये वातावरण सामग्री या वस्तु उपस्थित करता है। हीगेल और ग्रीन में अन्तर यह है कि ग्रीन इस नैतिक वातावरण को मनुष्य की पूर्व पीढ़ियों का सुफल मानता है। नैतिकता स्वयं राज्य की अपनी वस्तु नहीं।

समाज और व्यक्ति

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की चेतना कुटुम्ब पड़ोस समाज और अन्य संस्थाओं की नैतिकता बनाती है। इसी चेतना के द्वारा वह दूसरों के लिये काम करने में संतोष पाता है दूसरों की भलाई में अपनी भलाई समझता है। इस नैतिक वातावरण में चिंतन करने से उसे इस सामाजिक नैतिकता के आधार पर विशुद्ध नैतिकता की भावना प्राप्त होती है इसलिये राज्य और समाज स्वयं नैतिक इकाई हैं साधन हैं। इस साधन का अंग बनकर ही व्यक्ति उच्च आदर्शों की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इसलिये व्यक्ति अपने चेतन तत्त्व के द्वारा इस उच्च आदर्श या विश्वात्मा के साथ एकता स्थापित कर सकता है और पूर्णता का अनुभव करता है। यही पूर्णता प्राप्त करना ही आत्म बोध आत्म साक्षात्कार या आत्म विकास कहलाता है। चेतन तत्त्व के कारण मनुष्य केवल अपनी शारीरिक इच्छाओं और भौतिक सुखों से संतुष्ट नहीं होता। वह आत्म साक्षात्कार ही में अपनी सर्वोच्च भलाई समझता है। इसलिये मनुष्य का सतत प्रयत्न इस उच्च जीवन उस श्रेष्ठता को प्राप्त करना है जिसे हम ईश्वर

या विश्वात्मा में पाते हैं। इस प्रकार ग्रीन के तत्व दर्शन की प्रमुख बात यह है कि मनुष्य सदैव ही उच्च जीवन के लिये प्रयत्नशील रहता है।

चूँकि प्रत्येक मनुष्य में चेतन तत्व है और वह विश्वात्मा में भाग लेता है इसलिये व्यक्ति की अपनी महत्ता है, अपनी गरिमा है। इसलिये सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं और बराबर। इसलिये प्रत्येक मनुष्य साध्य है साधन नहीं और प्रत्येक मनुष्य के लिये अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व की मान्यता और सम्मान देना आवश्यक है। चूँकि सामाजिक जीवन में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है इसलिए आत्म साक्षात्कार की भावना में सामाजिक भावना निहित है। ग्रीन का कहना है कि 'आत्म सामाजिक आत्म है' (Self is a social self)।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ग्रीन किस प्रकार बेंथम आदि व्यक्तिवादियों का ही अनुयायी है किस प्रकार उसके दर्शन का केन्द्र व्यक्ति ही है। परन्तु उसका उदारवादी सिद्धान्त लेसेफेयर के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि वह समाज को बुराई नहीं समझता समाज के कार्यों को सीमित नहीं करना चाहता। वह यह मानता है कि समाज व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता परन्तु समाज व्यक्ति की नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटा कर उदारवादी नियमन द्वारा व्यक्ति को सहायता पहुँचा सकता है। समाज का अपना निजी अस्तित्व है समाज का अंग होकर ही व्यक्ति यह श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है।

व्यक्तिवाद

समाज नैतिक इकाई है, यह व्यक्ति को परम मंगल की चेतना देता है।

व्यक्ति में चेतन तत्व है, वही आत्म विकास के लिये प्रयत्नशील होता है इसलिये व्यक्ति साध्य है। फिर वह समाज में ही नैतिकता प्राप्त करता है इसलिये समाज बुराई नहीं। समाज का अंग होकर, समाज के नियमों द्वारा ही उसे आत्म बोध होता है।

(४)
स्वतन्त्रता

स्वतंत्रता का साधारण बोल चाल में अर्थ होता है, दूसरों के दबाव से मुक्ति पाना। मनुष्य अपने भीतर भी दो व्यक्तियों का अनुभव करता है, जिसे

आत्म विकास का पथ है पर आत्मा की अभिव्यक्ति; अमर चेतना मानव चेतना को सामाजिक मंगल का विचार देती है।

व्यक्ति कुटुम्ब के सुख में अपना सुख देखता है कुटुम्ब या समुदायों के प्रति कर्तव्य भावना सामाजिक नैतिकता बनाती है जो समाज के रीति रिवाजों में व्यक्त होती है। इस तरह समाज नैतिक इकाई है।

सामाजिक नैतिकता पर चिंतन कर मनुष्य परम मंगल की धारणा बनाता है। का विचार पाया जाता है जो मनुष्य की चेतना को सामाजिक भलाई का भान कराती है।

इस संबंध में ग्रीन के विचार हीगेल से मिलते दिखाई देते हैं। हीगेल के अनुसार राज्य नैतिकता की मूर्ति है और वही व्यक्ति को नैतिक बनाता है। ग्रीन के अनुसार भी समाज व्यक्ति को नैतिक बनाता है क्योंकि समाज ही व्यक्ति की चेतना के सम्मुख इस नैतिकता के लिये वातावरण सामग्री या वस्तु उपस्थित करता है। हीगेल और ग्रीन में अन्तर यह है कि ग्रीन इस नैतिक वातावरण को मनुष्य की पूर्व पीढ़ियों का सुफल मानता है। नैतिकता स्वयं राज्य की अपनी वस्तु नहीं।

समाज और व्यक्ति

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की चेतना कुटुम्ब पड़ोस समाज और अन्य संस्थाओं की नैतिकता बनाती है। इसी चेतना के द्वारा वह दूसरों के लिये काम करने में संतोष पाता है दूसरों की भलाई में अपनी भलाई समझता है। इस नैतिक वातावरण में चिंतन करने से हम सामाजिक नैतिकता के आधार पर विशुद्ध नैतिकता की भावना प्राप्त होती है इसलिये राज्य और समाज स्वयं नैतिक इकाई है साधन है। इस साधन का अंग बनकर ही व्यक्ति उच्च आदर्शों की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इसलिये व्यक्ति अपने चेतन तत्व के द्वारा इस उच्च आदर्श या विश्वात्मा के साथ एकता स्थापित कर सकता है और पूर्णता का अनुभव करता है। यही पूर्णता प्राप्त करना ही आत्म बोध आत्म साक्षात्कार या आत्म विकास कहलाता है। चेतन तत्व के कारण मनुष्य केवल अपनी शारीरिक इच्छाओं और भौतिक सुखों से संतुष्ट नहीं होता। वह आत्म साक्षात्कार ही में अपनी सर्वश्रेष्ठ भलाई समझता है। इसलिये मनुष्य का सतत प्रयत्न उस उच्च जीवन उस महत्ता को प्राप्त करना है जिसे हम ईश्वर

या विश्वात्मा में पाते हैं। इस प्रकार ग्रीन के तत्त्व दर्शन की प्रमुख बात यह है कि मनुष्य सदैव ही उच्च जीवन के लिये प्रयत्नशील रहता है।

चूँकि प्रत्येक मनुष्य में चेतन तत्त्व है और वह विश्वात्मा में भाग लेता है इसलिये व्यक्ति की अपनी महत्ता है अपनी गरिमा है। इसलिये सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं और बराबर। इसलिये प्रत्येक मनुष्य साध्य है साधन नहीं और प्रत्येक मनुष्य के लिये अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को मान्यता और सम्मान देना आवश्यक है। चूँकि सामाजिक जीवन में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है इसलिए आत्म साक्षात्कार की भावना में सामाजिक भावना निहित है। ग्रीन का कहना है कि 'आत्म सामाजिक आत्म है' (Self is a social self)।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ग्रीन किस प्रकार बेंथम आदि व्यक्तिवादियों का ही अनुयायी है किस प्रकार उसके दर्शन का केन्द्र व्यक्ति ही है। परन्तु उसका उदारवादी सिद्धान्त लैसेफेयर के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि वह समाज को बुराई नहीं समझता, समाज के कार्यों को सीमित नहीं करना चाहता। वह यह मानता है कि समाज व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता परन्तु समाज व्यक्ति की नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटा कर उदारवादी नियमन द्वारा व्यक्ति को सहायता पहुँचा सकता है। समाज का अपना निजी अस्तित्व है। समाज का अंग होकर ही व्यक्ति यह श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है।

'व्यक्तिवाद'

समाज नैतिक इकाई है, वह व्यक्ति को परम मंगल की चेतना देता है।

व्यक्ति में चेतन तत्त्व है, वही आत्म विकास के लिये प्रयत्नशील होता है इसलिये व्यक्ति साध्य है। फिर वह समाज में ही नैतिकता प्राप्त करता है इसलिये समाज बुराई नहीं। समाज का अंग होकर, समाज के नियमों द्वारा ही उसे आत्म बोध होता है।

(४)

स्वतन्त्रता

स्वतंत्रता का साधारण बोध भाषा में अर्थ होता है दूसरों के दबाव से मुक्ति पाना। मनुष्य अपने भीतर भी दो व्यक्तियों का अनुभव करता है, जिसे

वह क्रम से शैतान और देवता कहता है। शैतान प्रवृत्तियों के दबाव से दैव-प्रवृत्तियों को छुटकारा मिलना ही स्वतंत्रता है। इसी बात को प्लेटो संतपाल या अन्य धर्म पैगम्बरों ने कहा है। प्लेटो का कहना है कि वासनाओं का अधिपत्य होने पर मनुष्य इच्छाओं का गुलाम होता है। जब वह इच्छाओं को विवेक के आधीन रखता है तभी मनुष्य धर्म पालता है, तभी मनुष्य स्वतंत्र है। इसलिये मनुष्य उस समय स्वतंत्र है जब वह विवेक पूर्ण आत्म को अपने जीवन का साध्य बनावे जब वह मनुष्य होने की चेष्टा करे, जब आदर्श, आत्म साक्षात्कार की भावना उसके जीवन को संचालित करे। ग्रीन के शब्दों में "मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र है परन्तु इस का उद्देश्य क्या है इस पर स्वतंत्रता का अर्थ निर्भर होता है।" केवल इस या उस इच्छा की संतुष्टि यदि मनुष्य ने अपना लक्ष्य बनाया है तो मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य उसी समय स्वतंत्र है जब वह उस सन्तोष की अपेक्षा करता है जिसे हम शांति कहते हैं जिसमें हम पूर्णता प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में हम उस समय स्वतन्त्र हैं जब हमारी इच्छा और विवेक में मेल होता है, जब हमारी इच्छाएँ आत्म चेतन से या बौद्धिक आत्मा से कार्यान्वित होती हैं या बौद्धिक आत्मा हमारी इच्छाओं या प्रवृत्तियों का हनन नहीं करती वरन् उनका उन्नयन एवं आध्यात्मीकरण करती है।

ईश्वर या शाश्वत चेतना में भी इच्छा और विवेक का मेल होता है। उसमें हम पूर्ण स्वतन्त्रता देखते हैं। शाश्वत चेतना का अङ्ग होने के कारण स्वतन्त्रता मानव चेतना का ही गुण है। ग्रीन के इस कथन में कि मनुष्य स्वचालित है यही बात कही गई है। आत्म नियन्त्रित होना मनुष्य की स्वभाव गत विशेषता है। परन्तु यह विशेषता हमें आदर्श मनुष्य में ही मिल सकती है वास्तविक मनुष्य में इसकी सम्भावना ही हमें दिखाई देती है। इसलिए वास्तविक मनुष्य को अपूर्ण है पूर्णता प्राप्त करने का आत्म निर्देशित होने का प्रयत्न करना है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता का अर्थ मन चाहा या स्वेच्छा से कार्य करना नहीं है वरन् उन कामों को करना भी मनुष्योचित है जिन्हें आत्म साक्षात्कार के लिये हमें करना चाहिये। इस प्रकार शराबी या जुआरी स्वतन्त्र नहीं है भले ही शराब पीने और जुआ खेलने में उन पर कोई प्रतिबन्ध न लगा हो। स्वतन्त्रता का अर्थ निश्चित है।

स्वतन्त्रता

मनुष्य की इच्छा तभी स्वतंत्र है जब उसमें विवेक का मेल हो।

जब उसकी इच्छाएँ बौद्धिक आत्मा से संचालित हों।

साथ ही स्वतन्त्रता दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्ति पाने में नहीं है। यह तो स्वतन्त्रता का नकारात्मक रूप है। स्वतन्त्रता का अर्थ है दूसरों के दबाव से मुक्ति नहीं वरन् स्वयं कुछ कार्य करने की क्षमता। इस प्रकार स्वतन्त्रता सकारात्मक है स्वतन्त्रता स्वयं कुछ करने में है अपूर्णता से पूर्णता प्राप्त करने में है। संक्षेप में उचित कामों को करने या उनका उपयोग करने की सकारात्मक शक्ति ही स्वतन्त्रता है।*

आत्म निर्देशित होना मनुष्य का गुण है ईश्वर का गुण है इसलिये अपूर्ण मनुष्य स्वप्रकाशित होने की चेष्टा करता है।

स्वतंत्रता के निश्चित लक्षण हैं—मनुष्योचित कार्य करना स्वतंत्रता सकारात्मक है—कुछ काम करने में है।

इस तरह ग्रीन कांट के समान ही स्वतन्त्र नैतिक इच्छा को मनुष्य की आत्मा का गुण मानता है। इस स्वतन्त्रता का [redacted] मनुष्य साक्षात्कार कर सकता है इसलिए राज्य को स्वतन्त्रता का दमन नहीं करना चाहिए। आत्म साक्षात्कार स्वयं व्यक्ति ही कर सकता है अन्य कोई बाह्य शक्ति या राज्य मनुष्य को यह आत्म साक्षात्कार नहीं करा सकती पर राज्य मनुष्य के रास्ते में आने वाली बाधाओं को हटा सकता है।

(५)

अधिकार

समाज में रहकर जब मनुष्य पूर्ण मंगल की धारणा प्राप्त कर लेता है तो वह इस धारणा के आधार पर वास्तविक समाजों की नैतिकता को नापता है उनकी आलोचना करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस पूर्ण मंगल को प्राप्त करने के लिये उसे कुछ विशेष परिस्थितियाँ मिलना चाहिए। वह इन परिस्थितियों की माँग समाज से करता है। वह स्वयं दूसरे व्यक्तियों को इस प्रकार की परिस्थितियाँ देने को तैयार रहता है। इस प्रकार इन परिस्थितियों की एक ओर माँग होती है और दूसरी ओर इन्हें संरक्षण एवं

---

* "*a positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying.*"

मान्यता प्राप्त का प्रावधान भी रहता है। ग्रीन इन परिस्थितियों को अधिकार कहता है। चूँकि इनके द्वारा ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है इनके द्वारा मनुष्य मनुष्य बन सकता है इसलिए इन्हें हम प्राकृतिक अधिकार भी कह सकते हैं। इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए ही राज्य की आवश्यकता है क्योंकि यदि हमारी नैतिक प्रवृत्ति इनकी आवश्यकता मानती है तो भी हमारी वास्तविक प्रवृत्ति इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न कर सकती है। अपूर्ण मनुष्य इन नैतिक अधिकारों के विरुद्ध जा सकता है दूसरों को हानि पहुँचा सकता है इसलिए इनकी सुरक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।

ग्रीन इस तरह नीति शास्त्र (आंतरिक स्वतंत्रता) से राजनीति (बाह्य आचरण) पर आता है। (१) मानव चेतना स्वतंत्रता चाहती है (२) स्वतंत्रता के लिए अधिकार आवश्यक है (३) अधिकारों की रक्षा के लिये राज्य आवश्यक है।

मनुष्य के बाह्य कार्य राजनीति के विषय हैं। बाह्य जगत की स्वतंत्रता (अर्थात् अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरों का सहयोग प्राप्त होना और आत्म विकास में आने वाली बाधाओं से मुक्ति) राजनीति का विषय है। राज्य एक ओर तो व्यक्ति द्वारा मांग की गई परिस्थितियों को मान्यता देकर दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियों में सुधार कर मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायक होता है

व्यक्ति के अपने लिए अधिकार की मांग अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता देने की पूरक है। इस प्रकार समाज में सामान्य हित की सामान्य चेतना कार्य करती है। इस प्रकार अधिकार में दो तत्त्व मिले हैं (१) अपने आत्म विकास के लिए व्यक्ति द्वारा मांग और (२) समाज द्वारा इस मांग की स्वीकृति।

इसलिये अधिकार नैतिक प्रगति के लिये वह व्यक्तिगत मांग है जिसे समाज द्वारा स्वीकृति व संरक्षण प्राप्त हो। ये अधिकार व्यक्ति को केवल समाज के सदस्य होने के नाते मिल सकते हैं क्योंकि सामाजिक संरक्षण इन अधिकारों का एक आवश्यक तत्त्व है। पूरे समाज के आत्म विकास से सबंधित होने के कारण ही समाज इन्हें मान्यता देता है। जब तक मनुष्य में इस प्रकार "सामान्य हित की सामान्य चेतना" नहीं होगी तब तक उस समाज में शक्ति ही होगी, अधिकार नहीं।

अधिकार और वैधिक अधिकार

ग्रीन जब सामाजिक संरक्षण की चर्चा करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य ने इनको मान्यता दे दी है और ये व्यक्ति के वैधिक अधिकार हैं। "अधिकारों की समाज द्वारा स्वीकृति के दो स्तर हैं पहला स्तर तो यह है कि जनमत कुछ अधिकारों का औचित्य स्वीकार करले पर उन्हें राज्य या कानून द्वारा स्वीकृति या संरक्षण न मिल पाया हो। भारत में जनमत इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को भरपेट भोजन पर्याप्त वस्त्र स्वास्थ्य सुविधा शिक्षा सुविधा आदि मिलना चाहिये पर अभी इस बात या मांग को राज्य या कानून की स्वीकृति नहीं मिली है, इसी कारण ये अधिकार अभी कार्यान्वित नहीं किये जा सकते। कोई भूखा मनुष्य सरकार से यह दावा नहीं कर सकता है कि उसे रोटी दे ही। ऐसे अधिकारों को ग्रीन प्राकृतिक अधिकार (Natural rights) कहते हैं। जो अधिकार कानून द्वारा संरक्षित हैं और जिन्हें भंग करने वाले को राज्य से दण्ड मिलता है वे कानूनी अधिकार (legal rights) कहे जाते हैं। जो आज प्राकृतिक अधिकार मात्र हैं कल राज्य और कानून द्वारा स्वीकृत और संरक्षित किये जाने पर वही कानूनी अधिकार में बदले जा सकते हैं"* ।

अधिकार

पूर्ण मनुष्य की धारणा के आधार पर व्यक्ति सामाजिक नैतिकता को सीखता है और पूर्ण मंगल प्राप्त करने के लिये कुछ अवस्थाओं की मांग समाज से करता है।

इस प्रकार अधिकार अपने विकास के लिये परिस्थितियों की मांग है जिन्हें समाज मान्यता देता है।

इन अधिकारों से ही मनुष्य अपना प्राकृतिक (पूर्ण) रूप प्राप्त करता है।

इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये राज्य आवश्यक है।

अधिकार केवल (१) व्यक्ति के विकास के लिये होते हैं। (२) समाज में ही सम्भव हैं।

प्राकृतिक अधिकार का अर्थ

ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जिस अर्थ में अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग किया था। अरस्तू के अनुसार

* डा० महादेव प्रसाद शर्मा—आधुनिक राजनीति के विभिन्नवाद पृष्ठ १२१

मनुष्य का प्राकृतिक रूप उसका पूर्ण विकसित रूप है इसलिये अपने पूर्ण विकास के लिये अनिवार्य साधन के रूप में ही ग्रीन इन्हें प्राकृतिक अधिकार कहता है। लॉक आदि समझौतावादियों ने प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है। इन समझौतावादियों का कहना है कि सामाजिक समझौते से पूर्व मनुष्य के कुछ जन्मजात अधिकार थे और राज्य इन जन्मजात अधिकारों को मान्यता देता है, इसलिये राज्य इनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ये अधिकार, जिन्हें हम मूल अधिकार भी कह सकते हैं, राज्य और समाज से पूर्ण स्वतंत्र हैं। परन्तु अधिकारों के लिये ग्रीन दो बातें आवश्यक मानता है। समाज द्वारा मान्यता और आत्मोन्नति के लिये व्यक्ति द्वारा मांग। चूंकि मनुष्य की आत्मोन्नति समाज के दूसरे व्यक्तियों से संबंधित है इसलिये ग्रीन समाज के पूर्व की प्राकृतिक अवस्था में इन अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकता है। इस प्रकार ग्रीन जिन अधिकारों की चर्चा करता है, वे नैतिकता से संबंधित हैं और इन्हें भले ही राज्य की धारा सभा द्वारा स्वीकृति या मान्यता न मिली हो पर इनकी आवश्यकता समाज की सामुदायिक नैतिक चेतना स्वीकार करती है। इसलिये इन अधिकारों की स्वीकृति राज्य की विधान सभा द्वारा नहीं समाज की नैतिक भावना द्वारा है। दूसरे रूप में भी ये अधिकार आत्मोन्नति से संबंधित होने के कारण हमारी नैतिकता से संबंधित हैं।

प्राकृतिक अधिकार

जिन अधिकारों को राज्य ने मान्यता दी है वे वैधिक अधिकार हैं।

जिन अधिकारों को समाज आवश्यक मानता है पर जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता नहीं मिली है वे प्राकृतिक अधिकार हैं। ये भावी वैधिक अधिकार हो सकते हैं।

प्राकृतिक से अर्थ प्राकृतिक अवस्था के अधिकारों से नहीं वरन् नैतिकता से होता है।

विधि, नैतिकता और अधिकार

राज्य की विधियों नैतिकता और अधिकार में घनिष्ठ संबंध है परन्तु ये पर्यायवाची शब्द नहीं। अधिकार आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है और इस तरह ये नैतिकता से ही संबंधित हैं। जब हम यह कहते हैं कि इन अधिकारों को राज्य से संरक्षण मिलना चाहिए तो हमारा यह कभी भी तात्पर्य नहीं कि राज्य इन अधिकारों को लागू कर व्यक्ति को नैतिक बना सकता है। क्योंकि नैतिकता हमारी आन्तरिक प्रवृत्ति या स्वभाव से संबंधित है और राज्य की

पहुँच आन्तरिक प्रवृत्ति तक नहीं हो पाती। राज्य तो केवल हमारे बाह्य कार्यों को नियमित या प्रोत्साहित कर सकता है। इसलिये प्राकृतिक अधिकार, जो आन्तरिकता से सम्बन्धित हैं नैतिक अधिकारों से अधिक व्यापक हैं।

परन्तु राज्य के नियम और राज्य की विधियाँ हमें भले ही नैतिक न बना सकें हमारे नैतिक विकास में सहायता देती हैं। राज्य इन विधियों के द्वारा मनुष्य को उन कामों को करने के लिये विवश करता है जिनसे समाज का नैतिक लक्ष्य पूरा होता है। यदि कहीं ऐसे नियम प्रचलित हों जो मनुष्य की आत्म निर्भरता धार्मिक विश्वास या कौटुम्बिक भावना कम करते हों तो इन नियमों को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु सभी नियम बुरे नहीं होते। व्यक्तिवादियों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे राज्य के सभी नियमों को हटाना या कम करना चाहते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से राज्य के नियम व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित करते हैं। पर सभी नियम व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित नहीं करते। राज्य के नियमों का विरोध केवल इसी आधार पर हो सकता है कि क्या इससे मनुष्य के नैतिक कार्य करने का क्षेत्र संकुचित होता है? राज्य का उद्देश्य ही है जीवन की उन व्यवस्थाओं को बनाना जिसमें नैतिकता संभव हो सके। पितृतुल्य (Paternal) राज्य केवल इसलिये बुरा है कि ऐसा राज्य व्यक्ति के लिये सब कुछ करता है इसलिये मनुष्य का निस्वार्थ भावना से कार्य करने का क्षेत्र सीमित हो जाता है। इस तरह प्राकृतिक अधिकारों की भाँति राज्य के नियम और विधियाँ भी नैतिक उद्देश्य से संबंधित हैं।

विधि और नैतिकता

राज्य की विधियाँ मानव के बाह्य व्यवहार से ही सम्बन्ध रखती हैं, जब कि नैतिकता आन्तरिकता से सम्बन्धित है। इसलिये प्राकृतिक अधिकारों का क्षेत्र विधियों से अधिक विस्तृत है।

विधियाँ नैतिकता में योग देती हैं (१) हमारे विकास की बाधाओं को हटाकर (२) सामाजिक लक्ष्य को पूरा करने के लिये मनुष्य को विवश करके।

(९)

सम्प्रभुता

इन प्राकृतिक और नैतिक अधिकारों को लागू करने की आवश्यकता भी है क्योंकि हमारी बौद्धिक आत्मा यदि ऐसे अधिकारों की आवश्यकता

समझती भी है तो भी हमारी वास्तविक इच्छायें न तो दूसरों के अधिकारों को मान्यता देना चाहती हैं और न वे सामान्य हित को स्वीकार करती हैं। पर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है और बिना अधिकारों के हमारा नैतिक उद्देश्य पूरा हो ही नहीं सकता। इसलिये इन अधिकारों का होना आवश्यक है और इसके लिये मनुष्य पर दबाव भी डाला जा सकता है। दूसरे शब्दों में राज्य हमें स्वतन्त्र करने के लिए बल का प्रयोग कर सकता है।

पर यह संप्रभु शक्ति समाज को ही मिलना चाहिए या दूसरे शब्दों में बाध्य करने का अधिकार सामान्य हित की सामान्य चेतना' (जो समाज निर्माण करती है) को ही मिलना चाहिये। यही चेतना हमारे अधिकारों को भी बनाती है। यदि इस चेतना को सामान्य इच्छा कहें तो रूसो के शब्दों में यह कह सकते हैं कि समाज का संप्रभु सामान्य इच्छा है।

पर यदि हम वास्तविक जगत को देखें तो हमें आस्टिन की संप्रभु की परिभाषा अधिक व्यावहारिक दिखाई देती है। परन्तु आस्टिन की संप्रभु की परिभाषा रूसो के संप्रभु की परिभाषा की विरोधी है क्योंकि जहाँ आस्टिन का संप्रभु (१) निश्चित मानव है और उसके पास (२) बल प्रयोग करने की शक्ति है वहाँ रूसो की सामान्य इच्छा न तो निश्चित है और न उसके पास बल प्रयोग करने की असीमित सत्ता ही है।

ग्रीन आस्टिन और रूसो दोनों की परिभाषाओं का मेल करता है और उन्हें एक दूसरे का पूरक मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक विधि का स्रोत निश्चित होता है। विधियाँ परम्पराओं से भिन्न हैं क्योंकि विधियाँ पार्लियामेंट शासक आदि निश्चित मानव या मानव समूह द्वारा बनाई जाती हैं जब कि परम्पराओं का स्रोत निश्चित नहीं है। इसलिये आस्टिन का यह कहना ठीक है कि विधि का स्रोत संप्रभु है—निश्चित मानव है।

परंतु प्रजा विधियों को स्वभावतः इसलिए नहीं स्वीकार करती कि उसे विधि उल्लंघन करने पर दण्ड मिलने का भय होता है। वह विधियों को इसलिये मान्यता देती है क्योंकि ये विधियाँ उसके सामान्य हित में हैं—या वे प्रजा की सामान्य इच्छा व्यक्त करती हैं। सर हेनरी मेन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रणजीतसिंह के समान स्वेच्छाचारी शासक भी जनता की सामान्य इच्छा या रीति रिवाजों के विरुद्ध नियम नहीं बना सके थे।

इसलिये संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में विधियों का स्रोत निश्चित मानव है परन्तु यह निश्चित मानव विधियों के बनाने में जन-इच्छा या सामान्य इच्छा को ही विधियों में व्यक्त करता है। या यह कहना चाहिये कि विधि बनाने में संप्रभु सामान्य इच्छा का एजेण्ट मात्र है।

आस्टिन की बड़ी भारी भूल यह है कि वह संप्रभु को बहुत अधिक शक्तिशाली मान बैठा है। वास्तव में संप्रभु इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। निश्चित मानव की इच्छा सब कुछ नहीं है। सच बात यह है कि संप्रभु शक्ति जनता के सामान्य हित की भावना में निहित है किसी व्यक्ति विशेष में नहीं। यह सामान्य हित की भावना ही लोगों को नियमों को पालने के लिये बाध्य करती है।

ग्रीन इस बात को इतिहास से उदाहरण देकर स्पष्ट करता है वह लिखता है कि प्राचीन सम्राट भी सर्वशक्तिशाली न थे। वे प्रजा के लिये विधियाँ नहीं बनाते थे। केवल कर वसूल करने में ही उनकी रुचि थी और कर वसूल करने में ही वे शक्ति का प्रयोग करते थे। विधियों के निर्माण और उनके पालन कराने का काम राज्य के हाथ में न था वरन यह कार्य जनता के विश्वास पात्र पुजारियों या कुटुम्ब के मुखियों के हाथ में ही रहता था जो जन हित में काम करते थे। इसलिये प्रजा इन साम्राज्यों में विधियों को सहर्ष स्वीकार करती थी। इसी प्रकार जब कोई विदेशी शक्ति अपना साम्राज्य बनाती है तो वह जनता की सामान्य इच्छा का ध्यान सदैव रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि रोम के शासकों ने बर्बर जातियों को नई रोमन विधियाँ दी थीं पर बर्बर जातियों ने इन विधियों को केवल इस कारण ही स्वीकार नहीं किया कि उन्हें रोमन शक्ति का भय था वरन् इसलिये कि उनमें

संप्रभुता

मनुष्य को नैतिक कार्यों के लिए विवश करने की शक्ति सामान्य हित की सामान्य चेतना या सामान्य इच्छा को होना चाहिये।

पर आस्टिन निश्चित मानव को प्रभु शक्ति देता है।

ग्रीन, रूसो और आस्टिन की सम्प्रभुता की परिभाषाओं को एक दूसरे का पूरक मानता है।

(१) विधि का निश्चित स्रोत होता है।

(२) विधि संप्रभु के भय के कारण नहीं वरन् सामान्य इच्छा व्यक्त करने के कारण पाली जाती है या दूसरे शब्दों में।

प्रचलित रीति रिवाजों की अपेक्षा रोमन विधियाँ उनके सामान्य हित को अच्छी तरह व्यक्त करती थीं। भारत वर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी विधियाँ नहीं लादीं क्योंकि हिन्दू और मुसलमानों की अपनी अपनी विधियाँ थीं जो उनके सामान्य हितों और इच्छाओं को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करती थीं।

इससे स्पष्ट है कि संप्रभु वास्तव में जन इच्छा है जिस पर समाज निर्भर है। निश्चित मानव विधियों का स्रोत अवश्य माना जाता है पर विधियों के निर्माण में वह जन इच्छा का एजेन्ट होकर काम करता है। बार्कर के शब्दों में 'राजनैतिक कार्यों को प्रोत्साहित और नियंत्रित करने वाली अन्तिम प्रेरक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति है—वह सामान्य विश्वास है जिससे सद्गुण स्थापित होता है—वह सामान्य चेतना है जो संधियों और समाज के एजेन्टों को शक्ति प्रदान करती है। यह सामान्य चेतना (या विश्वास) ही अधिकार बनाती है, विधि बनाती है या नियमों की वह व्यवस्था बनाती है जिसमें अधिकार सुरक्षित रहते हैं संप्रभु बनाती है जिसका एक मात्र काम है विधियों को बनाना या लागू करना उन सभी संस्थाओं को शक्तिशाली बनाये रखना और उनमें सामंजस्यता रखना जिनमें हमारे नियम और अधिक ठोस रूप में व्यक्त होते हैं।'*

निश्चित मानव की विधियाँ इस लिये मानी जाती हैं क्योंकि इन विधियों में सम्प्रभु सामान्य इच्छा का एजेंट होता है और उसे ही व्यक्त करता है।

पुराने साम्राज्य जनता की विधियों में हस्तक्षेप नहीं करते थे और यदि रोम ने नई विधियाँ दीं भी तो जनता ने शक्ति भय के कारण नहीं सामान्य हित के कारण ही इन्हें माना।

इसलिए समाज की अन्तिम शक्ति सामान्य हित की सामान्य चेतना है।

(७)

राज्य का आधार जन इच्छा है बल नहीं

इस प्रकार राज्य जन इच्छा पर आधारित है बल पर नहीं। राज्य बल के आधार पर ही शासन नहीं करता है। केवल सामान्य हित की सामान्य चेतना ही राज्य का निर्माण करती है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले दार्शनिक भी राज्य को स्वीकृति पर आधारित बताते हैं परन्तु उनके सिद्धान्त में कुछ त्रुटियाँ हैं। उनका कहना है कि समाज-पूर्व प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के अपने प्राकृतिक

*बार्कर—पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड १८४८—१९१४ पृष्ठ २८—२९

अधिकार थे। समझौते के द्वारा मनुष्य राज्य की स्थापना करता है और इस समझौते या स्वीकृति से राज्य को शक्ति मिलती है। पर जब राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग स्वतंत्रता को सीमित करने में करता है तो वे इस परिस्थिति को न्यायोचित बताने में अपने को असमर्थ पाते हैं। सामाजिक समझौते के लेखकों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे प्रजा और सम्प्रभु को अलग-अलग मानते हैं। वे यह नहीं समझते कि केवल समाज में ही और सामान्य हित की भावना के कारण ही व्यक्ति को अधिकार मिलते हैं और जिस राज्य शक्ति को उन्हें मानना पड़ता है वह शक्ति भी सामान्य हित को संचालित करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। वे यह भूल जाते हैं कि प्रजा और संप्रभु इस सामान्य हित की भावना के कारण आपस में संबंधित हैं।

व्यक्ति में श्रेष्ठ बनने की भावना समाज में ही आती है। सामाजिक वातावरण ही मानव लक्ष्य निर्धारित करता है वही उसे अधिकार की भावना देता है और राज्य का जन्म किन्हीं प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करने से नहीं या समझौते से नहीं वरन् सामान्य हित और सामान्य जीवन को संचालित करने वाली संस्थाओं के विकास से होता है। क्योंकि यदि कोई सामान्य आदर्श है जिसके नाते हम अधिकारों की मांग करते हैं दूसरों को अधिकार देते हैं तो वे सामान्य आदर्श ही राज्य की संस्था बनाते हैं। इसलिये व्यक्ति की नैतिक इच्छा ही राज्य निर्मित करती है।

नैतिकता और राजनैतिक आधीनता दोनों का एक ही स्रोत है और वह स्रोत है सामान्य हित में अपना हित देखना। दोनों में यह दो धारणायें निहित हैं (१) मुझे कुछ काम अपनी वास्तविक इच्छा के विरुद्ध करने होंगे (२) इस वास्तविक इच्छा के विरुद्ध कार्य करना सामान्य हित में है उदाहरण के लिये मुझे रात में साइकिल में बत्ती लगाकर चलना चाहिये और मुझे बाढ़ पीड़ितों की सहायता करनी चाहिये। इन दोनों वाक्यों में "चाहिये" शब्द लगा है जिससे स्पष्ट है कि मुझे यह कार्य अपनी वास्तविक प्रकृति के विरुद्ध करने होंगे। पहिले काम में तो शायद पुलिस का भय हो पर दूसरे काम में नहीं दिखता। परन्तु दोनों कामों में यह भावना अवश्य निहित है कि हमारी वास्तविक प्रकृति का नियंत्रण सामाजिक हित के लिये है। इस तरह राज्य की आज्ञा पालने में दण्ड का भय नहीं रहता वरना सामाजिक हित की भावना निहित रहती है। केवल भय से ही राज्य की आज्ञा का पालन नहीं होता। भय की कुछ मात्रा राज्य की आज्ञा पालन में अवश्य रहती है पर किसी यह कहना

कठिन है। हाँ यह बात सच है कि भय के कारण ही आज्ञा पालन की आदत किसी राजनैतिक समाज में नहीं पाई जा सकती।

जिसमें केवल सार्वजनिक हित में ही राज्य विधियां बनावे इसके लिये प्रत्यक्ष प्रजातंत्र (जिसमें सभी राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष भाग लेते हैं) आवश्यक है। पर आज हमें बड़े बड़े राज्यों में प्रतिनिधि प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है इसलिये यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों को बढ़ाया जावे जिसमें अधिक से अधिक व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिल सके।

पर इससे भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि आधुनिक युग में हमें बहुत सा कार्य सरकारी कर्मचारियों पर छोड़ देना पड़ता है। इनके आदेशों के संबंध में यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि क्या इन सरकारी कर्मचारियों द्वारा दिये गये आदेशों को भी हम दण्ड भय से नहीं वरन् सामान्य हित की सामान्य चेतना के कारण पालन करते हैं? इसी तरह यह पूछा जा सकता है कि युद्ध या क्रांतियों के पश्चात् जो राज्य बनते हैं तो इन राज्यों के बनाने वालों में सामान्य हित की भावना कहाँ होती है? इनकी स्वार्थ भावना में अधिकता में पाई जाने वाली निस्वार्थ भावना को देखना क्या भूल नहीं है?

इसमें संदेह नहीं कि इन सरकारी कर्मचारियों युद्ध और क्रान्ति करने वाले नेताओं के हृदयों में सामान्य हित की भावना पूर्ण रूप से नहीं रहती। परन्तु जनता यदि इन राज्यों को स्वीकार करती है तो केवल इस लिये कि यह राज्य उनकी सम्पत्ति और कुटुम्ब सुरक्षित रखेगा उन्हें चोर डाकुओं से बचावेगा, उन्हें नियत समय पर वेतन देगा। ये सब सुरक्षायें उसके पड़ोसी भी चाहते हैं। इस प्रकार अचेतन रूप में ही वह उन सब परिस्थितियों की मांग अपने पड़ोसी से करता है जो उसके और पड़ोसी दोनों के हित में है। इस प्रकार चेतन रूप से न सही अचेतन रूप से सामान्य हित की सामान्य चेतना ही लोगों को इन राज्यों के नियमों को मानने को बाध्य करती है दण्ड का भय नहीं। इसलिये इन राज्यों में भी जो राज्य के प्रति निष्ठा दिखती है वह इस अविकसित सामान्य हित की चेतना के कारण ही है। यह अवश्य है कि यह अविकसित भावना हमें राज्य निष्ठ भले ही बना दे पर देश भक्त नहीं बना सकती। सच्ची और बौद्धिक देश भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति राज्य में सक्रिय भाग ले न कि केवल राज्य के द्वारा दी गई सुरक्षा और शान्ति को

निष्क्रिय रूप से स्वीकार करता रहे। इसलिए व्यक्ति में राजनैतिक कर्तव्यों की ऊंची भावना उसी समय आ सकती है जब वह राज्य के कार्य में भाग ले। और यह दृढ़ भक्ति तीव्रतर उसी समय होती है जब व्यक्ति राज्य को अपना समझने लगे जब उसमें राज्य के प्रति वही भावना आ जावे जो वह एक ही मकान में रहने वाले एक ही रीति रिवाज मानने वाले एक ही भाषा वाले कौटुम्बिक सुख दुख को अपना समझने के कारण अपने कुटुम्ब के प्रति रखता है। आधुनिक राज्य अभी तक इस भावना को विकसित नहीं कर सके हैं।

परन्तु यह तो आदर्श का चर्चा होने लगी। आज हम राज्य को किस रूप में देखते हैं? कुटुम्ब के रूप में नहीं वरन् शक्ति के रूप में जिसकी आज्ञा अधिकतर लोगों को दण्ड के भय से मानना पड़ती है। इन राज्यों के बहुत से कार्य सार्वजनिक हितों की उपेक्षा करते दिखाई देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के राज्य अवश्य हैं जो दण्ड पर आधारित हैं पर वे अधिक दिन नहीं टिक सकते और अस्थायी राज्य को राज्य नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग राज्य को सावयव के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि सावयव के रूप में राज्य का अपना निश्चित लक्ष्य है। व्यक्ति तो केवल कोष (cells) मात्र हैं जिन्हें राज्य के लक्ष्य की चेतना नहीं। इसमें संदेह नहीं कि सभी प्राणियों की भांति राज्य एक प्राकृतिक सावयव है और वह भी जलवायु, भूमि आदि प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित हो कर बना है। परन्तु राज्य एक प्राकृतिक सावयव ही नहीं नैतिक सावयव है। नैतिक सावयव होने के कारण ही उसका अपना निश्चित उद्देश्य है। उसके कोष (cells) या व्यक्ति इस निश्चित उद्देश्य से अनुप्राणित हैं। उसके एजेन्ट राज्य के इन निश्चित उद्देश्य को जानते हैं और राज्य को उस ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए नैतिक सावयव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति और शासक वर्ग में राज्य के उद्देश्य की सामान्य हित की चेतना रहती है और राज्य व्यक्ति की इच्छा पर आधारित दिखाई देता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि शासक वर्ग में यह चेतना कहाँ होती है? वह तो अपने स्वार्थ से काम करता है। लुई चौदहवें और हेनरी अष्टम या नेपोलियन में तो विजय की पिपासा थी उनमें सामान्य हित की भावना कहां थी? पर इन शासकों में विजय की आकांक्षा कहां से आई? समकालीन सामाजिक प्रभावों से ही तो यह वैयक्तिक भावना निर्मित की थी इसलिये

इनकी वैयक्तिक वैभव प्राप्ति की आकांक्षा अपने राज्य के वैभव प्राप्ति में ही पूर्ण हो सकती थी। राज्य की इस वैभव प्राप्ति की भावना यद्यपि बुरी और शैतानी पूर्ण थी परन्तु इसमें मानवता की भावना भी इतनी मिली थी कि इस वैभव प्राप्ति में भी राज्य मानव हित को ही पूरा करता दिखाई देता है। फ्रांस के समय से अन्य राज्यों के लोगों को दमन से मुक्ति मिली और वे नया नैपोलियन संहिता (code) प्राप्त कर सके। इस प्रकार शासकों के स्वार्थ में भी अच्छाई निहित रहती है और इन शासकों के स्वार्थ सामाजिक अच्छाई की भावना द्वारा चालित होते हैं। इस तरह ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करने में हमें केवल शासकों के वैयक्तिक कार्य या उनकी स्वार्थ साधना ही नहीं देखना चाहिये वरन् मानव की श्रेष्ठतम जीवन पाने की भावना को भी देखना चाहिये जो इन शासक के कार्यों को संचालित करती है। सीजर और नेपोलियन को महान् बनाने वाली यही सामाजिक शक्ति थी उनके वैयक्तिक कार्य नहीं। वे तो केवल इस सामाजिक हित की भावना के साधन मात्र थे। स्वार्थ की भावना में आदर्श भावना के मिश्रण से ही अच्छे कार्य हो सकते हैं। नेताओं के वैयक्तिक कार्यों को तत्कालीन संस्थायें बनाती हैं पर वे सामाजिक संस्थायें स्वयं मनुष्य के सामान्य हित की सामान्य भावना की प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये स्वार्थी शासकों के कार्यों के पीछे भी राज्य की स्थापना राज्य के विकास में हमें सामान्य हित की सामान्य इच्छा दिखाई देती है बल नहीं। राज्य बल पर आधारित नहीं है वरन् उन तत्वों और हितों पर अवलम्बित है जिन्हें सुरक्षित करने के लिये बल का प्रयोग होता है।

राज्य का आधार जन इच्छा

समझौते का सिद्धान्त इस परिस्थिति को नहीं समझा पाता जब राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग स्वतः जनता को शोषित करने के लिये करता है क्योंकि समझौते का सिद्धान्त प्रजा और संप्रभु को अलग-अलग मानता है।

तब हमारा यह विश्वास क्यों है कि राज्य बल पर आधारित है। इसका मुख्य कारण हमारी संप्रभुता की भावना है। संप्रभुता पर अलग से विचार करने पर हम संप्रभुता को सर्वशक्तिशाली समझते हैं और चूँकि राज्य का लक्षण यह संप्रभुता है इसलिए राज्य का गुण भी हम शक्ति समझने लगते हैं। पर यदि हम यह समझ जावें कि संप्रभुता राज्य नहीं बनाती राज्य संप्रभु बनाता है तो हमारी धारणा ठीक हो जावेगी। केवल बल प्रयोग करके कोई स्वामी दासों का राज्य नहीं बन सकता—भले ही वह दासों का संप्रभु माना

पावें। राज्य नागरिकों की अधिकार भावना पर आधारित है और दासों के अधिकार नहीं होते। इसी प्रकार संप्रभु को प्रभुत्वपीन समझने के कारण हम सोचते हैं कि संप्रभु की इच्छा नियम है, वह कोई भी विधि बना सकता है और स्वयं इन विधियों से मुक्त है-परन्तु संप्रभु यदि सामाजिक भावना संविधान रीति रिवाजों की उपेक्षा करते हुए विधियाँ बनावे तो राज्य न रहेगा। राज्य मनुष्य के सामाजिक संतुलन को सुदृढ़ करने उसके हित साधन के लिए बना है और संप्रभु केवल समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए नियम बनाता है। संप्रभु समाज का एजेन्ट है, वह स्वयं मनुष्य की इच्छा पर आधारित है और "संप्रभु या राज्य की सत्ता का लक्षण है अधिकारों को नहीं बनाता वरन् समाज के पहिले से ही पाये जाने वाले अधिकार की भावना को वास्तविक रूप देता है।"* इसलिये राज्य केवल संप्रभु की सत्ता के आधीन व्यक्तियों का समूह नहीं है वरन् वह समाज है जिसमें कुटुम्ब या कबीले में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकार परिभाषित या समन्वित होते हैं। जहाँ पहिले से ही कबीले या कुटुम्ब का सामाजिक संगठन हो जिसमें व्यक्तियों के अधिकार की व्यवस्था हो उसी अधिकार व्यवस्था को बनाये रखने के लिये राज्य विकसित होता है। राज्य के विकास होने पर

वास्तव में प्रजा की सामान्य हित की सामान्य चेतना ही संप्रभु है यही राज्य का आधार है।

राज्य की आज्ञा पालने में दण्ड का भय नहीं होता सामान्य हित का ध्यान होता है।

जिससे राज्य की आज्ञा हमारी आज्ञा मानी जावे व्यक्ति को राज्य में भाग लेना चाहिये।

पर सरकारी कर्मचारी या व्यक्ति के द्वारा बने राज्य के शासक की आज्ञा क्यों मानी जाती है? उनमें सामान्य हित की भावना कहाँ होती है? नागरिक इन राज्यों की विधियों को भी सामान्य हित के कारण ही स्वीकार करता है।

पर सच्ची राज्यभक्ति तभी आ सकती है जब व्यक्ति राज्य के प्रति वही भावना रखे जो वह कुटुम्ब के प्रति रखता है।

सावयवी सिद्धान्त में भी हमें इस चेतना की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि राज्य प्राकृतिक सावयव नहीं नैतिक सावयव है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य हित की चेतना होती है।

* "The sovereign as a characteristic institution of the state does not create right, but gives fuller reality to rights already existing" Green T.H., *Principles of Political Obligation* para 132.

यह अधिकार क्षेत्र और बढ़ जाता है और सामान्य हित की भावना में उच्च और अधिक विस्तृत हो जाती है। नये अधिकारों और नये सामान्य हितों के विकास से मनुष्य का और विकास होता है और नये उद्देश्यों की पूर्ति होती है। राज्य नैतिकता में सहायक होता है। राज्य हमारे अधिकारों पर आश्रित है और हमारे अधिकार हमारी नैतिक इच्छा पर। इसलिए हम उच्च नैतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए ही राज्य बना है, दण्ड के प्रयोग के लिये नहीं।

निरंकुश शासकों के काम भी समकालीन प्रभावों के कारण होते हैं इसी कारण उनके स्वार्थ पूर्ण कार्यों के द्वारा भी सामाजिक हित हुआ है। क्योंकि समकालीन प्रभाव और सामाजिक संस्थायें मनुष्य की इच्छा उसके सामान्य हित की भावना का प्रतिबिम्ब है। राज्य बल पर आधारित नहीं है वह सामान्य हितों को पूरा करने के लिये ही बल का प्रयोग करता है।

संप्रभु को राज्य का लक्षण समझने के कारण हम राज्य को बल पर आधारित समझने की भूल करते हैं। पर राज्य संप्रभु बनाता है, और राज्य हमारी इच्छा हमारी अधिकार व्यवस्था के लिये है इसलिए संप्रभु हमारी इच्छा को पूरा करने के लिए ही बल का प्रयोग करता है।

राज्य और अन्य समुदाय

हम देख चुके हैं कि राज्य के विभिन्न समुदायों का स्वतंत्र अस्तित्व है। वे ही सामाजिक नैतिकता बनाते हैं। राज्य के पूर्व परिवार, धर्म, कबीले आदि प्राकृतिक समुदाय मनुष्य में अधिकार भावना जाग्रत करते हैं और इन अधिकारों को अधिक विस्तृत करने तथा विभिन्न समुदायों में सामंजस्य रखने के लिये ही राज्य का विकास होता है। इस प्रकार राज्य समुदायों का समुदाय है। राज्य समुदायों की सृष्टि नहीं करता और न परिवार, कबीले, धर्म आदि में पाये जाने वाले अधिकारों और कर्तव्यों की सृष्टि करता है। ये तो राज्य से पहिले से ही विद्यमान होते हैं। इसलिये राज्य इन समुदायों के अधिकारों को छीन नहीं सकता। इन विभिन्न समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने के कारण राज्य उनका नियामक और संरक्षक है। इसलिये

समुदाय

राज्य समुदायों की सृष्टि नहीं करता इसलिए उन्हें समाप्त भी नहीं कर सकता।

समुदायों में सामंजस्यता स्थापित करने के कारण राज्य की प्रधानता आवश्यक है।

वह अन्य समुदायों से श्रेष्ठ है। परन्तु श्रेष्ठ का अर्थ यह नहीं कि राज्य सर्व शक्तिमान है।

(८)

राज्य के कार्य क्षेत्र

चू कि मनुष्य का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है। इसलिए राज्य मनुष्य के इस नैतिक लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता। वह मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है और आन्तरिक पर राज्य का वश नहीं। राज्य का कार्य क्षेत्र केवल बाह्य आचरण ही हो सकता है और उसके पास केवल दण्ड का साधन है। दण्ड और नैतिकता विरोधी हैं परन्तु राज्य कुछ कार्यों को जो सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं भले ही वे दण्ड के भय से किये जावें मनुष्य को करने के लिये विवश कर सकता है। परन्तु यह क्षेत्र वास्तव में बहुत ही सीमित है। सत्य बात तो यह है कि नैतिक विकास मनुष्य की इच्छा और कार्य पर अवलम्बित है। पर राज्य मनुष्य के विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं को हटा सकता है, इसलिये ग्रीन का कहना है कि राज्य का कार्य बाधाओं का हटाना है।

राज्य का कार्य सबंधी ग्रीन का सिद्धान्त नकारात्मक दिखाई देता है। इससे स्पष्ट यह नहीं मालूम होता कि राज्य कौन कौन से कार्य करे। परन्तु इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में राज्य बहुत से कार्य कर सकता है उदाहरण के लिये मद्य निषेध शिक्षा प्रसार, भूमि का समान वितरण श्रमिकों के कार्य घंटे निश्चित करना आदि आदि। चूंकि मद्यपान या अशिक्षा व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधा है इसलिये राज्य इस बाधा को हटाने के लिये मद्य निषेध शिक्षा प्रसार आदि कर सकता है। ग्रीन व्यक्तिवादी है और उसके राज्य कार्य का सिद्धान्त भी सीमित मालूम होता है परन्तु जैसा हम पहिले कह आये हैं कि पूर्व व्यक्तिवादियों के समान ग्रीन राज्य के कार्यों को पुलिस कार्यों तक ही सीमित नहीं रखता है। उसके अनुसार राज्य के ऐसे

राज्य के कार्य

राज्य मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता। राज्य का कार्य है विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना।

राज्य का यह कार्य क्षेत्र सीमित नहीं।

बहुत से कार्य हो सकते हैं जिन्हें आज कल्याणकारी और समाजवादी राज्य करते हैं। परन्तु समाजवादी राज्यों का लक्ष्य भौतिक सुख साधन जुटाना है जब कि ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों को बनाना है जिनमें नैतिकता सम्भव हो सके। राज्य स्वयं व्यक्ति को नैतिकता प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि नैतिकता का अर्थ है निस्वार्थभाव से अपने कर्तव्यों का—अपने द्वारा किये गये आदर्शों का—निर्वाह करना।

राज्य किस सीमा तक और क्यों व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप करता है यह ग्रीन के दण्ड सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक हित में अपना योगदान देने का अधिकार है इसलिये यदि कोई व्यक्ति इस योगदान में हस्तक्षेप करता है तो वह दण्ड का भागी है। दण्ड के संबंध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं प्रतिकार (revenge) सिद्धान्त, निवारक सिद्धान्त और सुधारात्मक—प्रतिकार सिद्धान्त का मुख्य आधार है—आँख के बदले आँख—यदि तुम्हें किसी ने हानि पहुँचाई है तो तुम्हें उसी हानि के बराबर अपराधी से बदला लेने का अधिकार है। परन्तु इस सिद्धान्त के दो विकट पक्षों को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि हानि की मात्रा नापना कठिन है और फिर एक ही प्रकार की हानि भिन्न २ लोगों को अलग अलग मात्रा में कष्ट पहुँचाती है। इसलिये हानि की मात्रा के बराबर दण्ड देना कठिन है और यदि हम मनुष्यों के अनुपात में एक ही अपराध के लिये अलग अलग दण्ड की मात्रा दें तो समान न्याय की भावना लुप्त हो जायेगी। दूसरे इस सिद्धान्त में बदले की भावना पर जोर दिया जाता है। बदले की भावना दो व्यक्तियों या दो राज्यों के बीच हो सकती है राज्य और व्यक्ति के बीच बदले की भावना होना असंभव है। कानून सार्वजनिक वस्तु है और यदि कोई अपराधी समाज के विरुद्ध कोई अपराध करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि समाज में बदले की भावना जाग्रत हो गई। दूसरे बदले की भावना में वैर भावना होती है जिसे क्रोध का विकार या गुस्सा कहा जा सकता है। समाज या राज्य म इस प्रकार की वैर भावना कभी नहीं हो सकती। प्रतिशोध सिद्धान्त तो आदिम काल की वस्तु है इसे विकसित समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रतिशोध तो वैयक्तिक अधिकार है और आदिम युगों में भी यह कुटुम्ब का अधिकार था। विकसित समाजों में दण्ड वही ठीक है जिसमे अपराधी को यह ज्ञान हो जाये कि उसे सामाजिक हित में कुछ कार्य करना है और वह उन कार्यों को नहीं कर रहा है। दण्ड देने का अधिकार भी राज्य

को केवल इसी दृष्टि से ठीक कहा जावेगा जब राज्य यह दण्ड सामान्य हित की सुरक्षा में दे। प्रतिशोध सिद्धान्त इस दृष्टि से ठीक नहीं।

दूसरा सिद्धान्त निवारक (Preventive) सिद्धान्त है जिसके अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि दूसरे लोग उसे दण्डित होते देखकर डरें और अपराध न करें। साथ ही भविष्य में अपराधी दण्ड को याद कर आगे अपराध न करें। ग्रीन इस सिद्धान्त पर सबसे अधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड उसी समय न्यायोचित कहा जाता है जब वह दो शर्तें पूरी करता हो (१) दण्ड जिसे रोकता है वह काल्पनिक नहीं वरन् यथार्थ अधिकार का उल्लंघन है; और (२) जिन साधनों से वह रोका जा रहा है वह वास्तव में आवश्यक हैं। भेड़ चुराने के लिये मृत्यु दण्ड देना निवारक सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता क्योंकि अपराध की तुलना में दण्ड अधिक है। साधारणतया न्यूनतम दण्ड ही अपराध का निवारण करने में पर्याप्त होता है।

न्याय पूर्ण दण्ड वह है जो मात्रा में अपराध के बराबर हो परन्तु अपराध और दण्ड की मात्राओं को निकालना और नापना कठिन है। यथार्थ में दण्ड विधान का मुख्य उद्देश्य भविष्य में अपराध को रोकना है। दण्ड देते समय राज्य यह नहीं देखता है कि जो कुछ हानि अपराध से हो चुकी है वह पूरी कर दी जावे वरन् भविष्य में इस प्रकार के अपराध न हों। इसलिये दण्ड देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसी अपराध के लिये वही दण्ड हमेशा दिया जावे।

कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराध हो जाते हैं जो अपराध की उग्रता को कम करती हैं, उदाहरण के लिये यदि कोई भूखा आदमी चोरी करे। कानून भी इन विशेष परिस्थितियों का ध्यान रखता है परन्तु ग्रीन का कहना है कि यदि ऐसे अवसर पर दण्ड कम दिया जाता है तो केवल इसलिए कि इन अपराधों को सार्वजनिक रूप से रोकने के लिए बहुत कम भय की आवश्यकता होती है।

दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना भी है, सुधार होने से अपराधों का निवारण हो जाता है इसलिये दण्ड का सुधार सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु सुधार का अर्थ यहाँ अपराधी का पुनः नैतिकता प्राप्त कराना नहीं है क्योंकि नैतिकता आन्तरिक गुण है राज्य उसमें नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। सुधार का अर्थ केवल यही है कि अपराधी अपराध करना छोड़ दे जिससे दूसरे लोगों के अधिकार सुरक्षित हो सकें। इसके लिये भी

बहुत से कार्य हो सकते हैं जिन्हें आज कल्याणकारी और समाजवादी राज्य करते हैं। परन्तु समाजवादी राज्यों का लक्ष्य भौतिक सुख साधन जुटाना है जब कि ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों को बनाना है जिनमें नैतिकता सम्भव हो सके। राज्य स्वयं व्यक्ति को नैतिकता प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि नैतिकता का अर्थ है निःस्वार्थभाव से अपने कर्तव्यों का—अपने द्वारा किये गये वायदों का—निर्वाह करना।

राज्य किस सीमा तक और क्यों व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप करता है यह ग्रीन के दण्ड सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक हित में अपना योगदान देने का अधिकार है इसलिये यदि कोई व्यक्ति इस योगदान में हस्तक्षेप करता है तो वह दण्ड का भागी है। दण्ड के संबंध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं प्रतिकार (revenge) सिद्धान्त, निवारक सिद्धान्त और सुधारात्मक—प्रतिकार सिद्धान्त का मुख्य आधार है—आँख के बदले आँख—यदि तुम्हें किसी ने हानि पहुँचाई है तो तुम्हें उसी हानि के बराबर अपराधी से बदला लेने का अधिकार है। परन्तु इस सिद्धान्त के दो विकट दोषों को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि हानि की मात्रा नापना कठिन है और फिर एक ही प्रकार की हानि भिन्न २ लोगों को अलग अलग मात्रा में कष्ट पहुँचाती है। इसलिये हानि की मात्रा के बराबर दण्ड देना कठिन है और यदि हम मनुष्यों के अनुपात में एक ही अपराध के लिये अलग अलग दण्ड की मात्रा दें तो समान न्याय की भावना लुप्त हो जायेगी। दूसरे इस सिद्धान्त में बदले की भावना पर जोर दिया जाता है। बदले की भावना दो व्यक्तियों या दो राज्यों के बीच हो सकती है राज्य और व्यक्ति के बीच बदले की भावना होना असंभव है। कानून सार्वजनिक वस्तु है और यदि कोई अपराधी समाज के विरुद्ध कोई अपराध करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि समाज में बदले की भावना जाग्रत हो गई। दूसरे बदले की भावना में वैर भावना होती है जिसे क्रोध का प्रकार या गुस्सा कहा जा सकता है। समाज या राज्य में इस प्रकार की वैर भावना कभी नहीं हो सकती। प्रतिशोध सिद्धान्त तो आदिम काल की वस्तु है उसे विकसित समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रतिशोध तो वैयक्तिक अधिकार है और आदिम युगों में भी यह कुटुम्ब का अधिकार था। विकसित समाजों में दण्ड वही ठीक है जिससे अपराधी को यह ज्ञात हो जावे कि उसे सामाजिक हित में कुछ कार्य करना है और वह उन कार्यों को नहीं कर रहा है। दण्ड देने का अधिकार भी राज्य

तो केवल इसी दृष्टि से ठीक कहा जावेगा जब राज्य यह दण्ड सामान्य हित की सुरक्षा में ही दे। प्रतिशोध सिद्धान्त इस दृष्टि से ठीक नहीं।

दूसरा सिद्धान्त निवारक (Preventive) सिद्धान्त है जिसके अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि दूसरे लोग उसे दण्डित होते देखकर डरें और अपराध न करें। साथ ही भविष्य में अपराधी दण्ड की याद कर आगे अपराध न करें। ग्रीन इस सिद्धान्त पर सबसे अधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड उसी समय न्यायोचित कहा जाता है जब वह दो शर्तें पूरी करता हो (१) दण्ड जिसे रोकता है वह काल्पनिक नहीं वरन् यथार्थ अधिकार का उल्लंघन है और (२) जिन साधनों से यह रोका जा रहा है वह वास्तव में आवश्यक है। भेड़ चुराने के लिये मृत्यु दण्ड देना निवारक सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता क्योंकि अपराध की तुलना में दण्ड अधिक है। साधारणतया न्यूनतम दण्ड ही अपराध का निवारण करने में पर्याप्त होता है।

न्याय पूर्ण दण्ड वह है जो मात्रा में अपराध के बराबर हो परन्तु अपराध और दण्ड की मात्राओं को निकालना और मापना कठिन है। यथार्थ में दण्ड विधान का मुख्य उद्देश्य भविष्य में अपराध को रोकना है। दण्ड देते समय राज्य यह नहीं देखता है कि जो कुछ हानि अपराध से हो चुकी है वह पूरी कर दी जावे वरन् भविष्य में इस प्रकार के अपराध न हों। इसलिये दण्ड देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसी अपराध के लिये वही दण्ड हमेशा दिया जावे।

कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराध हो जाते हैं जो अपराध की उग्रता को कम करती है उदाहरण के लिये यदि कोई भूखा आदमी चोरी करे। कानून भी इन विशेष परिस्थितियों का ध्यान रखता है परन्तु ग्रीन का कहना है कि यदि ऐसे अवसर पर दण्ड कम दिया जाता है तो केवल इसलिये कि इन अपराधों को सार्वजनिक बनने से रोकने के लिए बहुत कम भय की आवश्यकता होती है।

दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना भी है सुधार होने से अपराधों का निवारण हो जाता है इसलिये दण्ड का सुधार सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु सुधार का अर्थ यहाँ अपराधी का पुनः नैतिकता प्राप्त कराना नहीं है क्योंकि नैतिकता आन्तरिक गुण है राज्य उसमें नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। सुधार का अर्थ केवल यही है कि अपराधी अपराध करना छोड़ दे जिसमें दूसरे लोगों के अधिकार सुरक्षित हो सकें। इसके लिये भी

निवारक सिद्धान्त को अपनाना पड़ता है ताकि एक अपराधी के दण्ड को देख कर अन्य लोग अपराध न करें। प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे अपराधी को मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास क्यों न दिया जावे ? इस प्रकार का दण्ड असंगत है क्योंकि राज्य का कार्य अधिकारों की व्यवस्था बनाये रखना है साथ ही मनुष्य होने के नाते अपराधी के भी अधिकार हैं, भले ही अपराध करने के कारण कुछ समय के लिये उसके अधिकार निलम्बित कर दिये गये हों। मृत्यु दण्ड केवल दो शर्तों पर ही उचित माना जा सकता है ।(१) यदि यह मृत्यु दण्ड समाज के पोषण के लिये आवश्यक है और (२) यदि यह विश्वास हो जावे कि अपराधी का सुधार असंभव है और वह ऐसी परिस्थिति में आ गया है कि कभी भी अपने अधिकारों का उपयोग न कर सकेगा।

ग्रीन दण्ड सिद्धान्त में प्रतिकार, निवारक और सुधारात्मक सिद्धान्तों का मेल करता है उसके अनुसार दण्ड जितना आवश्यक हो उतना ही दिया जावे ताकि व्यक्ति का सुधार हो सके और वह नैतिक अधिकारों का प्रयोग कर सके। मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास इस दृष्टि से ठीक नहीं। दण्ड मनुष्य के विकास मार्ग में आने वाली बाधा को हटाता है।

दण्ड का उद्देश्य अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक है क्योंकि दण्ड का उद्देश्य उन अधिकारों के उल्लंघन को रोकना है जो नैतिकता के लिये आवश्यक हैं इसलिये न्यायोचित दण्ड अन्तिम रूप में समाज की नैतिक भलाई के लिए ही है। दण्ड अपराधी की नैतिकता के लिये आवश्यक है क्योंकि इससे वह सुधर कर फिर नैतिक जीवन अपना सकता है।

दण्ड को यदि हम राज्य के कार्य संबंधी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में देखें तो दण्ड वास्तव में व्यक्ति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधा को हटाता है इसलिये दण्ड को बाधा हटाने का ही काम करना है। दण्ड बल का अनुपात बाधा के अनुपात में होना चाहिये। दण्ड अपराधी को जो आघात पहुँचाता है उससे उसकी आत्मा फिर से जाग जाती है और वह नैतिक मार्ग पर चलने लगता है, इस प्रकार अपराधी अपराधों से निवृत्त हो सुधर जाता है।

(६)

विरोध करने का अधिकार

ग्रीन ने समाज और राज्य के बीच अन्तर माना है। ग्रीन के अनुसार समाज ही व्यक्ति के अधिकारों को मान्यता देता है और व्यक्ति समाज से ही

अधिकारों की माँग करता है, राज्य समुदायों का समुदाय होने के कारण विभिन्न समुदायों में सामञ्जस्यता रखता है और समाज की अधिकार व्यवस्था को बनाये रखता है। अधिकारों का स्रष्टा राज्य नहीं समाज है और नैतिक जीवन के लिये अधिकारों की माँग व्यक्ति करता है इसलिये प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या व्यक्ति या समाज राज्य का विरोध करने का अधिकार माँग सकता है।*

ग्रीन लिखता है कि सिद्धान्त में ऐसे अधिकार की आवश्यकता नहीं हो सकती क्योंकि अधिकार नैतिक उन्नति के लिये माँग है जिसे समाज ने स्वीकृति दी है इसलिये प्रत्येक अधिकार में समाज की स्वीकृति आवश्यक है। चूँकि समाज की इस अधिकार व्यवस्था को बनाये रखने के लिए ही राज्य है इसलिये यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति राज्य से ही अधिकार पाता है और इस अधिकार व्यवस्था में राज्य के विरुद्ध अधिकार हो ही नहीं सकता। हम देख ही चुके हैं कि प्रत्येक अधिकार किसी न किसी सामाजिक सबंध (समुदाय) पर अवलंबित है इसलिये समाज के विरुद्ध अधिकार का प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

तब क्या व्यक्ति राज्य के नियम का विरोध नहीं कर सकता है? नहीं यदि राज्य अपने उद्देश्य को पूरा कर रहा है। अधिकार का प्रश्न उसी समय उठ सकता है जब राज्य अपने उद्देश्य को पूरा न कर रहा हो या सामाजिक सम्बन्धों में ऐसे कोई नये अधिकार पैदा हो रहे हैं जिनका राज्य अपनी अधिकार व्यवस्था में सामञ्जस्य न कर रहा हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राज्य के हित में ही राज्य के विरुद्ध अधिकार हो सकता है। वास्तविक राज्य अपूर्ण हैं और वे आदर्श राज्य की भाँति उन सब अधिकारों को मान्यता नहीं देते जो मानव के लिए आवश्यक हैं। इसलिये व्यक्ति को राज्य की आज्ञा

विरोध का अधिकार

चूँकि राज्य व्यक्ति की अधिकार व्यवस्था का संरक्षक है इसलिये सिद्धांत में राज्य के विरुद्ध अधिकार नहीं हो सकता।

अपूर्ण राज्यों में राज्य के हित में ही अर्थात् अधिकार व्यवस्था को व्यापक बनाने के लिये ही यह अधिकार उचित है।

---

* हीगेल के अनुसार अधिकारों का स्रष्टा राज्य ही है इसलिये हीगेल के दर्शन में राज्य के विरुद्ध अधिकार का प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

के विरुद्ध जाने का अधिकार है। शर्त केवल यह है कि जिन अधिकारों की मान्यता व्यक्ति राज्य से चाहता हो वे (१) सामाजिक हित में हों और (२) समाज के अधिकतम सदस्य इन्हें मान्यता दे रहे हों या दूसरे शब्दों में समाज में इन अधिकारों की चेतना हो। साथ ही उसे यह भी देखना चाहिये कि जिस अधिकार की वह माँग कर रहा है वह सामाजिक हित में होते हुए भी क्या इतना महत्वपूर्ण है कि राज्य का विरोध कर वह राज्य द्वारा स्थापित अन्य अधिकारों की व्यवस्था को खतरे में डाल सकता है। हम एक अधिकार के लिये पूरी अधिकार व्यवस्था को नष्ट नहीं कर सकते। फिर उस अधिकार को अन्य लोग भी इतना ही महत्वपूर्ण समझते हैं यह जानना भी आवश्यक है। इसलिये राज्य का विरोध करने के पूर्व व्यक्ति को सबसे पहिले उस अधिकार की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहिये और उसके पक्ष में लोकमत तैयार करना चाहिये। लोकमत तैयार होने पर ही विरोध उचित होगा। किन्तु हम इस विरोध को उचित ही बता सकते हैं इसे व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

राज्य का विरोध करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि (१) इससे सामान्य हित पूरा होता है (२) अन्य व्यक्ति भी इस नये अधिकार की माँग करते हों (३) नये अधिकार के लिए सामाजिक व्यवस्था को भी खतरे में डाला जा सकता है।

इस अधिकार की चर्चा करने में ग्रीन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि समाज राज्य से अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य केवल समाज का एजेन्ट है। राज्य की आज्ञा मानना अनिवार्य नहीं है क्योंकि व्यक्ति ही इस बात को निश्चित करता है कि कौन से नियम उसके सामान्य हित में हैं।

(१०)

युद्ध

राज्य का कार्य समाज में पाई जाने वाली अधिकार व्यवस्था को बनाये रखना है। इस अधिकार व्यवस्था में जीवन का अधिकार प्रमुख है। हम पहले ही यह कह आये हैं कि ग्रीन व्यक्ति को साधन नहीं साध्य मानता है इसलिये व्यक्ति का जीवन अधिकार सबसे महत्वपूर्ण है। परन्तु जीवन अधिकार और स्वतंत्रता के अधिकार में हम कोई अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि बिना

स्वतंत्रता के जीवन व्यर्थ है। जब तक मनुष्य को स्वतंत्रता नहीं होगी उसका जीवन पशुवत होगा क्योंकि स्वतंत्रता के द्वारा ही मनुष्योचित कार्य कर व्यक्ति पूर्णता या आत्म सन्तोष प्राप्त करता है। इसलिये मनुष्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता और जीवन का अधिकार होना चाहिये जिसमें वह सामान्य हित में अपना योग दान देकर अपनी बुद्धि और इच्छा का मेल कर आत्म साक्षात्कार कर सके। इस दृष्टि से दास प्रथा और दक्षिण अफ्रीका के यूनियन में पाई जाने वाली वर्ण नीति अनुचित है।

स्वतंत्रता का अधिकार राज्य के दण्ड देने के अधिकार से सीमित होता है परंतु जैसा हम ऊपर बता आये हैं दण्ड का एक मात्र उद्देश्य स्वतंत्रता का पोषक है वह व्यक्ति के विकास में आने वाली बाधा को हटाने के लिए ही प्रयुक्त होता है।

युद्ध काल में भी राज्य व्यक्ति के जीवन अधिकार की मर्यादा नहीं रखता इसलिए ग्रीन के अनुसार युद्ध एक दोष है जिससे राज्यों को मुक्त होना चाहिए। ग्रीन के युद्ध सम्बन्धी विचार हीगेल के विचारों से बिलकुल भिन्न हैं। हीगेल का कहना था कि युद्ध में ही राज्य का वैभव पूर्ण रूप से दिखाई देता है पर ग्रीन युद्ध को राज्य का कलङ्क मानता है। इसलिए ग्रीन के विचारों की विस्तृत व्याख्या कर लेना आवश्यक है।

पहिले ग्रीन युद्ध के संबंध में प्रचलित विचारों को लेता है और उनमें निहित तथ्यों का निरूपण करता है।

(१) कुछ लोग युद्ध को बड़े पैमाने पर किया जाने वाला हत्याकांड कह सकते हैं परन्तु ग्रीन के अनुसार युद्ध और हत्या में दो अंतर हैं। युद्ध का उद्देश्य सामाजिक हित होता है जब कि हत्या का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ से संबंधित होता है दूसरे हत्या करने वालों के दिल में किसी विशेष व्यक्ति के विरुद्ध ईर्षा व द्वेष होता है पर एक सैनिक जब शत्रु को बंदूक की गोली से समाप्त करता है तो उस शत्रु के विरुद्ध उसकी कोई व्यक्तिगत ईर्षा या द्वेष नहीं रहता। इसलिये युद्ध हत्या नहीं है, फिर भी इसके द्वारा राज्य व्यक्ति के जीवन अधिकार को छीनता है। जो लोग यह समझते हैं कि सनिक अपनी स्वेच्छा से सेना में भरती होते हैं इसलिए राज्य पर उन सनिकों को जीवन अधिकार से वंचित करने का दोष नहीं लगता में बड़ी भूल करते हैं। समाज का उद्देश्य ही है सभी व्यक्तियों की भलाई और सैनिक इस में अपवाद नहीं। राज्य के

लिये ही वे अपने जीवन को खतरे में डालते हैं, अपने लिये नहीं। इसलिए राज्य जीवन अधिकार को भंग करने के आरोप से मुक्त नहीं हो सकता। युद्ध कोई प्राकृतिक प्रकोप या आकस्मिक घटना नहीं है राज्य की नीति ही युद्ध के लिये व्यक्ति को विवश करती है इसलिये सेना का निर्माण व्यक्ति की स्वेच्छा पर नहीं राज्य की नीति पर आधारित है।

(२) कुछ लोग युद्ध को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं उनका कहना है कि —

न्याय और नैतिक जीवन की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य होता है युद्ध काल में सदैव ही इस प्रकार के नारे लगते हैं कि यह युद्ध प्रजातंत्र को सुरक्षित करने को है आत्म निर्णय के लिए है सत्य की विजय के लिये है आदि आदि। इन युद्धों को हम भले ही आदर्श का जामा पहना दें परंतु इतिहास यह स्पष्ट करता है कि अधिकतर युद्ध स्वार्थ सिद्ध के लिए ही हुए हैं। प्रथम महायुद्ध के आदर्शवादी सिद्धान्त और उस समय की गई गुप्त सन्धियाँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ग्रीन का कहना है कि पिछले ४० वर्षों में स्वतंत्रता के लिए हुए युद्धों में केवल गणतंत्र इंग्लैण्ड का युद्ध जर्मनी का नैपोलियन के विरुद्ध और इटली का आस्ट्रिया से युद्ध न्यायपूर्ण कहे जा सकते हैं।

पर क्या युद्ध से आत्म त्याग वीरता सहनशीलता पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति के गुण व्यक्ति में विकसित होते हैं? जर्मन लेखक अवश्य ही युद्ध के इस पक्ष पर जोर देते हैं परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि युद्ध अच्छी प्रवृत्तियों के साथ ही आसुरी प्रवृत्ति भी जाग्रत करता है। युद्ध राज्य के सर्वश्रेष्ठ तत्व नवयुवकों को ही समाप्त करता है और फिर अच्छे गुणों के विकास के लिए हमारे पास क्या अन्य शांतिपूर्ण साधन नहीं हैं?

ग्रीन युद्ध को बुरा समझता है क्योंकि इससे व्यक्तियों का जीवन अधिकार समाप्त होता है। केवल उसी समय युद्ध उचित दिखाई देता है जब युद्ध मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अनिवार्य हो गया हो। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली की स्वतंत्रता का युद्ध आवश्यक था क्योंकि तभी इटली निवासी अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर सकते थे। परन्तु इन परिस्थितियों में युद्ध स्वयं अच्छा नहीं है। इटली की स्वतंत्रता का युद्ध आस्ट्रिया द्वारा इटली पर

आधिपत्य जमाने की बुराई को दूर करने के लिए हुआ था इसलिए जब हम अधिक बुराई को हटाने के लिए युद्ध जैसी कम बुराई को अपनाते हैं तो हम युद्ध को अच्छा समझने लगते हैं। युद्ध स्वयं में अच्छा नहीं है समाज में कहीं न कहीं बुराई अवश्य है तभी युद्ध होते हैं। परन्तु क्या युद्ध जैसे बुरे साधनों को स्वतन्त्रता के लिए अपनाना स्वयं मनुष्य के लिए आत्म भर्त्सना का विषय नहीं है।

युद्ध

युद्ध को हम भले ही हत्या न कहें पर युद्ध राज्य की अपरिपक्वता का परिणाम है ये राज्य के स्वार्थ के लिये होते हैं। युद्ध से जिन गुणों का विकास होता भी है उन गुणों को शांति में भी विकसित कर सकते हैं। अच्छे युद्ध भी किसी न किसी बुराई के कारण ही होते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का होना अनिवार्य है वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार के युद्ध केवल इसलिये होते हैं कि राज्य अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर रहा है। युद्ध इसलिये नहीं होते क्योंकि राज्य है वरन् इसलिये होते हैं कि राज्य अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन नहीं करता।

विश्व राज्य

राज्य का कर्तव्य है उस अधिकार व्यवस्था को बनाए रखना जिसके द्वारा मनुष्य अपना आत्म साक्षात्कार कर सके। मनुष्यों के समुदायों का जो विकास हो रहा है उससे अधिक से अधिक आत्म साक्षात्कार की संभावना हो रही है। इसलिये राज्य आज अवश्य ही सर्वश्रेष्ठ संस्था है परन्तु राज्य के परे अन्तर्राष्ट्रीयता भी है विश्व बन्धुत्व भी है। राज्य में रह कर राज्य की सामाजिक नैतिकता पर चिंतन कर मनुष्य राज्य की सीमा के परे विश्व राज्य और विश्व नैतिकता की कल्पना कर सकता है जिसमें मानव अन्य राज्यों के मानव के साथ सामान्य हित की चेतना प्राप्त कर सकता है। इस तरह ग्रीन हीगेल की तरह समुदायों की क्रम व्यवस्था में राज्य को अन्तिम नैतिक संस्था नहीं मानता। अन्तिम नैतिक समुदाय विश्व राज्य है। क्यों क्यों

विश्व राज्य

राज्य विश्व नागरिकता के लिये एक आवश्यक कड़ी है राज्य सर्व श्रेष्ठ नहीं।

मानव हित साधन के लिये राज्य को अन्य राज्यों से संघर्ष की नहीं सहकारिता की आवश्यकता है।

राज्य सच्चे लोक हित की भावना से काम करेगा क्यों ? उसमें यह भावना जाग्रत होगी कि लोक हित की भावना दूसरे राष्ट्रों के साथ संघर्ष करने में नहीं है वरन् दूसरों के साथ सहयोग द्वारा काम करने में है। हम विश्व राज्य भले ही स्थापित न कर सकें परन्तु मानवता की भावना तो हममें विद्यमान है और इस मानवता की सामान्य चेतना के आधार पर हम उस विश्व नैतिकता की धारणा को प्राप्त कर सकते हैं जिसके आधार पर हम राज्य की नैतिकता का राज्यों के संबंधों का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रकार ग्रीन का कहना है कि राज्य के भीतर पाई जाने वाली सामान्य हित की सामान्य चेतना का विकास हम मानव हित की सामान्य चेतना में या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में देख सकते हैं।

(११)

ग्रीन का स्थान

ग्रीन ने अपने समय की परिस्थितियों के अनुकूल उदारवादी सिद्धान्त को बनाया और पुराने व्यक्तिवादी विचारकों के इस विचार का खंडन किया कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। उसने पुराने कम सिद्धान्त और सामाजिक समझौते के स्थान पर फिर से सावयवी सिद्धान्त स्थापित किया और व्यक्ति और राज्य में सावयवी संबंध जोड़ा। राज्य एक नैतिक संस्था है राज्य में रह कर ही मनुष्य अपना विकास कर सकता है।

इंग्लैण्ड के कोलरिज र्सले अरनाल्ड आदि समकालीन लेखकों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है और वे सभी हीगेल के दर्शन से प्रभावित हो कर राज्य का अपना निजी अस्तित्व स्वीकार करते थे, परन्तु ग्रीन ने एक ओर तो क्रम बद्ध सिद्धान्त रखा दूसरी ओर उसने हीगेल के दर्शन को संशोधित कर इंग्लैण्ड की परम्पराओं के अनुकूल बनाया। इसमें सन्देह नहीं कि हीगेल का विशेष प्रभाव ग्रीन पर पड़ा है। वह भी विवेक पूर्ण जीवन को मान्यता देता है और हीगेल के समान सारी संस्थाओं में विश्वात्मा की अभिव्यक्ति पाता है। पर जहां हीगेल का दर्शन राज्य की सबप्रभुता और निरंकुशता स्थापित करता है वहां ग्रीन व्यक्ति को ही साध्य मानता है और राज्य को केवल साधन। बार्कर का कहना ठीक है कि ग्रीन में प्लेटोवाद की तुलना में अरस्तुवाद को, और

हीगेल के दर्शन की तुलना में काण्ट के दर्शन को अधिक महत्ता दी गई है। हीगेल के समान वह राज्य को असीमित अधिकार नहीं देता और न युद्ध में राज्य के वैभव को देखता है। ग्रीन के सिद्धान्त का विषय है व्यक्ति और उसकी आत्मोन्नति। अपने आन्तरिक समूहों की अधिकार व्यवस्था और विश्व नैतिक व्यवस्था दोनों के ही द्वारा राज्य सीमित होता है। ग्रीन ने मिल के स्वतन्त्रता संबंधी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट किया मिल का स्व-सम्बन्ध और पर संबंधी कार्य विभाजन स्पष्ट नहीं था परन्तु ग्रीन ने यह कह कर कि राज्य का कार्य-

देन

ग्रीन ने जर्मन आदर्शवाद और बेंथम के व्यक्तिवाद का मेल कर अपनी समकालीन परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्तिवाद को विकसित किया राज्य और समाज के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी राज्य के कार्य क्षेत्र की सीमा निर्धारित की।

क्षेत्र मनुष्य के आन्तरिक जीवन से संबंध रखने वाली नैतिकता नहीं हो सकता और राज्य व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता व्यक्ति की स्वतन्त्रता के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया है। राज्य केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है उसका अपना निजी नैतिक महत्व है। यदि वह स्वयं नैतिकता प्रदान नहीं करता तो नैतिकता की व्यवस्था को बनाये रखता है व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं को हटाता है। राज्य एक नैतिक इकाई है और राज्य का नैतिक लक्ष्य है।

इस प्रकार ग्रीन ने जर्मन आदर्शवाद और बेन्थम और मिल के उप योगितावाद के तत्वों में संशोधन कर एक व्यावहारिक दर्शन दिया और यह बताया कि वही राज्य अच्छा है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुखी नैतिक और मानवीय जीवन दे सके। इस तरह उसने एक ओर व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक और दूसरी ओर आदर्शवाद को अधिक सभ्य और सुरक्षित बनाया।

महात्मा गांधी

(१८६९–१९४८)

(१) मानवता के समर्थक।	(२) राजनीतिक दार्शनिक ?
(३) धार्मिक आधार।	(४) नैतिक विचार।
(५) व्यक्ति और समाज।	(६) अहिंसा।
(७) सत्याग्रह।	(८) स्वतन्त्रता समानता और अधिकार।
(९) राज्य।	(१०) आर्थिक व्यवस्था।
(११) गांधीवाद और समाजवाद।	(१२) राजदर्शन में स्थान।

(१)

मानवता के समर्थक

महात्मा गांधी भारत के राष्ट्र पिता हैं क्योंकि उन्होंने न केवल भारत को स्वतन्त्रता दिलाई, वरन् भारत के सामाजिक धार्मिक नैतिक और राजनैतिक जीवन में एक नई चेतना जागृत कर नये भारत का निर्माण किया। १९वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने भारत में जो पुनर्जागरण की ज्योति प्रज्वलित की थी उसका पूर्ण प्रकाश हमें महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में मिलता है। राजा राममोहन राय सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में हमारे सामने सुधारक के रूप में आये थे और जिस प्रकार श्वेत प्रकाश विभाजित होकर सप्तरंगीय धाराओं में बटता है उसी प्रकार राजा राममोहन राय का पुनर्जागरण आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी के रामकृष्ण परमहंस

विवेकानन्द दयानन्द एनी बेसेन्ट के धार्मिक आन्दोलनों रानाडे गोखले और तिलक के सामाजिक आन्दोलनों में तथा कांग्रेस द्वारा चलाये गये राजनैतिक आन्दोलनों में विकसत होता दिखाई देता है। इसमें संदेह नहीं कि १९वीं शताब्दी के ये सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन एक दूसरे से संबंधित थे, परन्तु इनका पथ अलग अलग था। महात्मा गांधी में ये सब आन्दोलन फिर केन्द्रीयभूत हो जाते हैं और महात्मा गांधी भारतीय जीवन के सब पक्षों के नेता होकर स्वेत ज्योति के रूप में सारे भारतीय जीवन को प्रकाशित और मार्ग प्रदर्शन करते हैं।

महात्मा गांधीजी का कहना था कि "मैं ऊपर से तो राजनीति का वेष लिये हूँ पर हृदय से धार्मिक व्यक्ति हूँ"। गांधी सचमुच में महात्मा पहिले थे राजनीतिज्ञ बाद में। धार्मिक प्रेरणा ही उन्हें राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में खींचकर लाई थी। गांधीजी ने लिखा है कि "मैं भगवान को मानव समाज से पृथक नहीं पा सकता। मेरा धर्म भगवत सेवा और इसी कारण मानव सेवा है।" एक दूसरे अवसर पर उन्होंने हरिजन में लिखा था कि 'यदि मैं समझता कि भगवान मुझे हिमालय की गुफा में मिलेंगे, तो मैं तुरन्त वहाँ चला जाता, पर मैं जानता हूँ कि मैं उन्हें मानव समूह से पृथक नहीं पा सकता। इसलिये महात्मा गांधी का लक्ष्य है—ईश्वर प्राप्ति। समाज सेवा तथा राजनीति भगवत प्राप्ति के अवसर प्रदान करते हैं। ईश्वर को वे सत्य के नाम से भी पुकारते थे इसलिए वे अपनी आत्म-कथा को 'सत्य के साथ प्रयोगों की कथा' कहते हैं।

बैरिस्ट्री पास करने के पश्चात् उन्होंने १८९३ से ही दक्षिण अफ्रिका में सार्वजनिक जीवन में भाग लेना प्रारंभ किया था। वे राजनैतिक जीवन में उतरे थे क्योंकि उन्होंने देखा कि दक्षिण अफ्रीका के ब्रिटिश राज्य में भारतीयों को मानवता के नाते कोई अधिकार नहीं है। वे ब्रिटिश के सत्ता विरोधी नहीं थे वरन् मानव अधिकार के समर्थक थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के बोर युद्ध में और जूलू विद्रोह में सरकार का साथ भी दिया था और इसके लिये उन्हें लार्ड-हार्डिंज के द्वारा कैसरे हिंद का स्वर्ण पदक भी मिला था। १९१४ के युद्ध में भी उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को अपनी सेवायें अर्पित की थीं। ब्रिटिश सत्ता को वे स्वभावतः अच्छा समझते थे इसलिये यदि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपना आन्दोलन चलाया था तो केवल 'मूल रूप में अच्छी इस राजनैतिक

सत्ता में जो बुराइयाँ थीं उन्हें हटाने के लिये। १९२२ में जब उन पर असहयोग आन्दोलन के कारण मुकदमा चलाया गया था तो इस अवसर पर उन्होंने कहा था "मैंने सरकार को अपना ऐच्छिक और हार्दिक सहयोग दिया है। जहाँ भी मैंने उसमें दोष पाये वहाँ उसकी मैंने स्वतंत्र रूप से आलोचना की है परन्तु मैं उसका विध्वंस नहीं चाहता।" १९१७ में मद्रास में ब्रिटिश साम्राज्य के संबंध में उन्होंने कहा था मैंने देखा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अपने कुछ आदर्श हैं जिनसे मुझे प्रेम हो गया है। उन आदर्शों में से एक आदर्श यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्मान स्फूर्ति और अपनी आत्मा के लिये पूर्ण स्वतंत्रता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी सत्ता के विरोधी नहीं थे वे प्रत्येक राजनैतिक सत्ता को अपना सहयोग देने के लिये तैयार थे बशर्ते मानव को अपनी आत्मा के अनुरूप कार्य करने की स्वतंत्रता हो।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उन्हें यह अनुभव हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है। इस काल में रौलेट-एक्ट के द्वारा भारतीयों की वास्तविक स्वतंत्रता छीनने का प्रयत्न किया गया जलियाँवाला बाग और पंजाब के हत्याकांड में तथा टर्की के संबंध में मुसलमानों को दिये आश्वासनों के तोड़ने में उन्होंने देखा कि इस सरकार के साथ सहयोग करना पाप के साथ सहयोग करना होगा इसलिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार से असहयोग शुरू कर दिया और १९२२ में असहयोग आन्दोलन चलाया। यह आंदोलन भी उन्होंने केवल मानव-अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये ही प्रारंभ किया था। अपने मुकदमे में उन्होंने ये शब्द कहे थे :

"वास्तव में मैं इस बात में विश्वास करता हूँ कि मैंने यह बताकर भारत और इंग्लैंड की सेवा की है कि जिस प्रकार के अप्राकृतिक राज्य में हम रह रहे हैं उससे असहयोग करना आवश्यक है। मेरे तुच्छ विचार में बुराई के साथ असहयोग करना हमारा उतना ही आवश्यक कर्तव्य है जितना अच्छाई के साथ सहयोग करना।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी के विचारों का केन्द्र व्यक्ति और मानवीय स्वतंत्रता है। १९२० में जब उन्होंने भारत के लिए स्वराज्य की घोषणा की थी तो वे स्वराज्य इसलिए नहीं चाहते थे कि भारतवासियों में स्वशासन की क्षमता आ गई है। उनकी दृष्टि से स्वराज्य इसलिये आवश्यक

सर्वोदय के समर्थक

१९ वीं शताब्दी के सभी आन्दोलन गांधी जी में केन्द्रित होते हैं। धार्मिक प्रेरणा उन्हें राजनीति में लाई क्योंकि भगवान मानव समाज में ही मिल सकता है। भगवान सत्य का नाम है इसलिये उनका जीवन 'सत्य के साथ प्रयोगों की कथा'

१९२० के पूर्व उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य से प्रेम था (बोर युद्ध जूलू विद्रोह, प्रथम महायुद्ध) क्योंकि 'उसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है।

पर रॉलेट एक्ट जलियां वाला बाग से उन्हें यह सरकार पाप पूर्ण लगी, इसलिये असहयोग। उनको स्वराज्य की मांग नैतिकता के लिए थी।

था कि पराधीनता में नागरिकों का इतना नैतिक पतन हो गया है कि वे अपने को शासित करने की क्षमता खो रहे हैं इसलिये उनका स्वराज्य का उद्देश्य था—ब्रिटेन से सत्ता प्राप्त करना नहीं—वरन् शासितों में नैतिक क्रान्ति करना और उनके नैतिक पतन को बचाना। इस दृष्टि से स्वराज्य शासक वर्ग द्वारा दी गई भेंट नहीं विदेशी सत्ता से मुक्ति नहीं वरन् स्वराज्य वह परिस्थिति है जिसके लिये शासितों को संघर्ष करना होगा अपने को अनुशासित करना होगा अपने नेताओं द्वारा बताये मार्ग पर चलकर उत्तरदायी नागरिक बनना होगा।* गांधी जी के दर्शन का यदि कोई लक्ष्य है तो वह है स्वराज्य और सर्वोदय—सभी मनुष्यों का पूर्ण विकास जिसके द्वारा ही समत्वप्राप्ति संभव है।

(२)

राजनीतिक दार्शनिक ?

अन्य राजनीतिक दार्शनिकों की भांति महात्मा गांधी ने हमें मानव अधिकार और स्वतंत्रता का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं दिया और न उन्होंने राज्य के स्वरूप तथा राज्य और व्यक्ति के संबंधों का कोई विस्तृत विश्लेषण ही दिया है।

वे अन्य राजनैतिक विचारकों के समान दार्शनिक नहीं थे। वे कर्मयोगी थे और उन्होंने जो कुछ लिखा वह केवल सामने आई परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करने के लिये। इसलिये उनका जीवन सत्य के साथ प्रयोगों की कथा है। प्रयोग शब्द से ही मालूम होता है कि उन्होंने कोई निश्चित वाद नहीं दिया। जैसी समस्या उनके सामने आई उस पर उन्होंने अपने विचार

मारिस जोन्स—महात्मा गांधी—पोलिटिकल फिलासफर ?

प्रकट किये। गांधी जी ने ३० सितम्बर १९३९ के हरिजन में लिखा है कि 'लिखते समय मैं यह नहीं सोचता हूँ कि मैंने पहिले क्या कहा है। मेरा उद्देश्य किसी विषय पर पहिले कहे हुए कथनों के अनुरूप बात कहना नहीं है वरन् किसी दशा पर जो बात मुझे सत्य दीखती है उसे व्यक्त करना है। परिणाम यह हुआ है कि मेरा विकास सत्य से सत्य की ओर हुआ है"। इसलिये उनका दर्शन वास्तविक परिस्थितियों पर चिंतन मात्र है।

पचास वर्ष के कर्मयोगी जीवन में महात्मा गांधी को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था और परिस्थितियों के अनुसार उनके कार्य और विचार भी बदले हैं 'मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियों के अनुसार ही होते हैं'। फिर भी गांधी जी के विचारों में एकरूपता है और इस एक-रूपता के कारण ही हम उनके स्फुट लेखों पत्रों और कार्यों में एक सिद्धांत को देखते हैं। इसी सिद्धान्त को हम गांधीवाद कहते हैं। महात्मा गान्धी स्वयं अपने को किसी सम्प्रदाय या सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते थे। उन्होंने यंग इण्डिया पत्र में लिखा था कि 'मैंने किसी नये सिद्धान्त की सृष्टि न करके प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन ढंग से दुहराने की चेष्टा की है'। परन्तु उनके विचारों की एकरूपता ने हमें एक नया सिद्धान्त अवश्य दिया है जिसे हम मूलतः राजनैतिक सिद्धान्त तो नहीं नैतिक सिद्धान्त कह सकते हैं। यह सिद्धान्त मानवता का सिद्धान्त है जो सब व्यक्तियों और प्राणियों में भगवान का अंश देखकर सत्य और अहिंसा पूर्ण साधनों द्वारा सभी के कल्याण या सर्वोदय का प्रयत्न करता है। हिन्दू परम्पराओं और हिन्दू नैतिक धारणाओं को अपनाते हुये भी उन्होंने सत्य अहिंसा तपस्या कर्म आदि को व्यवहारिक रूप देते हुए नया अर्थ दिया है और इनसे नई धारायें व्यक्त की हैं। महात्मा गांधी सर्वोदय को सबसे उच्च और शाश्वत सिद्धान्त मानते थे। करांची अधिवेशन के समय पर उन्होंने कहा था कि गांधी मर जायगा परन्तु गांधी वाद अमर रहेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रेम ही ईश्वर है सेवा से ही

गांधीवाद

कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं क्योंकि 'मेरा विकास सत्य से सत्य की ओर' 'मेरे शब्द और काम परिस्थितियों के अनुसार'।

गांधीवाद मानवता का वह सिद्धान्त है जो समस्त जगत को राम-मय मान कर सत्य और अहिंसा द्वारा सबके कल्याण का प्रयत्न करता है।

इसलिये गांधीवाद अमर है (करांची अधिवेशन)

आत्मोन्नति होती है और सभी व्यक्तिगत और सार्वजनिक समस्यायें सत्य और अहिंसा द्वारा सुलझाई जा सकती हैं।

मानवता का सिद्धान्त होने के कारण गांधीवाद राज्य और राज्य की संस्थाओं से सम्बन्धित है, प्रधान रूप में नहीं गौणरूप में। इसलिये महात्मा गांधी को हम अन्य राजनीतिक विचारकों की भांति पूर्णरूप से राजनीतिक दार्शनिक नहीं कह सकते।

(३)

धार्मिक आधार

रोमांरोलां का कहना है कि गांधी जी के सिद्धान्तों की तुलना हम दो मन्जिलों वाले विशाल भवन से कर सकते हैं जिसके नीचे की मंजिल धर्म के आधार पर खड़ी है, और जिसके ऊपर की मंजिल उनके सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों से बनी है। महात्मा गांधी धार्मिक पुरुष थे और उन्होंने जीवन का उद्देश्य बनाया था भगवत् प्राप्ति। उनका कहना था कि "मैं वायु और जल के बिना तो रह सकता हूँ, परन्तु भगवान के बिना नहीं। यदि कोई भगवान पर से मेरा विश्वास हटा दे तो मैं मर जाऊँगा" परन्तु उनकी धार्मिक चेतना प्राचीन सन्तों की धार्मिक चेतना से भिन्न है। उनकी धार्मिक चेतना का अन्त हम वास्तव में नैतिक चेतना में देखते हैं। उनका कहना था कि ईश्वर की प्राप्ति समाज के असहाय व्यक्तियों की सेवा द्वारा ही हो सकती है।

महात्मा गांधी तत्वज्ञानी नहीं थे और न उन्होंने ईश्वर के संबंध में कोई क्रमबद्ध विचार दिये हैं। कभी वे ईश्वर को सत्य, कभी राम और कभी एक रहस्यमय वर्णनातीत शक्ति के रूप में देखते हैं। यंग इण्डिया में उन्होंने लिखा है कि "भगवान एक अनिर्वचनीय निगूढ़ सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। मैं उसे देख तो नहीं सकता पर उसका अनुभव करता हूँ। यह वही महान सत्ता है, जो अपनी अनुभूति कराती है।" " " "यह बाह्य प्रमाणों द्वारा नहीं बल्कि उन लोगों के अलौकिक व्यवहार एवं चरित्र द्वारा सिद्ध होती है, जो अपने अन्दर भगवान की वास्तविक सत्ता की अनुभूति करते हैं"।* वे ईश्वर को व्यक्ति के रूप में नहीं मानते थे। परमात्मा एक सर्वोच्च और सर्व व्यापक नियम है, जिसके विपरीत एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

*यंग इंडिया ११ १०-२८

परन्तु ईश्वर एक प्राकृतिक नियम या शक्ति या स्फूर्ति मात्र ही नहीं है। पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होते हुए भी वह इस ब्रह्माण्ड से प्रेम करता है और अपने भक्तों का ध्यान रखता है भगवान उन लोगों के सामने प्रकट होते हैं जो शुद्ध हृदय से अपनी आत्मा की आवाज को सुनते हैं।

"मैंने कभी ऐसा नहीं देखा कि भगवान ने मेरी प्रार्थना न सुनी हो। जब भी मुझे कोई परिस्थिति सबसे अधिक अंधकारमय दिखाई दी, मैंने ईश्वर को अपने पास पाया है। मुझे किसी भी समय की याद नहीं पड़ती जब भगवान ने मुझे छोड़ दिया हो। मैं कह सकता हूँ कि सभी आध्यात्मिक परीक्षाओं में भगवान ने मेरी रक्षा की है।"

भगवान

जन की भक्ति पर ही उनके राजनैतिक आन्दोलन का है (दोनों दोनों) पर धर्म वास्तव में नैतिकता है क्योंकि भगवान असहायों की सेवा से मिलता है।

भगवान सत्य है, प्रेम है, निगूढ़ सत्ता है, भक्तों का सहायक है इसे साधना विश्वास प्रार्थना से पाया जा सकता है।

इस प्रकार भगवान केवल आध्यात्मिक शक्ति ही नहीं वह अपने भक्तों का सहायक भी है।

गांधीजी वास्तव में भगवान को सच्चिदानन्द कहते थे। इसकी प्राप्ति बुद्धि या विवेक के द्वारा नहीं परन् साधना विश्वास और श्रद्धा के द्वारा हो सकती है। साधना हमारी आत्मा की पुकार है, और यही ईश्वर को भक्त की ओर आकृष्ट करती है इसीलिये महात्मा गांधी के जीवन में प्रार्थना का प्रमुख स्थान था।

(४)
नैतिक विचार

यजुर्वेद के 'ईशा वास्यमिदम् सर्वम्' के मंत्र में विश्वास करते हुए गांधीजी कहते थे कि इस पूरे ब्रह्माण्ड में ईश्वर व्याप्त है इसलिये सभी जड़ चेतन आपस में संबन्धित हैं। कोलरिज की इन पंक्तियों के अनुसार,

'He prayeth best, who loveth best
All things both great and small,
For the great God, who loveth us,
Has made and loves them all.

महात्मा गांधी भी इस बात में विश्वास करते थे कि समस्त प्रकृति से प्रेम करना ईश्वर की सच्ची प्रार्थना है। ईश्वर दरिद्र असहाय व्यक्तियों के जीवन में दरिद्रनारायण के रूप में दिखाई देते हैं। लोकसेवा ही भगवान की सेवा है। इस प्रकार कर्मयोग का जीवन में विशेष महत्त्व है और अपने सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह 'स्वधर्म' का निर्वाह ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अनासक्त कर्म के द्वारा ही मनुष्य सत्य की प्राप्ति कर सकता है।

जीव से प्रेम करना ही अहिंसा है। अहिंसा द्वारा ही व्यक्ति सत्याग्रही हो सकता है और ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। महात्मा गांधी के दर्शन में अहिंसा केवल हिंसा का विरोधी शब्द नहीं है इसका एक व्यापक अर्थ है—सकारात्मक अर्थ।

कर्मयोगी होने के कारण और समाज सेवा द्वारा ईश्वर प्राप्ति में विश्वास रखने के कारण महात्मा गांधी केवल धार्मिक पुरुष ही न थे सन्त न थे वरन् बड़े भारी समाज सेवक व कर्मयोगी भी थे। उनके धर्म की धारणा नैतिकता और समाज सेवा से संबंधित थी। इस कारण जब हम कहते हैं कि महात्मा गांधी के विचारों का आधार धर्म है तो हमें यूरोप के मध्ययुगीन सन्तों के विचार से उनके विचारों को अलग रखना चाहिए। उनकी धर्म की भावना मानवता की भावना है। इसी कारण वे बुद्ध और ईसा को महान व्यक्ति मानते थे क्योंकि उनका जीवन समाज के असहाय व्यक्तियों के प्रति असीम प्रेम और सेवाभाव पूर्ण था। महात्मा जी की धार्मिक भावना केवल वैयक्तिक आत्म मुक्ति से संबंधित नहीं है वह समाज के जीवन से संबंधित है। महात्मा गांधी जी लिखते हैं, "समाज से धर्म के उन्मूलन करने का प्रयत्न मूर्खता है। अगर ऐसा प्रयत्न सफल भी हो गया तो इसका अर्थ होगा समाज का सर्वनाश"।

नैतिक विचार

समस्त प्रकृति से प्रेम करना, स्वधर्म का निर्वाह दरिद्र नारायण की आराधना है। जीव से प्रेम अहिंसा है।

बुद्ध और ईसा असहायों के प्रति प्रेम और सेवाभाव के कारण महान थे इसलिये धर्म का अर्थ है समाज की निष्काम सेवा।

(२)
व्यक्ति और समाज

ग्रीन के समान ही महात्मा गांधी व्यक्ति को साध्य मानते हैं, साधन नहीं। व्यक्ति का उद्देश्य है पूर्णता प्राप्त करना और ईश्वर की प्राप्ति। चूंकि ईश्वर

वह चेतनमय समस्त विश्व में व्याप्त है इसलिये जीवमात्र से प्रेम करके ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। उन्होंने लिखा है "जब जीवमात्र एक है, और मेरे सहित समस्त विश्व में भगवान व्याप्त है, तो मैं किसी को अपना शत्रु कैसे समझ सकता हूँ, किसी को दुष्ट कैसे मान सकता हूँ और किसी से घृणा कैसे कर सकता हूँ। न मैं किसी से डर सकता हूँ, और न किसी को डरा सकता हूँ। मैं अन्य लोगों की अपेक्षा किसी को अपने अधिक निकट कैसे मान सकता हूँ। कोई भी मेरे लिए तुच्छ नहीं है कि मैं किसी साध्य के लिये किसी का बलिदान कर दूं।"

इस प्रकार गांधी जी न केवल मनुष्य में समानता देखते थे वरन् वे प्रत्येक प्राणी को चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो प्रेम से देखते थे। इस दृष्टि से उनका प्रेम केवल अपने देशवासियों तक ही सीमित न था वरन् मानव जाति के लिये था। वे विश्व बंधुत्व में विश्वास करते थे और यदि भारतवासियों से उनका विशेष प्रेम था तो केवल इसलिये कि अन्य देशों की अपेक्षा इस देश के वासी अधिक असहाय थे। "मेरी राष्ट्रीयता यहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता है।"

व्यक्ति का सर्वोच्च ध्येय केवल अपने अन्दर ईश्वर की सिद्धि करना है। इस ध्येय की पूर्ति केवल आत्म शुद्धि द्वारा हो सकती है। आत्म शुद्धि के केवल दो ही उपाय हैं—अहिंसा और सत्याग्रह। चूंकि सारे विश्व का स्वामी भगवान है इसलिये आत्म शुद्धि के लिये हमें प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना चाहिये और सत्य के पथ को कभी न छोड़ना चाहिये। आत्म शुद्धि के लिये यह आवश्यक है कि हमारे साधन भी शुद्ध हों। गांधी जी साध्य और साधन दोनों को शुद्ध रखने के पक्ष में थे इसलिये मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण बलात् पालन कराया जाने वाला वैधव्य जीवन छुआछूत सामाजिक और धार्मिक कुप्रथाओं को वे समाज से हटा देना चाहते थे।

अन्य संतों ने भी ईश्वर प्राप्ति को व्यक्ति का लक्ष्य बताया है, परन्तु महात्मा गांधी का कहना था कि "ईश्वर हिमालय की गुफा में बैठकर नहीं मिल सकता, वह समाज सेवा द्वारा ही मिल सकता है। इसलिये मेरा धर्म भगवद् सेवा, और इसी कारण मानव-सेवा है।" निस्वार्थ भाव से सेवा करके ही हम अपनी आत्मोन्नति और ईश्वर प्राप्ति कर सकते हैं। गांधी जी लिखते हैं कि "दूसरों की निस्वार्थ भाव से सेवा करना उन पर कोई कृपा या उपकार करना नहीं है, बल्कि स्वयं अपना ही उपकार है।" इसलिये मनुष्य की नैतिक

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति साध्य है, साधन नहीं। व्यक्ति की गरिमा में विश्वास "कोई भी मेरे लिए तुच्छ नहीं कि मैं किसी साध्य के लिये किसी का बलिदान कर दूं।"

निज आचरण "मेरी राष्ट्रीयता गहरी अन्तर्राष्ट्रीयता। आत्मशुद्धि, अहिंसा सत्याग्रह आदि शुद्ध साधनों से ही चरम विकास और ईश्वर प्राप्ति।

दूसरों की सेवा अथवा उपकार करना है, इसलिये समाज सेवा या नैतिक उन्नति के लिये समाज आवश्यक स्वतंत्र व्यक्ति ही सेवा या नतिकता अपना सकता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नियन्त्रण का सामंजस्य आवश्यक।

उन्नति के लिये समाज आवश्यक है। ग्रीन की भांति वे भी यह मानते थे कि सामान्य हित की चेतना से ही व्यक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिवादी होते हुए भी गांधी जी ने समाज की अवहेलना नहीं की और उन्होंने सेवा के लिये समाज का अस्तित्व माना। परन्तु समाज व्यक्ति के लिये ही है उसका अपना निजी अस्तित्व नहीं है और न समाज के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता ही सीमित की जा सकती है। इस संबंध में वे लिखते हैं

"यदि व्यक्ति की महत्ता स्वीकार नहीं की जाती तो समाज रह ही कैसे सकता है। स्वतंत्र व्यक्ति ही ऐच्छिक रूप से समाज सेवा के लिये अपने को पूर्ण रूप से समाज को अर्पित कर सकता है। यदि व्यक्ति से स्वतंत्रता छीन ली जाती है तो व्यक्ति एक मशीन का पुर्जा हो जाता है और समाज विध्वंस हो जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण कर कोई भी समाज नहीं बन सकता।"*

महात्मा गांधी के पूरे दर्शन में यह भावना निहित है कि व्यक्ति ही अपने आत्मबल के द्वारा सारे सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन कर सकता है। परन्तु व्यक्ति की स्वतंत्रता अन्धु सत्ता नहीं है। ग्रीन की भांति गांधी जी व्यक्ति की उन्नति में समाज के योग को भी मानते हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए वे इस बात को भी मानते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और यदि मनुष्य ने इतना विकास किया है तो केवल इसलिये कि उसने अपनी वयक्तिकता और सामाजिक नियंत्रण के साथ सामंजस्य करना सीखा है।

---

*हरिजन सि १ १९४०

अनियमित वैयक्तिकता वन प्राणियों की विशेषता है। हमने वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में मध्यम मार्ग निकालना सीखा है। पूरे समाज के कल्याण में सामाजिक नियंत्रण की ऐच्छिक अधीनता व्यक्ति और समाज दोनों के हित में है।"*

(१)

अहिंसा

वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण का साधन है अहिंसा। अहिंसा को हम दो प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं। नकारात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है किसी को स्वार्थ क्रोध या द्वेषवश कष्ट न देना। सकारात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है (१) प्रेम और उदारता (२) धैर्य (३) अन्याय का विरोध (४) वीरता और सबलता।† अहिंसा का मानने वाला अपने शत्रु से भी प्रेम करता है और उसकी अच्छाई को भी मान्यता देता है। उसमें बड़े से बड़े अपराध को क्षमा करने की क्षमता होती है। वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन कर लेता है पर विरोधी को कष्ट नहीं देता। अहिंसावादी बुराई से घृणा करता है बुराई करने वाले से नहीं। अहिंसावादी सत्यमेव जयते में विश्वास करता है, इसलिये यदि उसे प्रारंभ में असफलता भी मिलती है, तो भी वह अपना धैर्य छोड़ता नहीं। अहिंसा अन्याय का विरोध करती है, परन्तु उसका संघर्ष शत्रु के विरुद्ध नहीं होता। वह अन्याय पूर्ण आज्ञाओं को नहीं मानता और इस कारण उसे जो दंड या कष्ट मिलता है, उसे सहर्ष स्वीकार करता है केवल इस उद्देश्य से कि एक न एक दिन अन्यायी को अपने अन्याय का भान होगा उसकी आत्मा जाग उठेगी और अन्यायी के सुधरते ही अन्याय समाप्त हो जायेगा। हिंसा के द्वारा वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। "हिंसा दो चार बुरे शासकों को समाप्त कर दे परन्तु रावण के सिर की भांति उनके स्थान पर दूसरे शासक उत्पन्न हो जायेंगे बुराई की जड़ अन्यत्र है, वह हम में है यदि हम अपने को सुधार लें तो शासक अपने आप सुधर जायेंगे"। स्वाभाविक ही है कि अहिंसा का अस्त्र कायर और भीरु पुरुषों के लिये नहीं है जिसमें सहन शक्ति हो जो शक्ति रखते हुए भी दूसरों को क्षमा कर सकता हो वही इस अस्त्र को अपना सकता है। जिसमें मनोबल नहीं है केवल पशु बल

* हरिजन मई २० १९३९

† डा० महादेवप्रसाद शर्मा वही पृष्ठ २८३

प्रयोग नहीं कर सकते। गांधी जी का कहना था कि कायरता की अपेक्षा हिंसा का ही प्रयोग श्रेष्ठ है। "जहाँ भीरुता और हिंसा में से किसी एक को चुनना है वहाँ मैं हिंसा चुनने को कहूँगा। अहिंसा भीरुता के लिये आड़ नहीं है क्योंकि इसमें कुशल शस्त्र प्रयोगी से अधिक बहादुरी की आवश्यकता होती है"* ।

गान्धी जी ने अहिंसा के पाँच सिद्धान्त बताये हैं—

(१) अहिंसा का अर्थ है—पूर्ण आत्म-शुद्धि जिस सीमा तक यह मानव के लिए सम्भव है।

(२) अहिंसा की शक्ति मनुष्य में उसी अनुपात में अधिक होती है जिस अनुपात में अहिंसावादी व्यक्ति के पास बल प्रयोग करने की शक्ति होती है, (दूसरे शब्दों में शक्तिशाली का ही शस्त्र अहिंसा होता है)।

(३) बिना किसी अपवाद के अहिंसा हिंसा से उच्चतम होती है दूसरे शब्दों में अहिंसावादी के पास जो शक्ति होती है वह हिंसावृत्ति अपनाने पर जो शक्ति दिखाई देती है उससे अधिक होगी।

(४) अहिंसा कभी भी हार नहीं जानती जब कि हिंसा का लक्ष्य अवश्यंभावी हार है।

(५) यदि हम अहिंसा का लक्ष्य ही देखें तो अहिंसा का अन्तिम लक्ष्य विजय है यद्यपि वास्तविकता में अहिंसा में हार और विजय की भावना नहीं होती।

मानव इतिहास में अहिंसा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। प्रारंभ में मनुष्य नर भक्षी था बाद में वह पशुओं का शिकार करने लगा और उसके बाद कृषि युग में आया। इस तरह अहिंसा मानव जाति का नियम है। ईश्वर के प्रेम में विश्वास करने के कारण इसका क्षेत्र व्यापक होता जाता है। अहिंसा एक ऐसा अस्त्र है जिसका सभी प्रयोग कर सकते हैं यदि उनमें ईश्वर और मनुष्य जाति के लिये प्रेम है।

भगवान बुद्ध और महावीर ने अहिंसा की धारणा को केवल व्यक्ति से ही संबंधित किया था परन्तु महात्मा गांधी ने इसका प्रसार सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी किया। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करके ही उन्होंने भारत को स्वतंत्र कराया था। हिटलर और मुसोलिनी

*शान्ति और युद्ध में अहिंसा
†हरिजन अक्टूबर १२ १९३५

जैसे तानाशाहों को उन्होंने अहिंसा की महत्ता बताई थी और कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें शान्ति और अहिंसात्मक तरीकों से निपटाई जाना चाहिये। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने साम्प्रदायिक झगड़ों, छुआछूत की भावनाओं को समाप्त करने के लिये अहिंसात्मक तरीके को ही अपनाया था। कई दिन का कठोर उपवास करके वे लोगों का ध्यान समाज की बुराइयों की ओर आकृष्ट करते थे और समानता और प्रेम पर जोर देकर साम्प्रदायिक और जाति पाँति के भेदभाव को नष्ट करने के लिये लोगों को प्रोत्साहित करते थे।

महात्मा गांधी केवल आदर्शवादी नहीं थे। वे जानते थे कि आज मनुष्य और उसका समाज अपूर्ण है इसलिये कुछ न कुछ हिंसा या दमन करने वाली शक्तियों का अस्तित्व हमें स्वीकार करना पड़ेगा। चूँकि आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसात्मक प्रवृत्ति का बोल बाला है और शासकों में नैतिक बल का अभाव है इसलिये उन्होंने यह स्वीकार किया था कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी भारतवर्ष को अपनी सुरक्षा के लिये थोड़ी बहुत फौज रखना पड़ेगी यद्यपि वे इस बात में भी विश्वास करते थे कि जापान के आक्रमण को असहयोग और अहिंसात्मक रीति द्वारा असफल बनाया जा सकता था। देश के भीतर भी जो लोग नियमों का विरोध करते हैं उनका दमन करने के लिए पुलिस आवश्यक होगी परन्तु पुलिस को जनता का सहयोग लेकर सेवा भावना से प्रेरित होकर ही कार्य करना चाहिये। केवल विशेष परिस्थितियों में चोर और डाकुओं के लिये कारागार की आवश्यकता होगी। परन्तु ये कारागार अधिकतर सुधार गृह के रूप में कार्य करेंगे।

अहिंसा

दर्प—प्रेम अन्याय का विरोध आत्म बल पर अधिक जोरदार स्वानु-भाव से शासकों का सुधार संभव।
विश्वास—पूर्ण परम शुद्धि आत्म शक्ति, अहिंसा अधिक शक्तिशाली सक्रिय विजय पराजय भावना हीन।
अहिंसा का प्रेम द्वारा किस प्रति- किस प्रकार गांधी जी ने इसका प्रयोग वैयक्तिक सामाजिक राजनैतिक क्षेत्र में किया।
अपूर्ण समाज में अभाव ही सेना पुलिस कारागार आवश्यक पर वे सेवा-भाव से काम करें।
आत्म विकास केवल अहिंसा द्वारा संभव।

महात्मा गांधी का अहिंसा का उद्देश्य मानव जाति में उच्च नैतिक भावना की आकांक्षा करना है। यदि प्रजातंत्र और सामाजिक संस्थाओं का अंतिम लक्ष्य मनुष्य का नैतिक विकास है तो इस नैतिक विकास को प्राप्त करने के

पश्चात् मनुष्य अपने सभी व्यक्तिगत और सार्वजनिक समस्याओं को अहिंसा के द्वारा सुलझा सकता है। आज संसार अपूर्ण है हम अहिंसा को पूर्णरूप से शायद न अपना सकें परन्तु नैतिक विकास का इच्छुक व्यक्ति इसे आज के जीवन में अपनाने का प्रयत्न तो कर ही सकता है। यदि मनुष्य में देवत्व का कुछ भी अंश है तो यह साधन विफल नहीं हो सकता।

(७)

सत्याग्रह

चूंकि समस्त ब्रह्मांड सच्चिदानंद पूर्ण है और व्यक्ति इसी सत् चित् आनन्द की प्राप्ति करना चाहता है इसलिये व्यक्ति को सत्याग्रही होना आवश्यक है। सत्याग्रह का अर्थ है, सत्य (ईश्वर) को न छोड़ना सत्य प्राप्त करने के लिये सतत् प्रयत्न करना।

सत्याग्रह के संबंध में महात्मा गांधी की विचारधारा धीरे धीरे विकसित हुई है। उन्होंने लिखा है कि, "मेरे पथ-प्रदर्शन के लिये कोई सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। सत्याग्रह शास्त्र भी मैं कोई पूरी मीमांसा नहीं बना पा रहा हूं। मैं अब भी अंधेरे में टटोल टटोल कर चल रहा हूं।" महात्मा गांधी ने जो प्रमुख चार राजनैतिक आंदोलन चलाये थे उनके क्रमशः नाम थे निष्क्रिय विरोध असहयोग सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह। अन्तिम आन्दोलन के लिये ही उन्होंने सत्याग्रह शब्द का प्रयोग किया था। निष्क्रिय विरोध की मूल धारणा उन्हें पश्चिमी राज्यों में प्रचलित आन्दोलनों से मिली थी और इसका प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में किया था। परन्तु ज्यों ज्यों उनके सत्य के साथ प्रयोग बढ़ते गये निष्क्रिय विरोध के स्थान पर असहयोग सविनय अवज्ञा और अन्त में सत्याग्रह आन्दोलन अपनाये गये। महात्मा गांधी ने निष्क्रिय विरोध और सत्याग्रह में जो अंतर बताया है, उसी से हमें मालूम होता है कि सत्याग्रह की भावना उच्चतम भावना है। निष्क्रिय विरोध में यद्यपि अहिंसा की नीति को अपनाया जाता है, परन्तु उसमें शस्त्र बल का भी प्रयोग हो सकता है। सत्याग्रह पूर्ण अहिंसावादी है। निष्क्रिय विरोध में शत्रु को परेशान करने की भावना हो सकती है वह द्वेष मूलक हो सकता है, परन्तु सत्याग्रह विरोधी को दुख नहीं पहुँचाना चाहता उसका हृदय परिवर्तन करना चाहता है। वह विरोधी के प्रति प्रेम और उदारता का भाव रखता है। यदि निष्क्रिय विरोध दुर्बलों का शस्त्र है, तो सत्याग्रह सबलों का।

पश्चिम में प्रचलित निष्क्रिय विरोध वैयक्तिक था और इसका मुख्य आधार था कि व्यक्ति अपने नैतिक नियमों या अपनी आत्मा के लिये किसी नियम विशेष का विरोध कर सकता है परन्तु महात्मा गांधी का सत्याग्रह सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन का टेकनीक होने के कारण निष्क्रिय विरोध से अधिक व्यापक हो गया है। डाक्टर बांडुरेंट के शब्दों में सत्याग्रह किसी विशेष नियम के विरोध की रीति से अधिक व्यापक हो गया है। यह सकारात्मक वृहद् और मूलभूत परिवर्तनों के लिए संघर्ष का साधन बन गया है।"*

सामाजिक जीवन में सत्याग्रह का अर्थ है अन्याय दमन और शोषण के विरुद्ध विशुद्ध आत्म बल का प्रयोग, इसलिए ईश्वर में विश्वास और स्वयं कष्ट सहने की शक्ति सत्याग्रही में आवश्यक है। महात्मा गांधी का कहना था कि सत्याग्रह प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है।** यह केवल अधिकार ही नहीं वरन् कर्तव्य है। सत्याग्रह का विचार महात्मा गांधी को थोरियो से मिला था जिन्होंने सरकार के अनुचित करों के विरुद्ध इसका प्रयोग किया था। महात्मा गांधी ने इसके प्रयोग को अधिक व्यापक बनाया। उनका कहना था कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र में जहां भी अन्याय और असत्य दिखाई दे सत्याग्रह का प्रयोग हो सकता है। अपने कौटुम्बिक जीवन में भी गांधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग किया था। राज्य के नियमों के विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग तभी सफल हो सकता है, जब सत्याग्रही ने पहिले उस राज्य के नियमों का पालन किया हो। अपनी आत्म-कथा में उन्होंने लिखा है कि सत्याग्रही समाज के नियमों का पालन समझ बूझ कर और अपनी स्वेच्छा से करता है, क्योंकि नियमों का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझता है। नियमों का पालन करने के पश्चात् ही वह जान सकता है कि जिन नियमों का वह पालन करता है वे कहां तक अच्छे और न्यायपूर्ण हैं और कहां तक बुरे। तभी उसे बुरे नियमों की अवज्ञा करने का अधिकार प्राप्त होता है।† इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रही जब स्वयं बुराई का अनुभव करता है तभी वह विरोध कर सकता है। इसलिये महात्मा गांधी का सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी है। लेकिन सरकार के नियमों का विरोध करते समय सत्याग्रही को यह भी देखना आवश्यक है कि उसके कार्यों से सामाजिक व्यवस्था तो नहीं बिगड़ती।

* डा. बांडुरेंट—कान्क्वेस्ट आफ वायलेंस भूमिका
** १ यंग इंडिया जनवरी ५, १९२२
† २ आत्म-कथा, अध्याय ११वां

सत्याग्रही के लिये पाँच गुण आवश्यक हैं —

ईश्वर में विश्वास, नेता में विश्वास, सबल शरीर, धैर्य, निर्भयता और रखना। उसमें कष्ट सहने की सामर्थ्य होनी चाहिये और यद्यपि सामूहिक सत्ता में कुशल नेता की आवश्यकता होती है पर प्रत्येक सत्याग्रही को स्वयं अपना नेता बनने को तैयार रहना चाहिये। सत्याग्रह द्वारा न केवल शत्रु का हृदय परिवर्तित होता है किन्तु सत्याग्रही की भी आत्म-शुद्धि होती है। सत्याग्रह वास्तव में आत्मा के निर्देशन के अन्तर्गत किया जाता है, इसलिये सत्याग्रह का मूल सिद्धांत है 'सत्य के अनुसार अपने जीवन का संचालन करना'। इसलिये जो भी बुराइयाँ आत्मा के प्रतिकूल हैं उनका प्रतिकार करना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह आध्यात्मिकता और नैतिकता का सिद्धान्त है यह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाने वाले अन्याय का विरोध करता है।

इस प्रकार सत्याग्रह सामाजिक परिवर्तन लाने का साधन है इसके द्वारा शासित और शासक शोषित और शोषण करने वाले वर्ग हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष आसानी से समाप्त किये जाते हैं। इसके द्वारा दोनों वर्गों का हृदय परिवर्तन होता है। सत्याग्रही में आत्मबल आता है और जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसका हृदय उदार हो जाता है। 'इसका उद्देश्य आत्म समर्पण या विजय नहीं वरन् वास्तविक समझौता है"। समझौता भी एक तरफीय होता है विरोधी के विरुद्ध पर सत्याग्रह दोनों पक्षों को प्रभावित करता है। समझौते का आधार तर्क या बुद्धि होती है। सत्याग्रह आत्मा को सम्बोधित करता है*। विरोधी दल आन्दोलन करने वालों की शक्ति के सामने ही नहीं झुकता वह अपने अन्याय को भी समझने लगता है।

सत्याग्रह

सत्य (ईश्वर) प्राप्त करने का सतत प्रयत्न ही सत्याग्रह।

यह अहिंसात्मक हृदय परिवर्तन करने वाला प्रतिपक्षी के दमन के रूप में निष्क्रिय विरोध से भिन्न।

आत्म बल द्वारा समस्त अन्यायों का विरोध करने का सकारात्मक और व्यापक साधन। यह प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार नहीं कर्तव्य है।

सत्याग्रही ईश्वर, नेता सबल शरीर धैर्य और निर्भयता में विश्वास करता है शत्रु की आत्मा को अपील कर हृदय परिवर्तन करता है इस प्रकार सामाजिक और स्वयं की बुराई हटाने में इस नैतिक साधन को अपनाता है।

'बुराई से असहयोग बुराई करने वाले से नहीं।'

* मोरिस जोन्स—वही पृष्ठ २१४

"मेरा असहयोग बुराई से असहयोग है बुराई करने वाले से नहीं। मेरे असहयोग के अन्त में यह हार्दिक इच्छा रहती है कि दुष्कर्मी को दुष्कर्म से अलग करना जिससे मैं उसे अपना हार्दिक सहयोग दे सकूं।"

(८)

स्वतन्त्रता और अधिकार

ऊपर हम देख चुके हैं कि महात्मा गांधी का सत्याग्रह सिद्धान्त सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों का विरोध करने का अधिकार है और यह विरोध आत्मा या परमात्मा के निर्देशन में किया जाता है। इसलिये आत्मा की शुभ प्रेरणा है उसके अनुसार काम करने में ही—नैतिक कर्तव्य पालन करने से ही—मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इसलिये आत्मा और परमात्मा के आदेशों का पालना मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है। महात्मा गांधी के अनुसार असत्य अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का प्रत्येक आदमी का प्राकृतिक और नैतिक अधिकार है। अधिकार स्वच्छन्दता नहीं है वरन इसका अर्थ है उन कार्यों को करना जिनसे ईश्वर प्राप्ति होती है और चूंकि समाज के असहाय व्यक्तियों की सेवा से ही ईश्वर मिल सकता है इसलिये मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है लोकसेवा। समाज में पाये जाने वाले अन्याय शोषण अस्पृश्यता या रंगभेद की भावना के विरुद्ध खड़े होने की कर्तव्य भावना ही मनुष्य को अधिकार प्रदान करती है इसलिये मनुष्य का अधिकार है उन क्षमताओं को उन्मुक्त करना जिनसे सबकी भलाई, सर्वोच्च उदय हो सके। गांधी जी का कहना है कि अधिकार की भावना कर्तव्यों पर आधारित है। एच० जी० वेल्स के मानव अधिकार लेख पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था कि 'आपके विचार मुझे अधिक मालूम होंगे यदि आप मनुष्य के कर्तव्यों से अपना लेख प्रारंभ करें तभी आप अधिकारों की चर्चा कर सकते हैं। कर्तव्य भावना पर ही समाज अवलंबित है कर्तव्य के पालन से ही अधिकार आते हैं। यदि मनुष्य कर्तव्य के स्थान पर केवल अधिकार पर जोर दे तो सारा सामाजिक संगठन ही छिन्न भिन्न हो जायगा"। इसलिये मानव अधिकार कर्तव्य की भावना पर अवलंबित है और कर्तव्य भावना नैतिकता पर।

स्वतंत्रता का अर्थ केवल बाह्य शक्ति के बन्धन से मुक्ति पाना नहीं है वरन् आत्मा नैतिक विकास करना है। अत्याचार, अन्याय असमानता का विरोध करने से ही नैतिक विकास होता है उससे ही मनुष्य में आत्मबल, संयम और अनुशासन बढ़ता है इसलिये "स्वराज्य के लिये प्रयत्न करना ही स्वराज्य है'

क्योंकि प्रयत्न करने में ही हमारी नैतिकता का विकास होता है। गांधी जी का कहना था कि "खून की नदी बहाकर या धोखा देकर स्वतन्त्रता प्राप्त करना स्वतन्त्रता नहीं है" स्वतंत्रता का अर्थ बाह्य शक्ति से मुक्ति पाना नहीं वरन् अपनी आत्मा द्वारा दिये गये आदेशों को पालना है। कुछ व्यक्तियों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से ही सच्चा स्वराज्य नहीं आवेगा वरन् सच्चा स्वराज्य उस समय प्राप्त होगा जब प्रत्येक व्यक्ति में अन्यायपूर्ण शक्ति का विरोध करने की क्षमता आ जावेगी" जब व्यक्तियों के हृदय में परिवर्तन हो जावेगा जब उनमें नैतिक भावना आवेगी। इसी कारण वे अस्पर्श्यता और साम्प्रदायिकता के निवारण को स्वराज्य प्राप्ति के लिये आवश्यक मानते थे। एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था कि जब हम अपने को शासित करना सीख जावें तभी स्वराज्य है यह स्वराज्य हमारी हथेली पर रखा है। सच्चा "होम रूल" या "स्वशासन आत्म नियमन है"।

अधिकार और स्वतन्त्रता

अन्याय का विरोध व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार इसलिये सर्वोदय के लिये प्रयत्न की क्षमतायें उपयुक्त करना अर्थात् लोक सेवा व्यक्ति का कर्तव्य। कर्तव्य अधिकारों का जनक।

स्वतंत्रता नैतिक विकास के लिए अन्यायपूर्ण शक्ति का विरोध करने की क्षमता (आत्मबल) ही स्वराज्य। इसलिये स्वराज्य के लिये प्रयत्न करना ही स्वराज्य है। आत्म नियमन ही होम रूल है।

(६)

राज्य

चूंकि सत्य प्रत्येक आत्मा का गुण है इसलिये आत्मानुभूति करने वाला प्रत्येक मनुष्य अपने लिये नियम स्थिर कर सकता है और अपने जीवन को शासित कर सकता है। पूर्ण विकास होने पर प्रत्येक मनुष्य स्वयं शासित और अपना नियामक बन जावगा उस समय राज्य की कोई आवश्यकता न होगी। इस प्रकार सर्वोदयी समाज अराजकतावादी समाज होगा जिसमें न तो सरकार की आवश्यकता होगी न प्रतिनिधियों की। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति लोक सेवा में लगे होने के कारण किसी के हित में बाधा नहीं डालता और अपना स्वयं शासक बन जाता है।

'राजनैतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के द्वारा राष्ट्रीय जीवन को सञ्चालित करना। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जावे कि

यह स्वचालित होने लगे तो प्रतिनिधित्व अनावश्यक हो जाता है। तब बौद्धिक (enlightened) अराजकता का राज्य हो जाता है। ऐसे राज्य में प्रत्येक अपना शासक होता है। वह अपने को इस प्रकार शासित करता है कि वह अपने पड़ोसी के लिये बाधा नहीं होता। आदर्श राज्य में कोई राजनैतिक सत्ता नहीं होती क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। लेकिन जीवन में यह आदर्श पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होता है इसलिये थोरियो का यह कथन कि वह सरकार सबसे अच्छी जो कम से कम शासन करे।"*

महात्मा गांधी के अनुसार राज्य हिंसा पर आधारित है। उन्होंने एक जगह लिखा है कि मैंने कई व्यक्तियों को दूसरों का विश्वासी होते देखा है, परन्तु राज्य को किसी का विश्वासी होते नहीं देखा। राज्य संगठित दमन और हिंसा की प्रतिमूर्ति है। इसके कारण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है। वे लिखते हैं "सरकार की शक्ति की वृद्धि का मैं बड़ी आशंका से देखता हूँ क्योंकि यद्यपि ऊपर से देखने से इस शक्ति के प्रसार द्वारा मनुष्य के शोषण में कमी मालूम पड़ती है परन्तु इससे मनुष्य का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है जो सारी उन्नति का मूल है।" महात्मा गांधी की राज्य की धारणा उनके दक्षिण अफ्रीका और भारत के अनुभव पर आधारित दिखाई देती है।

गांधी जी का कहना था कि अहिंसा के प्रयोग द्वारा मनुष्य धीरे धीरे अहिंसात्मक राज्य का निर्माण कर सकता है। सबसे अच्छा राज्य वही है जो सबसे कम शासन करे। इस कारण वे समाजवादी राज्य के विरुद्ध थे।

महात्मा गांधी जी सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे क्योंकि इसमें राज्य की शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होता। चूँकि राज्य हिंसा और दमन की मूर्ति है इसलिये केन्द्रीकरण समाज के अहिंसात्मक होने से मेल नहीं खाता। उनका कहना था कि आदर्श स्वराज्य वह है जिसमें प्रत्येक गाँव एक पूर्ण गणराज्य हो। जो अपनी आवश्यकताओं में स्वनिर्भर हो जिसमें छुआछूत की भावना न हो जिसमें पुलिस या दंड का प्रयोग न कर अहिंसा मूलक सत्याग्रह और असहयोग से काम चलाता है। ग्राम-पंचायत शासन करे, और प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास रहे कि वह स्वयं ही अपनी सरकार का निर्माता है।

जिस सरकार में व्यक्ति की इच्छा निहित न हो गांधी जी उस सरकार को उचित नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति पर उसकी

* यंग इंडिया २ जुलाई १९३१

इच्छा और स्वीकृति के बिना शासन नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति स्वयं ही अपना नैतिक उत्थान और अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। राज्य द्वारा प्रत्येक कार्य किये जाने से व्यक्ति स्वयं सोचने समझने और काम करने की क्षमता खो देता है और व्यक्ति के काम और नैतिकता में संबंध नहीं रहता। राज्य आत्माहीन मशीन है और मशीन के पुर्जे की भाँति काम करने पर व्यक्ति के कार्य नैतिकता से अलग हो जाते हैं। ग्रीन भी इसी कारण पितृ तुल्य काम करने वाले राज्यों का विरोधी था। ग्रीन की भाँति गांधी जी भी इस बात में विश्वास करते थे कि राज्य का काम नकारात्मक है। समाज में जो भी सुधार हों वे राज्य द्वारा नहीं किये जायें।

यद्यपि सिद्धान्त महात्मा गांधी अराजकतावादी थे परन्तु इस अपूर्ण समाज में वे सरकार की आवश्यकता मानते थे। परन्तु सरकार वही अच्छी कही जा सकती है जो कम से कम शासन करे, जिसका ध्येय लोक सेवा हो और जो कम से कम शक्ति का प्रयोग करे। ग्रीन की भाँति वे कुछ राज्यों को व्यक्ति की निष्ठा योग्य मानते थे और कुछ को शोषपूर्ण जिनसे असहयोग करना ही व्यक्ति का धर्म है। प्रारंभिक काल में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को प्रथम श्रेणी में रखा था क्योंकि उनका विश्वास था कि इस सरकार में व्यक्ति को अपने मत प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार अपना सुधार करने की क्षमता रखती है। इसी कारण १६१७ तक उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग ब्रिटिश सरकार को दिया था। परन्तु जलियाँ वाला बाग और रालेट एक्ट ने उन्हें ब्रिटिश सरकार का दूसरा रूप दिखलाया। उन्होंने देखा कि यह सरकार अपने अफसरों के कुकर्मों पर परदा डालती है यह शोषपूर्ण है, नैतिकता की विरोधी है इसलिये उसके साथ सहयोग करना पाप के साथ सहयोग करना है। १६२१ में वायसराय को उन्होंने लिखा था

"पिछले माह में जो घटनायें हुई हैं उनसे मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि खिलाफत के मामले में ब्रिटिश सरकार धर्महीन अनैतिक और अन्याय पूर्ण ढंग से काम करती है और अपनी गलती को छिपाने के लिए एक गलती से दूसरी गलती करती रही है। मैं ऐसी सरकार को न आदर और न प्रेम की दृष्टि से देख सकता हूँ।"

शोष पूर्ण सरकार में अपने को सुधारने की क्षमता नहीं होती इसलिये उसे समाप्त करने और सुधारने के लिये विशेष राष्ट्रीय प्रयत्न की आवश्यकता होती है। अहिंसात्मक असहयोग द्वारा इसका निराकरण आसानी से हो सकता

है क्योंकि प्रत्येक सरकार जन इच्छा पर आधारित होती है और यदि जन-इच्छा राज्य की उपेक्षा करने लगे तो राज्य का कार्य नहीं चल सकता। ऐसी सरकार हिंसा पर आधारित होती है इसलिये ज्यों ही प्रजा दमन शक्ति से भय खाना बंद कर देती है निरंकुश शासक की शक्ति समाप्त हो जाती है।" पूरी ही प्रजा क्यों केवल एक व्यक्ति ही अपने आत्मबल से बड़े बड़े साम्राज्यों की नींव हिला सकता है। इसी कारण उन्होंने समय समय पर सैनिक सत्याग्रह भी चलाया था। चूंकि ऐसे निरंकुश राज्य केवल हिंसा के सहारे खड़े रहते हैं इसलिए इनका पतन केवल अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है।

"मैं अपने देश वासियों को यह बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि हिंसात्मक असहयोग केवल बुराई को बढ़ाता है। चूंकि बुराई केवल हिंसा की सहायता से खड़ी रहती है इसलिये बुराई का सहारा हटाने के लिये हिंसा से दूर रहने की आवश्यकता है।"

पश्चिमी प्रजातंत्र यद्यपि जन इच्छा पर आधारित मालूम होते हैं परन्तु इनकी भावना संकुचित है। इनमें प्रजातांत्रिक भावना का अभाव है। वे प्रजातंत्र साम्राज्यवादी हैं रणनीति में विश्वास करते हैं। अपनी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा दूसरे लोगों का शोषण करते हैं वे समानता में विश्वास नहीं करते इसलिये उनके लिये व्यक्तित्व का महत्व नहीं है। सच्ची सरकार वही है जो प्रत्येक मनुष्य की चेतन या अचेतन इच्छा पर आधारित है। ब्रिटिश प्रजातंत्र

राज्य

सत्य आत्मा का गुण इसलिये प्रत्येक अपना शासक और नियामक हो सकता है। सर्वोदयी समाज राज्य विहीन होगा

राज्य दमन और हिंसा की मूर्ति जिससे व्यक्तित्व समाप्त होता है। सबसे अच्छा राज्य वह जो कम शासन करे इसलिये सत्ता का विकेन्द्रीकरण।

ग्राम पंचायतें अहिंसा सत्याग्रह व्यक्ति की स्वीकृति से काम करती और आत्मनियन्त्रण जागृत करती हैं।

राज्य द्वारा सर्वाधिक कार्य होने से (समाज वादी पितृ तुल्य) व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं मशीन भांति काम करता है और वह नैतिक कार्य नहीं होते। सच्चा सुधार व्यक्ति कर सकता है राज्य नहीं।

राज्य का आधार इच्छा इसलिये शोषक हुए राज्यों की समाप्ति असहयोग और अहिंसा द्वारा सम्भव।

पश्चिमी प्रजातन्त्र जन इच्छा पर आधारित नहीं क्योंकि वह सभी व्यक्तियों अल्पसंख्यकों समाजों के अधिकारों को मान्यता नहीं देता व्यक्ति के विचारों का दमन करता है

में व्यक्ति की महत्ता को स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ के राज्य में नागरिकों के ऊपर बहुसंख्यक दल की निरंकुशता और पार्लियामेंट के इस बहुसंख्यक दल पर केबिनेट की निरंकुशता है। इसलिये ब्रिटेन में प्रजा का राज्य नहीं एक वर्ग विशेष का राज्य है। महात्मा गांधी का कहना था कि यूरोप के लोगों के पास राजनतिक सत्ता है परन्तु उनमें स्वराज्य नहीं।* जान स्टुअर्ट मिल की भाँति महात्मा जी न केवल अल्पसंख्यकों के अधिकारों को सुरक्षित करना चाहते थे वरन् प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार को भी। मिल की भाँति उनका विश्वास था कि नये विचार और नये समाज स्थापित करने के प्रयत्न कुछ इने-गिने लोगों में ही रहते हैं। २८ सितंबर, १९३४ को सच्चे प्रजातंत्र की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा था कि—

"बहुसंख्यक दल के शासन का यह अर्थ नहीं होता कि वह किसी भी एक व्यक्ति के विचार को यदि वह ठीक है, दमन करे। एक व्यक्ति का विचार यदि वह विचार ठीक है बहुत लोगों के विचार से अधिक महत्वपूर्ण है, सच्चे प्रजातंत्र के संबंध में यही मेरा दृष्टिकोण है।"

(१०)

धार्मिक व्यवस्था

ईशोपनिषद का प्रथम मन्त्र जिसकी गांधी जी भूरि भूरि प्रशंसा करते थे महात्मा गांधी के धार्मिक विचारों को बड़ी अच्छी तरह से व्यक्त करता है—

ॐ ईशा वास्यमिदम् सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

अर्थात् यह समस्त जगत या जिसमें जो कुछ भी है ईश्वर से परिपूर्ण है। उसका त्याग के साथ उपभोग करो। जो कुछ दूसरे का धन या भाग है उसका लालच मत करो।

आत्म-शुद्धि के लिए धन संग्रह करना उचित नहीं है। यह अवश्य है कि जीवन को बनाए रखने के लिए हम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी

*यंग इंडिया सितम्बर ३ १९२८, देखिये हरिजन जुलाई २१ १९४०

होती है परन्तु ये भौतिक आवश्यकतायें ही हमारे जीवन का लक्ष्य … आज के समाज में और आज की सभ्यता ने भौतिक समृद्धि को ही लक्ष्य बना लिया है। प्रत्येक समाज उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने की … कर रहा है। इस कारण समाज के भीतर और बाहर प्रतियोगिता और द्वन्द्विता प्रारम्भ हो गई है। पूंजीपति और जमींदार गरीबों का … है समाज में संघर्ष होता है और प्रत्येक राष्ट्र नए बाजारों की … साम्राज्यवाद और युद्ध को जन्म दे रहा है। महात्मा गांधी ने आधुनिक … के इसी रूप को देखा इस कारण वे इस सभ्यता के कटु आलोचक थे। … अनुसार आधुनिक सभ्यता का भविष्य अन्धकारमय है। सच्ची सभ्यता के उपादान बढ़ाने में नहीं है वरन् अपनी इच्छाओं को सीमित करने में … प्राकृतिक जीवन इसी यही संदेश देता है कि प्रत्येक वस्तु का त्याग के उपभोग करो। शहर के लोगों की अपेक्षा गांव का जीवन अधिक प्राकृतिक … क्योंकि गांवों के लोगों की इच्छायें सीमित होती हैं। इसीलिए महात्मा … प्राकृतिक और गांव के जीवन पर अधिक जोर देते थे।

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गांधीजी प्रत्येक मनुष्य के … शारीरिक परिश्रम करना आवश्यक मानते थे। टालस्टाय के 'रोटी के लि… परिश्रम' सिद्धान्त को वे ईश्वरीय नियम कहते थे। उनका कहना था कि … मनुष्य परिश्रम नहीं करता उसे रोटी खाने का अधिकार नहीं है। बौ… श्रम को वे परिश्रम नहीं मानते थे। उनका कहना था कि शारीरिक श्रम … व्यक्ति की गरिमा बढ़ती है उसका शरीर अच्छा रहता है और साथ ही … अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। इसीलिए वे च… कातने पर बहुत अधिक जोर देते थे क्योंकि इसके द्वारा न केवल मनुष्य … करता है वरन् अपनी आवश्यकता के लिए भोजन भी प्राप्त कर सकता है। … एक प्रकार से मार्क्स के श्रम सिद्धान्त में विश्वास करते थे और उनका … था कि श्रम के द्वारा ही वस्तु का उत्पादन होता है। इसलिए जो व्यक्ति जोत… है भूमि उसी की है।

परन्तु महात्मा गांधी पूंजीपतियों और जमींदारों के अस्तित्व को समाज … लिए आवश्यक मानते थे। उनका जबरन उन्मूलन नहीं करना चाहते थे। … उनका कहना था कि सत्याग्रह द्वारा इन लोगों का हृदय परिवर्तन किया … सकता है जिससे वे जमीन और पूंजी को अपनी सम्पत्ति नहीं वरन् समाज … धरोहर समझने लगें। यदि अधिक अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा पूंजीपतियों के

असहयोग शुरू कर दें तो पूँजीपतियों का काम ठप्प हो जायगा और वे वस्तुओं का उत्पादन न कर सकेंगे। ऐसी परिस्थितियों से क्षोभ होकर पूँजीपति अपने आप पूँजी को अपनी सम्पत्ति न समझ समाज की धरोहर समझने लगेंगे।

महात्मा गांधी इस प्रकार शांति के तरीके से समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे और वर्ग संघर्ष को हटा देना चाहते थे। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए कि 'प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकतानुसार मिले' समाज में आर्थिक समानता हो महात्मा गांधी श्रमिक श्रमिकों की तानाशाही और पूँजीपतियों की समाप्ति में विश्वास नहीं करते थे। वे सारा काम अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर, उनमें लोकसेवा की भावना जागृत कर नये समाज का निर्माण करना चाहते थे।

ऊपर हम कह चुके हैं कि महात्मा गांधी गाँव के जीवन को महत्ता देते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतवर्ष गाँवों का देश है, इसलिये वे ग्रामीणों की आवश्यकता पूरी करने के लिये न केवल खादी वरन् गृह उद्योगों पर जोर देते थे जिसमें भारत के प्रत्येक व्यक्ति के लिये संतुलित जीवन रहने के लिये मकान, बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबंध हो सके। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे मशीन या सभी बड़े २ उद्योगों के विरुद्ध थे। वे गांव में बिजली चाहते थे जिससे वहां गृह उद्योग विकसित हो सकें। कुंजी उद्योगों (key industries) पर वे राज्य का स्वामित्व चाहते थे जिसमें इन उद्योगों पर राज्य के द्वारा श्रमिकों का ही स्वामित्व रहे। [illegible] 'मैं इन धनिकों को बल के द्वारा उनकी सम्पत्ति से वंचित न करना चाहूँगा। मैं इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में इनका सहयोग चाहूँगा।"

गांधी जी औद्योगिकता और बड़े पैमाने के उत्पादन के विरुद्ध थे, [illegible] इस औद्योगीकरण से ही संसार में उपनिवेशवाद, शोषण और [illegible] हुई है। अधिकतर मनुष्यों को अपने ही श्रम पर निर्भर होना चाहिये [illegible] मशीनों का प्रयोग केवल आवश्यकता पूर्ति के लिए होना चाहिये [illegible] नहीं। साथ ही उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, जिससे [illegible] में रहने वालों की आवश्यकतायें अपने श्रम के उत्पादन से पूरी हो सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी का दर्शन [illegible] और आध्यात्मवाद से परिपूर्ण है। आध्यात्मिकता का [illegible]

का त्याग के साथ उपभोग करना आवश्यक समझते थे इसी कारण वे वस्तुओं का समान वितरण चाहते थे और पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर उन्हें लोक सेवक और समाज का ट्रस्टी बनाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व है। जब मनुष्य के भीतर की दैवीय आत्मा जाग उठेगी तो समाज में संघर्ष और शोषण समाप्त हो जायेगा। वे वर्णाश्रम में विश्वास करते थे परन्तु वर्णाश्रम से उनका तात्पर्य केवल यही था कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी जन्मजात क्षमता होती है जो उसके वर्ण में व्यक्त होती है, इसलिये इन जन्मजात क्षमताओं के अनुरूप ही काम कर प्रत्येक मनुष्य समाज की सेवा करता है। समाज के सभी काम बराबर हैं। कोई काम ऊँचा या छोटा नहीं। इसलिये समाज के सभी व्यवसायों को डाक्टरों, वकीलों मेहतरों को समान पुरस्कार मिलना चाहिये। जो निम्न कार्य करते हैं वे वास्तव में महान् हैं वे हरिजन हैं। इसलिये जब कोई महात्मा गांधी के आश्रम में प्रवेश करना चाहता था और कहता था कि वह प्रत्येक कार्य करने के लिये तैयार है तो गांधीजी पूछा करते थे कि क्या तुम मैला साफ कर सकोगे? इस प्रश्न के उत्तर द्वारा ही वे व्यक्ति में श्रम की महत्ता, लोक सेवा और समानता की भावना आंका करते थे।

आर्थिक विचार

सब वस्तुओं का त्याग के साथ उपभोग क्योंकि सभ्यता इच्छाओं का परिसीमन है। इसलिये ग्राम का जीवन श्रेष्ठ।

श्रम से व्यक्ति की गरिमा स्वास्थ्य आत्मनिर्भरता। पूंजी समाज की धरोहर, यह भावना अहिंसक असहयोग से जाग्रत कर सकते हैं। पूंजी उद्योगों पर राज्य द्वारा श्रमिकों का स्वामित्व गृह उद्योगों के लिये बिजली पर औद्योगिकता उपनिवेशवाद, शोषण बेकारी को जन्म देती है।

उत्पादन के विकेन्द्रीकरण से प्रत्येक क्षेत्र आत्मनिर्भर हो सकता है।

वर्ग संघर्ष लोक सेवा और आत्मा की जागृति से समाप्त हो जायेंगे। सभी कार्य समान जो निम्न कार्य करते हैं वे महान। वर्णधर्म मनुष्य की जन्म जात क्षमताएं बताता है।

(११)
समाजवाद

श्री हीरेन मुखर्जी लिखते हैं कि "महात्मा गांधी के लेखों में समाजवादी प्रवृत्ति काफी मात्रा में दिखाई देती है। कम से कम वे ऐसे समाजवादी विचारों और भावनाओं को उत्साहित करने वाले अवश्य हैं। जब गांधी जी

किसी पूंजीपति के सामने हम तथ्य को रखते हैं कि जो आदमी अपनी आवश्य-कता से अधिक खाता या खर्च करता है, वह गरीबों को लूटता है, तो बड़े २ समाजवाद की डींग मारने वालों के जीवन इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते। यदि हम समाजवाद को राजनीति का वह सिद्धान्त मानें, जिसमें व्यक्ति को गरीबों की सेवा और समाज की आवश्यकता के आगे अपने संकुचित स्वार्थ या व्यक्तिगत लाभ को बलिदान करने का सुझाव दिया जाता है तो महात्मा गांधी समाजवादी समझे जायेंगे। महात्मा गांधी का कहना था कि स्वराज्य उस समय तक पूर्ण नहीं होगा जब तक निम्न और दीन वर्गों को जीवन की वे साधारण सुविधायें प्राप्त न हो जांय, जो धनवान व्यक्तियों को प्राप्त हैं। समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार महात्मा गांधी (१) सबमें बन्धुत्व की भावना देखना चाहते थे, (२) रोटी के लिए श्रम में विश्वास करते थे (३) श्रम को उत्पादन का मुख्य साधन मानते थे, (४) सब वर्गों में समानता देखना चाहते थे वे शोषण और अत्याचार के विरुद्ध थे तथा सभी वर्गों को समान पारिश्रमिक देने के पक्ष में थे (५) सबै भूमि गोपाल की' में विश्वास करते हुए वे सारी भूमि को समाज की वस्तु समझते थे (६) कुछ उद्योगों पर वे राज्य का नियंत्रण चाहते थे।

गांधी जी में मार्क्सवादी गुण भी इधर उधर मिलते हैं। उनका रामराज्य वर्गहीन और राज्यहीन समाज है। वे राज्य को हिंसा और शोषण का साधन मानते हैं।

गांधीजी के विचारों में यदि हम समाजवाद और मार्क्सवाद के कुछ लक्षण देखते हैं तो उससे हम उन्हें समाजवादी या मार्क्सवादी नहीं कह सकते डा० डांइरस्ट लिखती हैं कि "एक अर्थ में वे रूढ़िवादी थे दूसरे अर्थ में दार्श-निक अराजकतावादी एक ओर वे समाजवादी थे, तो दूसरी ओर पूंजीवादी और साथ ही पूर्वकालीन साम्यवादी ...वह इन सब बातों को मानने वाले हैं, फिर भी किसी एक वाद के नहीं हैं (क्योंकि) गांधीजी राजनैतिक दार्शनिक नहीं थे, एक राजनैतिकवाद द्वारा बताये गए रास्ते पर वे कर्मयोगी की भांति उतरे और अपने नये विचार देकर वे दूसरे दल में चले गये।"

पश्चिमी समाजवाद और गांधीवाद में दृष्टिकोण और साधना की दृष्टि से बड़ा अन्तर है—

(१) गांधीवाद समाजवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है वह केवल आर्थिक शोषण की बुराई से ही समाज को मुक्त नहीं करना चाहता वरन्

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाने वाली बुराई को हटाना चाहता है। गांधीवाद सम्पूर्ण जीवन का उत्थान सामने रखता है।

(२) समाजवाद ईश्वर, सत्य अहिंसा को कोई महत्व नहीं देता जबकि गांधीवाद इन्हीं पर आधारित है।

(३) समाजवाद समष्टि पर जोर देता है और व्यक्ति की उतनी चिन्ता नहीं करता। गांधीवाद व्यक्तिवादी है। वह व्यक्ति का विकास और व्यक्ति की मुक्ति चाहता है ताकि सामाजिक हितों की पूर्ति हो सके।

(४) गांधीवाद और समाजवाद दोनों समाज में धन के विषम वितरण को उचित नहीं समझते परन्तु जहाँ समाजवाद भौतिक दृष्टिकोण रखता है वहाँ गांधीवाद आध्यात्मिक दृष्टिकोण। समाजवाद वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन चाहता है ताकि सबका जीवन स्तर ऊँचा हो सके। गांधीवाद आवश्यकताओं को कम करने की प्रेरणा देता है इसलिए वह अपने समाजवादी को गरीब से गरीब होने की सलाह देता है। गांधीजी लिखते हैं—"मुझे अपने को गरीबों से गरीब स्तर पर लाना चाहिये। पचास से अधिक वर्षों से मैं यही करता रहा हूँ और इस प्रकार अपने को कट्टर साम्यवादी कह सकता हूँ।"

गांधीवाद व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति पर अधिक जोर देता है भौतिक उन्नति पर कम।

समाजवाद

'जो अपनी आवश्यकता से अधिक उपभोग करता है वह गरीबों को लूटता है' तथा 'दूसरों की सेवा में व्यक्तिगत लाभ का बलिदान' अच्छे समाज वाद है।

वर्गहीन श्रम की महत्ता धन हीनता शोषण का विरोध समाज का भूमि पर स्वामित्व कुंजी उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण—समाजवादी सिद्धान्त है।

पर गांधी जी किसी एक बात के नहीं उनका लक्ष्य था (१) न केवल आर्थिक वरन सभी बुराइयों को हटाना (२) सत्य अहिंसा द्वारा ईश्वर प्राप्ति (३) व्यक्ति का विकास (४) इच्छाओं का परिसीमन (५) आध्यात्मवाद

(५) समाजवाद वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का अंत उद्योगों का राष्ट्रीय-करण करके करना चाहता है। समाजवाद राज्य की शक्ति में विश्वास करता है, और सोचता है कि राज्य वस्तुओं का उत्पादन और वितरण कर नये समाज की रचना कर सकता है। गांधीवाद स्वावलम्बन का पक्षपाती है। वह

विकेन्द्रीकरण बड़े बड़े उद्योगों की समाप्ति और गृह उद्योगों के पक्ष में है। गांधीवाद राज्य को हिंसा और दमन का प्रतीक मानता है इसलिये गांधीवाद के अनुसार नये समाज की रचना व्यक्ति के स्वावलम्बी होने और वस्तुओं का त्याग के साथ उपभोग करने के द्वारा ही हो सकता है।

साम्यवादी विचारों से गांधीवाद बिलकुल ही मेल नहीं खाता क्योंकि,

(१) मार्क्सवाद भौतिकवादी है, और पूरी सामाजिक व्यवस्था को आर्थिक होने पर अवलम्बित मानता है जबकि गांधीवाद पूर्ण आध्यात्मवादी है।

(२) मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है, और हिंसात्मक क्रांति द्वारा पूंजीवाद का नाश कर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित कर नये समाज को बनाना चाहता है। गांधीवाद हिंसा का विरोधी है और पूंजीवादी व्यवस्था को पूंजीवादियों के सहयोग से पूंजीपतियों को ट्रस्टी बनाकर समाप्त करना चाहता है। वह वर्ग संघर्ष में नहीं वर्ग समन्वय में विश्वास करता है। इसलिये जहाँ समाजवाद विध्वंसात्मक एवं विनाशात्मक है वहाँ गांधीवाद समन्वयात्मक एवं रचनात्मक है। वह अहिंसा में आत्मबल में विश्वास करता है, हिंसा में नहीं। इसलिये साम्यवाद की अपेक्षा वह अधिक स्वाभाविक है क्योंकि वह सबमें भ्रातृ प्रेम पैदा करना चाहता है। एक दृष्टि से हम गांधी वाद को समाजवाद की तुलना में अधिक क्रांतिकारी कह सकते हैं। क्योंकि यह वर्तमान समाज के हिंसात्मक आधार को बदलना चाहता है। गांधीवाद के साधन भी अधिक क्रांतिकारी हैं।

मार्क्सवाद के विपरीत गांधीवाद आध्यात्मिक है हृदय परिवर्तन से वर्ग संघर्ष समाप्त करता है हिंसा के स्थान पर आत्मबल में विश्वास रखता है।

मार्क्सवाद से अधिक क्रांतिकारी क्योंकि समाज का हिंसात्मक आधार बदलने का इच्छुक।

डा० सीतारमैया के शब्दों में "समाजवाद अधिकांश लोगों के लिये एक वृत्ति है किन्तु गांधीवाद कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है, गांधीवाद प्रत्येक व्यक्ति को उसका कर्तव्य बताता है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है। गांधीवाद मानव सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है।"

(१२)
राजदर्शन में स्थान

राजदर्शन के इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान निर्धारित करना कुछ कठिन है क्योंकि अन्य दार्शनिकों की भाँति महात्मा गांधी ने न तो हमें कोई

तत्व दर्शन ही दिया और न किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। वे कर्मयोगी व्यावहारिक पुरुष थे और उन्हें लक्ष्य की कोई विशेष चिन्ता न थी। जीवन को प्रयोग का दास समझने के कारण वे अपनी सामने की परिस्थिति से अधिक दिलचस्पी रखते थे। अन्तिम लक्ष्य की उन्होंने चिन्ता नहीं की। इसलिये अहिंसात्मक राज्य और समाज का क्या स्वरूप होगा यह विषय उनके मनोनुकूल न था। वे स्वयं कहते थे कि मैं केवल अगले कदम को देखता हूँ भविष्य की बात नहीं सोचता। इस कारण अन्य राजनीतिक दार्शनिकों से भिन्न उन्होंने साधन का सिद्धान्त दिया साध्य का नहीं। उनके दर्शन का मुख्य विषय है अहिंसा और सत्याग्रह जो सामाजिक परिवर्तन के साधन मात्र हैं। परन्तु गांधी जी की विशेषता इसी बात में है और इसी से ही उनका स्थान राजनीति दर्शन के इतिहास में महत्वपूर्ण है कि अब तक के उपेक्षित विषय सामाजिक परिवर्तन के साधनों पर उन्होंने सर्वप्रथम पूर्ण रूप से विचार किया।

अन्य दार्शनिकों से तुलना करने पर महात्मा गांधी के राजनैतिक विचार ग्रीन के बहुत निकट हैं परन्तु ग्रीन जहाँ दार्शनिक और चिन्तनशील व्यक्ति है और उसे व्यवहारिक राजनीति में भाग लेने का बहुत कम अवसर मिला वहाँ गांधी प्रधानतः व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ही थे। तत्व दर्शन के आचार्य होने के कारण ग्रीन के नैतिक सिद्धान्त तत्व दर्शन से संबंधित थे परन्तु महात्मा गांधी ने नैतिक सिद्धान्तों को तत्व दर्शन से संबंधित करने की चेष्टा नहीं की वरन् हिन्दू समाज में मानी जाने वाली नैतिक धारणा को मान्यता देकर उन्हें व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की है।

ग्रीन की भांति महात्मा गांधी नैतिक जीवन को ही (व्यक्ति की आत्मानुभूति को ही) जीवन का लक्ष्य मानते हैं इसलिये ग्रीन की भांति ही महात्मा गांधी समाज और राज्य को व्यक्ति की नैतिक उन्नति का साधन मानते हैं। दोनों ही निरंकुश सत्ता के विरोधी हैं। ग्रीन और गांधी में सबसे अधिक अन्तर राज्य के विरोध अधिकार के संबंध में दिखाई देता है। ग्रीन भी गांधी जी की ही भांति अपूर्ण राज्य और दोषपूर्ण राज्य में अन्तर मानता है और वह विद्रोह को जहाँ अनुचित मानता है वहाँ बल द्वारा शासित रूप को राज्य का नाम नहीं देता क्योंकि वह राज्य व्यक्ति की इच्छा पर आधारित नहीं है। दोनों की दृष्टि से अच्छा राज्य वह है जिसके नागरिकों में सामान्य हित या सर्वोदय की भावना हो।

जब राज्य मनुष्य के नैतिक विकास में बाधक होता है तो ग्रीन और गांधी दोनों ही व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देते हैं। परन्तु इस क्षेत्र में गांधी जी ग्रीन से बहुत आगे बढ़ गये हैं। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति उन नैतिक अधिकारों की माँग कर सकता है जिन्हें राज्य मान्यता न देता हो पर (१) उससे सामान्य हित की पूर्ति होती हो और (२) अधिकांश लोग इस प्रकार के अधिकार की माँग करते हों। केवल ऐसे राज्यों में जिनमें जनता की भावनायें पूर्ण रूप से कुचल दी गई हों अधिकांश लोगों में इन नैतिक हित का देखने की क्षमता न रह गई हो और अन्य लोग इस प्रकार की माँग न कर सके हों कोई नैतिक व्यक्ति द्वारा राज्य से नये अधिकारों की माँग कर सकता है। महात्मा गांधी ने ग्रीन द्वारा दिये अन्तिम अपवाद को ही नियम बनाया है उनके अनुसार सारे भारतवासियों का इतना नैतिक पतन हो गया था कि केवल एक व्यक्ति ही अपने आत्मबल से राज्य का विरोध कर सकता है और जनता का ध्यान नई माँगों के प्रति आकर्षित कर सकता है। वैसे अधिकांश अवसरों पर उन्होंने हड़ताल के द्वारा यह जानने की अवश्य कोशिश की कि जनता का कितना भाग उनकी माँग के साथ सहानुभूति कर रहा है। जहाँ ग्रीन केवल विशेष परिस्थितियों में ही एक व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है वहाँ गांधी जी के सिद्धान्त में केवल एक व्यक्ति ही सदैव राज्य का विरोध कर सकता है। इस प्रकार ग्रीन ने राज्य के विरोध का अधिकार जहाँ अधिकांश जनता की नैतिक भावना पर आधारित किया है वहाँ गांधी जी ने व्यक्ति की आत्मा पर। गांधी जी जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का विरोध करने लगे तो सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी इसलिये वे इस अधिकार को केवल उन्हीं व्यक्तियों को देते हैं जो अनुशासित हों जनता के नेता हों और जिनमें ऐसे विरोध करने की क्षमता हो।

ग्रीन ने राज्य के विरोध करने के अधिकार की केवल सैद्धान्तिक विवेचना की है और इस अधिकार की चर्चा ग्रीन के राजदर्शन का मुख्य विषय नहीं है। महात्मा गांधी जी का जीवन ही सभी प्रकार की बुराइयों का विरोध करने में व्यतीत हुआ था इसलिये उन्हें इस विरोध अधिकार का न केवल व्यावहारिक ज्ञान था वरन्, यह अधिकार उनके चिन्तन और कार्य का मुख्य विषय है। सत्याग्रह और अहिंसात्मक आन्दोलन ही उनके राजदर्शन के विषय हैं। इस प्रकार महात्मा गांधी सामाजिक परिवर्तन के साधनों के दार्शनिक हैं साध्य के नहीं। मार्क्स, हीगेल और अन्य कुछ दार्शनिकों ने भी

सामाजिक परिवर्तन को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया है परन्तु अहिंसात्मक ढंग और नैतिक बल द्वारा सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है यह महात्मा गांधी का राजनीति दर्शन को सबसे महत्वपूर्ण योगदान है।

मौरिस जान्स का कहना है कि महात्मा गांधी में हमें राजदर्शन देने के कुछ प्रयत्न मिलते हैं हमें इनमें राजनैतिक कार्यवाहियों के स्वरूप की कुछ चर्चा मिलती है, इस कार्यवाही और मनुष्य की नैतिक प्रकृति के बीच सबंध भी बताया गया है और राजनीति को परखने की कसौटी की भी कुछ रूपरेखा दी गई है। फिर भी इस दर्शन की अपनी कुछ सीमायें हैं। सर्व प्रथम सामान्य रूप से देखने पर इनमें न तो कोई विशेषता है और न मौलिकता। गांधीजी ने अपने विचारों को अपने अनुभव के आधार पर बिना किसी बाहरी सहायता के केवल अपने लिये कार्यान्वित किया है परन्तु उन्हें जो प्राप्त हुआ उसमें पूरे राजनैतिक दर्शन की दृष्टि से निश्चितता और क्रमबद्धता का अभाव है। महात्मा गांधी के जिन भागों में उनकी सूक्ष्म दृष्टि पाई जाती है वह केवल सीमित विरोध करने की राजनीति में। विरोध की राजनीति इतनी सीमित है कि इस पर हम पूरे राजनीति दर्शन का ढांचा सन्तोष जनक रीति से खड़ा नहीं कर सकते।

योगदान

व्यावहारिक होने के कारण परिवर्तन के साधनों के दार्शनिक लक्ष्य के नहीं।

सामान्य हित की सामान्य चेतना (ग्रीन) सर्वोदय की भावना है पर ग्रीन के तरह दर्शन और उसकी क्रमबद्धता का अभाव।

ग्रीन राज्य का विरोध सामान्य चेतना पर आधारित करता है, गांधी जी व्यक्ति की आत्मा पर, ग्रीन का अपवाद गांधी जी का नियम है।

अहिंसा और नैतिक बल से परि दर्शन अथवा मौलिक योगदान पर विरोध राजनीति के आधार पर ही राजनीतिकदार्शनिक नहीं कहे जा सकते।